वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० १ जनवरी-मार्च १९८७

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अनेकान्त-महिमा	१
२.	जैन परम्परा में भगवान राम एवं राम-कथा का महत्त्व—डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	हिन्दी जैन महाकाव्यों में शृंगार रस —डा० कु० इन्दुराय जैन, लखनऊ	४
४.	मूलाचार और उसकी आचार-वृत्ति —सिद्धान्तशास्त्री प० श्री बालचन्द्र जैन	६
५.	सिरसा से प्राप्त जैन मूर्तिया —श्री विद्या सागर शुक्ल	१७
६.	सिद्धा ण जीवा —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	१९
७.	जरा सोचिए मे :	
	१. अपरिग्रह की जीवित मूर्तियो की रक्षा	२९
	२. विद्वानो की रक्षा और वृद्धि	३०
	३. तीर्थ-क्षेत्र रक्षा	३१
	४. आविष्कारों का उपयोग —सम्पादकीय	३२

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विनयावनत-विनय

इस अंक में धवला के **'सिद्धा ण जीवा'** के पोषण में हमारा लेख है। प्रस्तुत विषय में अब हम और क्या लिखें ? फिलहाल जितना आवश्यक समझा लिख दिया। अब तो धवलानुकूल किसी निष्कर्ष पर पहुंचने-पहुंचाने के लिए इसे विद्वानों को स्वयं ही आगे बढ़ाना-बढ़वाना है। विषय पेचीदा तो है ही—इसमें दो रायें नहीं। हाँ, हम यह संकेत और दे दें कि हम कई मनीषियों की इस बात से भी सहमत नहीं कि—'सिद्धों मे जीवत्व उपचार से है।' क्योंकि आचार्य को उपचार में सत्यपने का अभाव इष्ट है और हम सिद्धों में असत्यपने का आरोप करना इष्ट नहीं समझते। आचार्य ने स्पष्ट ही कह दिया है—'उवयारस्स सच्चत्ताभावादो।'—

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि लोग संस्कार-वश आगम के बहुत से कथनों को अपनी सही या गलत धारणाओं की ओर मोड़ते रहे हैं। सिद्धों के स्वाभाविक शुद्ध चेतनत्व जैसे भाव की उपेक्षा कर, उसे जीवत्व जैसे औदयिक भाव की मान्यता में बदल लेना और जीव के पारिणामिक भाव का अर्थ न समझना, या उसे चेतन का भाव मान लेना गलत धारणाओं का ही परिणाम है। वास्तव में तो धवला की मान्यता में चेतनत्व और जीवत्व दोनों में संज्ञा और गुणों की अपेक्षा से भेद है—चेतनसंज्ञा और गुण दोनों व्यापक हैं जो संसारी और सिद्ध सभी आत्माओं में हैं और जीवत्व संज्ञा और गुण दोनों व्याप्य हैं जो मात्र संसारियों में हैं। कृपया विचारिए और पत्राचार द्वारा संशोधन के लिए निर्देश दीजिए कि क्या, जीवत्व और सिद्धत्व ये दोनो चेतन की पृथक्-पृथक् अशुद्ध और शुद्ध दो स्वतन्त्र पर्याएं नहीं ?

हमारे उक्त लेख के बाद भी जिन्हें धवला के 'सिद्धा ण जीवा' और 'जीवभावो औदइओ' जैसे कथनों मे विरोध दिखे या शंकाएँ हों वे उनके समाधान का बोझा हम पर न डाल, जैन-आगमो में गोता लगाएँ, बुद्धि का व्यायाम करें, उन्हें स्वयं ही समाधान मिलेगा—उनकी विरोध-भावना विलय होगी—हम उन्हें तुष्ट करने या किन्ही प्रश्नों के उत्तर देने का भार लेने को तैयार नही। यतः—कथन आचार्यों के है। हमें तो ग्रन्थराज और आचार्यों के वाक्य प्रमाण है और इसीलिए उनको समन्वयपूर्वक समझने की कोशिश कर रहे है। यदि किन्ही को आगम के उक्त कथन पर श्रद्धा न हो और वे सिद्ध को जीव-सज्ञक सिद्ध करने के भाव बनाएँ तो हम क्या करे ? हम तो आचार्य मन्तव्य के पोषण में श्रद्धापूर्वक जैसा लिख सके लिख दिया। जँचे तो मानें, हमारा आग्रह नही।

वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज
नई दिल्ली—२

विनीत :
पद्मचन्द्र शास्त्री
संपादक–अनेकान्त

ओम् अर्हम्

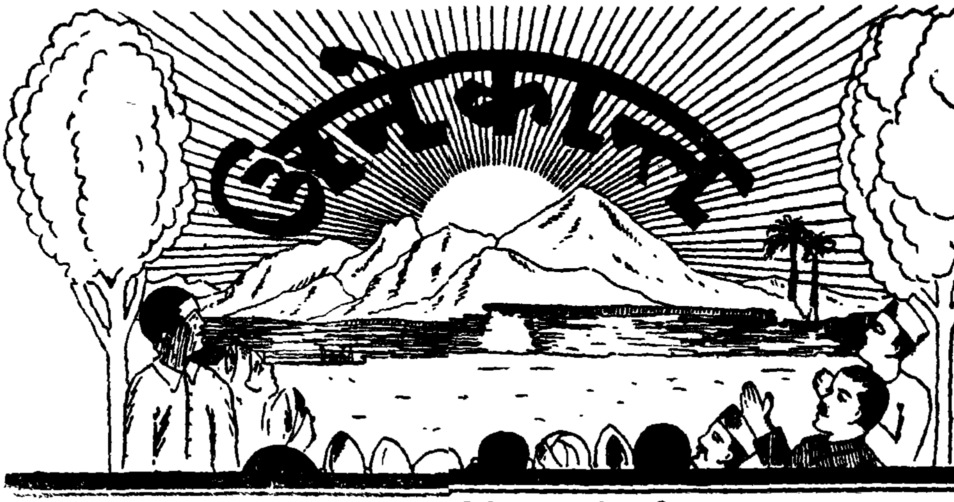

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४० किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१३, वि० सं० २०४३ | जनवरी-मार्च १९८७

अनेकान्त-महिमा

अनन्त धर्मणस्तत्त्वंपश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥
जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥'
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥'
भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥'
परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण ।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत् कल्याण ॥
'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति – जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे– हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धांत के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूँ।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप, सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिन के (अनेकान्त गर्भित बचन के भद्र (कल्याण) हों। □□

जैन परम्परा में भगवान राम एवं राम-कथा का महत्व

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

इक्ष्वाकु की सन्तति में उत्पन्न सूर्यवंशी रघुकुल-तिलक दाशरथी अयोध्यापति मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचद्र का पुण्य चरित्र अखिल भारतीय जनता में चिरकाल से अत्यन्त लोकप्रिय एवं व्यापक प्रभाव वाला रहता आया है। ब्राह्मणीय पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार उनका जन्म त्रेता-युग में हुआ था, और दशावतारी परिकल्पना मे उन्हें भगवान विष्णु का सातवां अवतार मान्य किया गया है। अनुमानतः ईसा पूर्व द्वितीय शती के लगभग रचित संस्कृत भाषा के आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण मे रामकथा सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में प्रकाश में आई तदनन्तर अन्य अनेक छोटी-बड़ी तद्विषयक रचनाएँ उदय मे आती गयीं। किन्तु ईश्वरावतार के रूप मे भगवान राम की भक्ति-पूजा-उपासना का प्रचार मध्यकाल मे ही हुआ। ब्राह्मण परम्परा में शिवोपासना तो ईसा पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी, विष्णु की उपासना गुप्तकाल मे भागवत धर्म के उदय के साथ प्रारम्भ हुई। वैसे १२वी ई० के प्रारम्भ में वैष्णव सम्प्रदाय के सर्वोपरि पुरस्कर्ता रामानुजाचार्य द्वारा ही वैष्णव धर्म का सुव्यवस्थित प्रचार प्रसार प्रारम्भ हुआ। उन्ही की शिष्य परम्परा मे उत्पन्न रामानन्द स्वामी ने वैष्णव सम्प्रदाय की राम-भक्ति शाखा का प्रचार-प्रसार किया, जिससे भगवान राम की सगुण भक्ति को प्रभूत उत्कर्ष प्राप्त हुआ और १६वी शती ई० के अन्त के लगभग इसी रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी तुलसीदास द्वारा हिन्दी की अवधी बोली मे रचित रामचरित मानस ने तो भगवान राम की सगुण पूजा-उपासना की सुदृढ़ एवं व्यापक नीव जमा दी। प्रायः उसी युग मे हिन्दी तथा बंगला, गुजराती मराठी आदि अन्य जन जन भाषाओं मे भी अनेक रामकथायें लिखी गयी। राम-साहित्य का वैपुल्य एव वैविध्य उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता गया। रामकथा की लोकप्रियता इसी तथ्य से प्रकट है कि भारतीय संस्कृति से प्रभावित बृहत्तर भारत के अग लंका, जावा, सुमात्रा, स्याम, ब्रर्मा, चम्पा काम्बुल आदि पूर्वीय देशों एवं द्वीपों में भी रामकथा के अपने-अपने संस्करण प्रचलित हो गए, और फारसी, तुर्की आदि मध्य एशियाई भाषाओं मे भी रामकथा के अनुवाद आदि हो गए। आधुनिक युग मे तो कामिल बुल्के प्रभृति कई पाश्चात्य विद्वानो ने भारतवर्ष मे रह कर तथा कई अन्यो ने विभिन्न यूरोपीय देशों मे रामकथा या राम-साहित्य की प्रभूत गवेषणा की है।

अवश्य ही रामभक्ति और रामकथा का व्यापक प्रचार-प्रसार ब्राह्मणीय परम्परा के वैष्णव हिन्दुओ मे, और सो भी मध्यकाल मे ही, विशेष हुआ। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि राम कथा का पुण्य चरित्र उन्ही की बपौती रहा या उन्ही तक सीमित रहा। भारतीय संस्कृति सुदूर इतिहासातीत काल से द्विविध सहोदरा धाराओं में प्रवाहित होती आई है, जिनमे से एक तो आर्हत, व्रात्य श्रमण या निर्ग्रन्थ कहलायी और जिनका प्रतिनिधित्व जैन परम्परा करती है। ईसा पूर्व छठी शती मे उक्त श्रमण धारा में से कई अन्य शाखायें भी फूट निकली थीं, यथा बौद्ध, आजीविक आदि। अन्य शाखाएँ तो कालांतर मे समाप्त हो गयी। किन्तु तीर्थंकर वर्धमान महावीर (ई० पू० ५९९-५२७) के कनिष्ठ समकालीन तथागत गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण रहा, उसका व्यापक प्रचार भी हुआ, और लंका, बर्मा, इंडोनेशिया, स्याम, तिब्बत, चीन, जापान आदि विदेशो मे अभी तक भी है। यद्यपि स्वयं महादेश भारतवर्ष से वह मध्यकाल के प्रारम्भ के लगभग प्रायः तिरोहित हो गया था, तथापि उसके प्राचीन धार्मिक साहित्यक की जातक-कथामाला मे दशरथ जातक नामक रामकथा का बौद्ध रूप उपलब्ध है। वह अति संक्षिप्त भी है, और ब्राह्मण तथा जैन रामकथाओ से अनेक अशो मे भिन्न भी हैं। उसके अतिरिक्त समग्र बौद्ध साहित्य मे शायद ही कोई अन्य रचना रामकथा विषयक है।

जैन परम्परा की बात इससे सर्वथा भिन्न है। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार भारत-क्षेत्र के आर्य खण्ड के मध्य-देश में मानवी सभ्यता एवं कर्म युग के आद्य पुरस्कर्ता प्रथम तीर्थंकर आदिपुरुष ऋषभदेव थे। ब्राह्मणीय परम्परा की २४ अवतारों की परिकल्पना में भी इन नाभेय ऋषभ-

देव को भगवान विष्णु का सातवां अवतार मान्य किया गया है। ऋषभदेव का एक नाम इक्ष्वाकु भी था, जिसके कारण उनकी सन्तति इक्ष्वाकु वंशी कहलाई। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती सर्वप्रथम सार्वभौम सम्राट हुए। और उन्हीं के नाम से यह महादेश भारतवर्ष कहलाया। भरत के ज्येष्ठ पुत्र एव उत्तराधिकारी अर्ककीर्ति थे जिनसे यह कुल-परम्परा आगे सूर्यवंशी भी कहलाने लगी। इसी वंश परम्परा में सगर, भगीरथ, रघु, दशरथ आदि अनेक प्रतापी नरेश हुए, जिन सबकी राजधानी भगवान ऋषभ एवं भरत-चक्री की जन्म एवं लीला भूमि महानगरी अयोध्या (अपर नाम साकेत, विनीता, कोसलपुरी आदि) रहती रही। बीसवे तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ मे उत्पन्न अयोध्यापति महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र महाराज रामचन्द्र हुए। समस्त रामायणो या रामकथाओ के प्रधान नायक यह श्री रामचन्द्र ही हैं। जैन परम्परा में उनका अपरनाम 'पद्म' विशेषकर उनके मुनिजीवन एवं तपश्चरण काल में विशेष प्रसिद्ध रहा, अतएव जैन रामकथायें बहुधा पद्मचरित या पद्मपुराण नाम से प्रसिद्ध हुई। राम की गणना जैन परम्परा मे सर्वोपरि महत्व के त्रेसठ-शलाकापुरुषो में की गई है। वह 'बलभद्र' पदधारी चरम-शरीरी-तद्भव मोक्षगामी महापुरुष थे। जीवन की सध्या में उन्होंने ससार-देह-भोगों से विरक्त होकर, राज्य पाट पुत्रो को सौपकर, सर्वथा निस्सग होकर, वन की राह ली और निर्ग्रन्थ मुनि के रूप में तपस्या की। फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त करके वह अर्हन्त परमात्मा हो गए, और अन्त में मोक्ष या निर्वाण लाभ करके सिद्ध परमात्मा बन गए। उनकी धर्मपत्नी जनक सुता वैदेही सीता की गणना जैन परम्परा की सर्वोपरि सोलह महासतियो में की जाती है। भगवान राम से सम्बद्ध भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, लव, कुश, हनुमान, सुग्रीव, बालि, रावण आदि अन्य अनेक व्यक्ति भी जैनो के पुराण प्रसिद्ध महत्त्व के रहे हैं। अतः जैन परम्परा में रामकथा की अपनी एक स्वतन्त्र धारा स्वयं राम के युग से प्रवाहित रहती आयी।

जिस प्रकार ब्राह्मण पम्परा में रामकथा का मूलाधार मुख्यतया बाल्मीकीय रामायण है और बौद्ध परम्परा में दशरथ-जातक, जैन पम्परा में उसका मूल-स्रोत ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों की वाणी पर आधारित तथा परम्परया प्रवाहित श्रुतागम था। अन्ततः अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति ने, ई० पू० छठी शती के मध्य के लगभग, उक्त श्रुतागम को अन्तिम रूप से ग्रंथित एवं वर्गीकृत किया और उसे द्वादशांग-श्रुत का रूप दिया। इन अंगों में से बारहवें—दृष्टि प्रवादांग का तृतीय विभाग प्रथमानुयोग अपरनाम धर्म कथानुयोग था, जिसमें त्रेसठ-शलाकापुरुषों तथा अन्य अनेक पुराणप्रसिद्ध पुरुषों एव महिलाओं के चरित्र वर्णित थे, और अन्य अनेक पुराणैतिहासिक अनुश्रुतियां निबद्ध थीं। ये वर्णन अपेक्षाकृत सक्षिप्त एव अल्पकाय थे। अंतिम श्रुत केवलि आचार्य भद्रबाहु प्रथम (ई० पू० ३६४-३६५) पर्यन्त प्रथमानुयोग का यह ज्ञान अक्षुण्ण रहा, किन्तु तदनन्तर उसमे शनैः शनैः ह्रास होने लगा, और उसका सारभाग 'गाथानिबद्ध नामावलियो' एवं 'कथासूत्रो' के रूप में ही प्रवाहित होता रहा। इन्ही दोनों स्रोतों के तथा परम्परा मे प्राप्त तत्सम्बन्धी अन्य मौखिक अनुश्रुतियों के आधार पर कालान्तर में जैन पुराणों, चरित्र-ग्रन्थों एवं तदाधारित अन्य कृतियो की प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, हिन्दी, गुजराती मराठी आदि विभिन्न भाषाओं तथा विभिन्न शैलियों में सुविज्ञ आचार्यों, कुशल कवियो एवं साहित्यकारों द्वारा रचना हुई। परिणामस्वरूप अपने वैपुल्य एव वैविध्य की दृष्टि से जैन रामकथा साहित्य को भारतीय रामकथा राम-कथा साहित्य मे स्पृहणीय स्थान प्राप्त हुआ।

यह ध्यातव्य है कि जैन परम्परा में रामकथा की दो स्पष्ट धारायें प्राप्त होती हैं। प्रधान पात्रों के नामादि, प्रमुख घटनाओं, स्थूल क्रमादि के विषय मे विशेष अन्तर न होते हुये भी दोनो मे परस्पर अनेक अन्तर भी है, जो उक्त धाराओं के प्रतिनिधि ग्रंथों के अवलोकन तथा तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हैं। प्रकाशित ग्रंथो के सम्पादकों तथा कई आधुनिक शोधार्थियों ने अपने शोध प्रबंधों में उन पर उचित प्रकाश भी डाला है। प्रथम धारा का प्रतिनिधित्व विमलार्य का प्राकृत पउम चरिय (महावीर निर्वाण स० ५३०=सन् ३ ई०) करता है, जो बाल्मीकीय रामायण के प्रकाशन-प्रचार के संभवतया एक-

(शेष पृ० ४ पर)

हिन्दी जैन महाकाव्यों में शृंगार रस

□ डा० इन्दुराय

काव्य का प्रयोजन उपदेश आदि कुछ भी हो उसका असाधारण तत्व 'रस' ही है। रसोत्पत्ति का स्थान मानव हृदय है और रसावस्था का सम्बन्ध अतीन्द्रिय जगत से है। काव्य से निरतिशय सुखास्वादरूप आनन्द की उपलब्धि का साधक तत्व 'रस' ही माना जाता है। जैन साहित्य में अन्तर्मुखी प्रवृत्तियो को अथवा आत्मन्मुख पुरुषार्थ को 'रस' कहा गया है। डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री के शब्दों में "जब तक आत्मानुभूति का रस नहीं छलकता रसमयता नही आती। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव जीव के मानसिक, कायिक एवं वाचिक विकार हैं स्वभाव नहीं अतः रसों का वास्तविक उद्भव इन विकारों के दूर होने पर ही हो सकता है।"[1] इस भांति तो लौकिक रूप में रस 'विरस' है परन्तु सामान्य अर्थों में, साहित्य में 'रस' की प्रतिष्ठा भिन्न रूप में हुयी। यहाँ यह एक विशिष्ट एवं पारिभाषिक अर्थ का बोधक शब्द है। काव्य शास्त्र में काव्य के अध्ययन, श्रवण एवं रूपक दर्शन से उद्भूत आनन्द को रस कहा गया है। 'रस्यते इति रस:' के अनुरूप रस मे आस्वादनीयता का गुण प्रमुख है और इस आस्वाद का सम्बन्ध आत्मा तथा उसकी अनुभूति से है जिह्वा से नहीं।

वस्तुत: भावाभिव्यक्ति ही 'रस' है। काव्य का पाठक भावो की विस्तार दशा मे ही रस का आस्वादन करता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था को रसदशा कहते हैं उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा कहा जा सकता है। ऐसी मान्यता है कि 'रस' का साहित्य के सन्दर्भ मे सर्वप्रथम प्रयोग भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में हुआ। उनके अनुसार "विभानुभाव व्यभिचारी-संयोगाद्रसनिष्पत्ति." (यह सूत्र भी लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित है)। इसी सूत्र के आधार पर 'साहित्य दर्पणकार', विश्वनाथ ने व्याख्या की कि सहृदय हृदय में (वासना रूप में विराजमान) इत्यादि स्थायी भाव जब (कवि वर्णित) विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा व्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद या आनन्द रूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जाया करते हैं। परन्तु अनुभाव विभाव आदि के सम्मिलन से किस प्रकार रस की निष्पत्ति है इस विषय पर शंकुक, भटलोल्लट, अभिनव गुप्त, कुन्तक विश्वनाथ एवं चिन्तामणि आदि आचार्यों ने अपने-अपने पृथक सिद्धान्त प्रतिपादित किए है। उनका वर्णन यहाँ प्रासगिक नहीं है।

काव्य मे रसो की संख्या का प्रश्न भी अब विवादास्पद हो गया है। भरत मुनि ने इस प्रकरण में आठ स्थायी भावों के अनुकूल आठ रसो (शृगार, हास्य, वीर करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स एव अद्भुत) का उल्लेख किया है परन्तु काव्यशास्त्रियों ने विचार किया कि आलम्बन भेद से एक ही स्थायी भाव एकाधिक रसो की निष्पति में समर्थ हो सकता है अतएव कालांतर में 'रति' स्थायी भाव से उत्पन्न वात्सल्य एवं भक्ति रस को प्रतिष्ठा मिली। शान्त को भी स्वतंत्र रस माना गया। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय शान्तरस की भित्ती पर ही प्रतिष्ठित है। वस्तुत: वर्तमान मनीषा रसों को संख्याबद्ध करने के ही पक्ष मे नहीं है।[2]

सारत: रसभावना ही काव्य का साध्य है और अभिव्यजना उसका साधना जिसमे समुचित शब्दार्थ योजना का औचित्य या इतिकर्त्तव्यता स्वभावत: सिद्ध है। इस साध्य (रस निष्पत्ति) का महत्व महाकाव्यों में और भी व्यापक, वस्तुत: अनिवार्य-सा हो जाता है। महाकाव्यों में उत्पाद्य, अधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं तथा विभिन्न

(पृ० ३ का शेषांश)

डेढ़ शती भीतर ही रचा गया और कथ्य मे उसके बहुत कुछ निकट है। इसी धारा के दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ रविषेण का संस्कृत पद्मचरित या पद्मपुराण (६७६ ई०), जो किन्हीं अनुत्तरवाग्मी कीतिधर की अद्यावधि अनुपलब्ध कृति के आधार पर रचा गया था, तथा महाकवि स्वयंभू की अपभ्रंश रामायण (लगभग ८०० ई०) है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्ठ-शलाका-पुरुषचरित (ल० ११५० ई०) में भी प्राय: इसी धारा को अपनाया। उत्तरवर्ती जैन रामकथाकारों में भी यही धारा अधिक लोकप्रिय रही। दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व आचार्य गुणभद्र की उत्तरपुराण (ल० ८५० ई०) करती है। दसवीं शती ई० पुष्पदन्त की अप० महापुराण एवं चामुण्डराय की कन्नड़ महापुराण में और मल्लिषेण आदि की परवर्ती महापुराणों में प्राय: इसी धारा की कथा का अनुसरण किया गया है। □□

रुचि एवं स्वभाव वाले पात्रों की अवस्थिति के कारण रसों के समावेश की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। तदपि रस का सफल निर्वहण अत्यंत कठिन कार्य है क्योंकि प्रबन्धकार को सम्बन्ध निर्वाह, वस्तुगति, घटनाक्रम, चरित्र योजना, औचित्य, उद्देश्य आदि कितने ही बिन्दुओं पर दृष्टि रखनी पड़ती है।

समीक्ष्य हिन्दी जैन महाकाव्यों=(पं० अनूप शर्मा कृत 'वर्द्धमान'; धीरेन्द्रप्रसाद जैन रचित 'तीर्थंकर भगवान महावीर' एवं 'पार्श्व प्रभाकर'; धन्यकुमार जैन 'सुधेश रचित' 'परम ज्योति महावीर'; डा० छैलबिहारी गुप्त रचित 'तीर्थंकर महावीर', रघुवीर शरण 'मित्र' रचित' 'वीरायन' तथा अभयकुमार यौधेय रचित 'श्रमण भगवान महावीर चरित्र') में रस आयोजन का कार्य अत्यंत कठिन हो गया है क्योंकि सभी काव्यो के नायक तीर्थंकर हैं जो स्वभाव से अरागी होते हैं तथा उनके समग्र जीवन में भी रागात्मक घटनाओं का घात-प्रतिघात नगण्य होता है। अतएव तीर्थंकर के जीवन वृत्त पर आधारित प्रबन्ध मे शान्त, भक्ति करुण तथा वीर रसों का समायोजन तो सम्भावित है किन्तु सर्वाधिक दुरूह है, दुर्वह है शृंगार रस की निष्पत्ति। तदपि आलोच्य कृतियों मे शृंगार रस के परिपाक का प्रयास कवियों ने अपनी-अपनी दृष्टि-भावना अनुरूप किया है।

मानव जीवन में सबसे अधिक व्यापक, उत्तेजक, प्रभाव एवं सक्रिय वृत्ति 'रति' है। रति शृंगार रस का स्थायी भाव है। महाकवि बनारसी दास ने शृंगार रस का स्थायी भाव 'शोभा' माना है जो बहुत उपयुक्त नही प्रतीत होता क्योंकि शोभा गुण या विशेषण है स्थायी भाव नहीं। शृंगार रस के दो भेद माने गए हैं—सयोग तथा वियोग (या विप्रलम्भ)। नायक नायिका के परस्पर अनुकूल दर्शन, स्पर्श, आलिंगन चुम्बन, समागम आदि व्यवहार को सयोग कहते हैं इसके विपरीत पंचेन्द्रियो के सम्बन्धभाव को वियोग शृंगार कहते हैं। वियोग केवल समागम अभाव की दशा नहीं मिलन के अभाव की भी दशा है। विप्रलम्भ शृंगार के पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण चार भेद तथा प्रत्येक के उपप्रभेद भी हैं। शृंगार रस का महत्व इस दृष्टि या लक्ष्य से स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत प्रायः सभी संचारी ,भाव स्थायी भाव अनेकों अनुभाव, सात्विक भाव, काम की विभिन्न अवस्थाएं, नायक नायिका भेद, दूती या सखी भेद आदि समाविष्ट हो जाते हैं। शृंगार ही एक-मात्र ऐसा रस है जो उभयनिष्ठ है अर्थात् जिसमें आश्रय और आलम्बन एक दूसरे को उद्दीप्त करते है तथा मिश्र भाव से घनिष्ठ भी हैं।

समीक्ष्य महाकाव्यों में संयोग शृंगार रस की व्यंजना मुख्यतः तीन (आश्रय) माध्यमो से हुयी है। प्रथम तीर्थंकर के माता-पिता के अनुराग या पारस्परिक प्रणय व्यापार वर्णन में दूसरी, वर्धमान एव यशोदा के सम्मिलन वर्णन में तथा तीसरी अप्सराओं द्वारा नायक की साधना में उपसर्ग उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रदर्शित काम चेष्टाओं के चित्रण मे। वियोग शृंगार रस के स्थल आलोच्य महाकाव्यों में अत्यल्प है। विभिन्न प्रबन्धो मे शृंगार रस—आयोजन का स्वरूप निम्नलिखित है।

'वर्द्धमान'—'प० अनूप शर्मा रचित इस महाकाव्य के नायक वर्द्धमान महावीर हैं। वीतरागी तीर्थंकर के जीवन में अनुराग का स्थान कहाँ? वर्द्धमान के हृदय का समस्त राग (रति) मुक्ति वधू के वरण को व्यग्र है किसी लौकिक रमणी की प्राप्ति को उद्विग्न नही अतः जहाँ तक नायक के माध्यम से शृंगार रस व्यजना का प्रश्न है कवि ने, वर्द्धमान के स्वप्न मे 'दिव्य विवाह' की अवतारणा कर दी है।' इस सन्दर्भ मे डा० प्रेमनारायण टण्डन का मत है "गेह त्याग के बाद वर्द्धमान का जीवन इतना नीरस है कि वह काव्यका अंग नहीं बन पाता, महाकवि ने विस्तृत दर्शन-मरुस्थल में मुक्ति विवाह के रूप में एक रम्य निकुंज की रचना कर दी है।'[४] तदपि यह प्रसग रसोद्रेक मे सक्षम है।

महाकाव्यकार ने नायक के जीवन मे रागात्मक न्यूनता को राजदम्पति (वर्द्धमान के माता-पिता) के प्रेमालाप तथा प्रणयकेलि चित्रण द्वारा दूर किया है। कुल १७ सर्गों वाले इस महाकाव्य के प्रारम्भिक सात सर्गों में कवि ने केवल सिद्धार्थ त्रिशला के पारस्परिक अनुराग, स्नेहाकर्षण व प्रेम भाव का विशद-व्यापक वर्णन किया है। नवयौवना पत्नी (त्रिशला) की वल्लरी के समान कोमल देहयष्टि मृणाल जैसे सुडौल हस्त, श्रीफल जैसे पुष्ट उरोज, पिक कूजन सम मधुर वाणी मराली जैसी चाल, मृगी समान सुन्दर नेत्र, बंकिम चितवन आदि सिद्धार्थ के चित्त को चचलोद्दीप्त करते रहते हैं तथा उस अनिंद्य रूप माधुरी

का आकण्ठ पान करने की इच्छा से ही वे सहस्रचक्षु एवं सहस्रबाहु होने की कामना करते है।[५] इन रसमय चित्रणो से आगे बढ़कर कवि राजदम्पति के समागम वर्णन में तन्मय हो गया है, जिसमे 'रस' परिपोष अवस्था तक पहुंच गया है अर्थात् 'रति भाव अपने अनुभावो सचारी भावों, विभावों आदि सभी अवयवो से सम्पुष्ट होकर रस निष्पत्ति मे पूर्णतः सफल है। आश्रय व आलम्बन ने एक दूसरे को समान रूप से उद्दीप्त करके रस सचार को और भी प्रभावी बना दिया है --

महीप के काम प्रसक्त व वय से
स-वेग तारल्य-युता हुयी प्रिया
वसत का स्पर्शहुआ कि आम्र का
शरीर सर्वांग प्रफुल्ल हो गया।

हुयी तभी सो भुज पजर-स्थिता
समाकुला वाल - कुरग - शावकी,
नितात शुक्लाम्बरा थी अभी अभी
निरवरा भूपति-भामिनी हुयी।[६]

प्रणय प्रसग मे ही अनूप जी ने आगे त्रिशला को 'नवार्जिका' व 'प्रशान्त साध्वी' समान चित्रित करके भाव के उदात्तीकरण का प्रयास किया है। कवि के शब्दों में—

उरोज निर्लेप बने मृगाक्षी के
सु-केश भी बन्धन हीन हो गए
मनोज्ञ कांची अति निर्गुणा हुई
'नवार्जिका' सी त्रिशला प्रतीत थी।

नितात नीरजन नेत्र थे तथा
विराग से ओष्ठ हुए पवित्र थे
महान निर्वेद हुआ रतान्त मे
प्रशान्त साध्वी सम थी नृपागना।[७]

उपर्युक्त वर्णनो के औचित्य (आश्रयगत) पर आक्षेप किए गए है।[८] वैसे भी विद्वानो ने शृगार रस की उच्चता स्वीकार करते हुए उसे शारीरिक वासना से पृथक रखने का उपदेश किया है। वियोग शृंगार के उदाहरण प्रस्तुत महाकाव्य मे दुर्लभ हैं।

परम ज्योति महावीर'—महाकाव्य में भी वियोग शृंगार नगण्य है। सयोग-शृंगार रस की व्यंजना 'सुधेश' जी ने नायक (महावीर) के माता-पिता के सम्मिलन वर्णन द्वारा की है। रसमय पावस ऋतु मे प्रकृति मे सर्वत्र व्याप्त प्रेम व्यापार सिद्धार्थ त्रिशला को भी कामोद्दीप्त करता है परन्तु कवि ने शील का निर्वाह करते हुए सम्भोग का चित्रण नही किया है केवल इतना "इसके आगे की केलि-कथा का वर्णन कवि को इष्ट नही।"[८] लिखकर संतुष्ट हो गए हैं। तदपि सुरति के अन्त मे त्रिशला के आह्लादित अगो का चित्रण करके अभीष्ट व्यजित कर दिया है—

क्रम से अवयव निश्चेष्ट हुए
तन्द्रा में मग्न हुयी रानी
पर नृप के लोचन सजग रहे
बन उस मोहक छवि के ध्यानी।[९]

इस भाति मर्यादित वर्णन द्वारा कवि ने रसमयता का सचार कर दिया है। महाकाव्यकार ने त्रिशला के 'व्रीडा' एवं 'लज्जा' भाव की भी सुन्दर अभिव्यक्ति की है।[१०] यद्यपि ये प्रसग रस निष्पत्ति मे सफल नही है परन्तु भाव व्यजना प्रभावकारी .. । इसी प्रकार लोकोत्तर सौन्दर्य के स्वामी राजकुमार महावीर से विवाह करने को समुत्सुक राज कन्याओ की, अभिलाषा' और 'पूर्वराग' व्यंजना[११] मे रस का सुमधुर आभास मिलता है।

'पार्श्व प्रभाकर'—कवि वीरेन्द्रप्रसाद जैन के इस प्रबन्ध काव्य मे शृगार रस का कही भी परिपाक नही हो सका है। आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत के पालक पार्श्वनाथ के जीवन में स्नेहरागात्मक सम्बन्धो का निदर्शन सम्भव न था अतः कवि ने कुमार पार्श्व के हृदय मे क्षणमात्र को उद्भूत होने वाली काम भावनाओ की मार्मिक अभिव्यक्ति कर दी है[१२] जिनमे शृगार का रसाभास अवश्य होता है। वस्तुत ये भाव शान्तरसावसित है। पार्श्वनाथ के जनक जननी के सयोगवर्णन मे रस निष्पत्ति की सम्भावना थी किन्तु कवि ने उस प्रेमानुराग को केवल दो पदो मे इस प्रकार वर्णित किया है जिसमे न भावोत्कर्ष हो सका है और न कलात्मक सौन्दर्य का समावेश।

'तीर्थंकर भगवान महावीर'—वीरेन्द्रप्रसाद जैन इस महाकाव्य मे भी शृगार रस के सफल आयोजन मे अक्षम रहे है। वस्तुत उनका अभीष्ट ही शान्त, करुण एवं वीर रस की निष्पत्ति रहा है।[१३] शृगार रसाभासी स्थल काव्य नायक (कुमार महावीर) की युवावस्था में पनपी काम भावनाओ तक सीमित हैं। यौवन के आगमन पर हृदय मे वासना भाव की जागृति सहज स्वाभाविक है। कुमार वर्द्धमान का मन-खग भी कल्पना के नभ मे मधुर-मदिर स्वप्न रजाता है, हृदय सुरीले राग सुनने की इच्छा

करता है[14] परन्तु ये भाव क्षणस्थायी है क्योंकि नायक ज्ञानी है, विवेकी है अत: रति भाव के प्रसरण से पूर्व ही उसे दमित-विजित कर लेता है। अतएव यहाँ शृगार रस का परिपोष नही हो पाया है। कवि ने राजकुमार महावीर के सौन्दर्य पर विमुग्ध तरुणियो के 'पूर्वराग' एव 'दिवा-स्वप्न' देखने की सहज प्रवृत्ति की मार्मिक भाव-यजना की है।[15] नवयौवना राजकुमारी यशोदा के मनोभाव चित्रण मे ही 'शृंगार' की अभिव्यक्ति मार्मिक एव प्रभावकारी बन पड़ी है। रूप गर्विता यशोदा, महावीर को पति रूप मे कामना करती है, मिलन से पूर्व हृदय पट पर प्रिय के विविध चित्र सवारती है और प्रिय के सौन्दर्य के दर्शनार्थ द्वार पर आ खड़ी होती है परन्तु वीतरागी वर्द्धमान नतदृग आगे बढ जाते हैं। अत: प्रिय की (आलम्बन) उदासीनता से रस की सपूर्ण निष्पत्ति नही हो पायी है। तदपि यह शृगार रसभासी मधुर प्रसग है।

तीर्थंकर महावीर—महाकाव्यकार डा० छैलबिहारी गुप्त ने प्रस्तुत कृति मे शृगार रस की नितात उपेक्षा की है। सिद्धार्थ त्रिसला की परस्पर प्रेम व्यजक पक्तियो मे इसका आभास तक नही होता। कवि ने नायक (वर्द्धमान महावीर) के यौवन काल का उल्लेख तक आवश्यक नही समझा है। बाल-काल क्रीडा वर्णन के तुरत पश्चात् वर्द्धमान को तीस वर्षीय तपस्वी रूप मे प्रस्तुत कर दिया है अत. शृगार रस निष्पत्ति का कही अवकाश ही नही है।

वीरायन—महाकवि रघुवीर शरण 'मित्र' ने शृगार रस आयोजन के अवसर सिद्धार्थ-त्रिशला के प्रणय विलास मे ढूढ़ लिए है। कवि ने त्रिशला के पूर्वराग की बड़ी मधुर व्यजना की है। राजा सिद्धार्थ से विवाह निश्चित होने का समाचार त्रिशला मे स्त्री सुलभ 'लज्जा' का सचार करता है तथा वे भविष्य के मीठे सपने सजोने लगती है। इन पूर्वानुभूतियों की शृगारिक अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है—

आग उठने लगी जो सुहाने लगी,
एक लज्जा हृदय को लुभाने लगी।
चाँदनी रात के सपने आने लगे,
आयु फल बात रस की बताने लगे॥[16]

जब आशाओं उमगो से भरपूर, नवयौवना त्रिशला का सिद्धार्थ से सयोग होता है तो प्रेमाधिक्य में दोनो सुध-बुध बिसरा देते है। आश्रय-आलम्बन का भेद मिट जाता है। मित्र जी ने पति-पत्नी समागम के व्यापक वर्णन का साहस किया है जिसमे विभाव-अनुभावादि के सपोषण से शृगार रस की सफल निष्पत्ति हुयी है—

राजा पीते थे रूपसोम, मद मे कम्पित था रोम रोम
उपवन के पत्ते हिलते थे, कलियों से भौरे मिलते थे
बुझ बुझ कर आग सुलगती थी, उलझन मे प्रिया उलझती थी
नारी ने सीखी नयी कला, मन उमड़ा तन उमड़ा मचला।[17]

उपर्युक्त के अतिरिक्त कामदेव दारा प्रेरित अपसराओं द्वारा साधरारत महावीर को तपस्याच्युत करने के प्रसग मे भी शृगार रस व्यजना प्रभावशाली है। साधक महावीर का सुदर्शन व्यक्तित्व अप्सराओ को अत्यधिक प्रेमोद्दीप्त करता है और वे काम चेष्टाए प्रदर्शित करती हुयी सयोग को व्याकुल हो उठती है[3]—परन्तु यहाँ भी आलम्बन (महावीर) की तटस्थता एवं आश्रय की पराजय से रस की सम्पूर्ण निष्पत्ति नही हुयी है।

'वीरायन' मे वियोग शृगार सम्बन्धी एक मार्मिक स्थल है। कलिंग नरेश जितशत्रु की अतीव सुन्दरी षोडशी कन्या यशोदा के हृदय मे कुमार महावीर से विवाह की उमग जागृत हो चुकी है। उसे मीठे मधुर स्वप्न देखने, अपनी कोमल कल्पना का ताना बाना बुनने और अभि-लाषाओं को साकार होते देखने का अवसर मिल पाता कि उससे पूर्व ही महावीर (प्रिय) के विरागी होकर साधना हेतु निष्क्रमण की सूचना मिल जाती है। कोमल हृदया यशोदा विरह व्यथा मे डूब जाती है। वह साधारण नारी की भाति मूर्छित नही होती पर प्रिय को उपालम्भ अवश्य देती है—

पहले चाह ब्याह की भर दी,
अब विरक्ति के गीत गा रहे।
तन मे मन मे आग लगाकर,
स्वामी! तुमको योग भा रहे॥[18]

लेकिन किंचित् विचार मथन के बाद प्रिय के महत्कार्य का ज्ञान हो जाने पर यशोदा 'जिस रूप मे भी सम्भव हो प्रिय की अनुगामिनी-सहयोगिनी बनना चाहती है। कवि ने विरहिणी यशोदा के भावोत्कर्ष की हृदयस्पर्शी अभि-व्यजना की है—

तुम तप करने को जाते हो, मैं बदली बनकर साथ चली।
तुमको न धूप लगने पाये, इसलिए धूप मैं स्वय जली॥

प्रभु तुम जिस पथ से जाओगे, मेरी काया छाया होगी।
मेरे प्रभु बाल ब्रह्मचारी, पूजा तेरी माया होगी ॥[९]

श्रमण भगवान महावीर चरित्र—महाकाव्यकार अरुणकुमार यौधेय ने कथ्य वर्णन में श्वेताम्बर परम्परा का अनुसरण किया है जो वर्द्धमान महावीर एवं यशोदा के विवाह का अनुमोदन करती है अतः प्रस्तुत प्रबन्ध मे शृंगार रस निष्पत्ति सम्बन्धी विशिष्टता यह है कि कवि ने महावीर को काम क्रीडा मे मग्न व्यंजित करने का साहस किया है। कुमार महावीर का यशोदा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वासना प्रेरित हो जाना पात्रगत औचित्य की दृष्टि से विवाद का विषय हो सकता है परन्तु यह मानवीय प्रवृत्ति के सहज अनुकूल है। प्रतिक्रियात्मक शैली में चित्रित महावीर-यशोदा समागम की व्यंजना रसोद्रेक में सक्षम है—

एक घड़ी ऐसी आयी थी जीवन मे,
सागर, नदिया से मिलने को था भागा ॥
टूट गयी डोर वासना जीत गयी,
मधुर मिलन मे घड़िया कितनी बीत गयी।
पंख लगाकर प्यार गगन मे विचर गया,
थी अनग की सत्ता जैसे जीत गयी।
काया मे काया के घुलने की बेला,
आलिंगित हो जैसे धरती और गगन।[१०]

बाद मे यौधेय जी ने महावीर के अन्तर्मन मे वासना और विवेक का सघर्ष तथा विवेक की विजय प्रदर्शित करके 'काम' को निर्वेदोन्मुख कर दिया है। साधक महावीर को तपस्या से डिगाने हेतु अप्सराओं द्वारा प्रदर्शित कामुक चेष्टाओं के चित्रण भी शृंगार रसाभासी स्थल हैं।[११] कवि ने राजा सिद्धार्थ एव रानी त्रिशला के प्रेमपूर्ण मिलन का जो वर्णन किया है वह अत्यंत मर्यादित है और वहाँ शृंगार रस की निष्पत्ति भी नही हो सकी है।[१]

रघुवीरशरण मित्र की भाँति यौधेय जी ने यशोदा की विरह अभिव्यक्ति माध्यम से वियोग शृंगार का समायोजन किया है। यशोदा का वियोग करुण मिश्रित प्रवास जन्य विरह है जिसमे प्रिय से पुनर्मिलन की क्षीण-सी आशा भी नही। कवि ने विरह व्यथिता यशोदा की 'स्मृति' 'व्यथा' एव 'चिंता' आदि की हृदयहारी अभिव्यजना की है।[२२] तदुपरात इस विकल वेदना को प्रिय (महावीर) के प्रति अनन्य भक्ति भाव मे परिणत कर भावोत्कर्ष का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकांश महाकाव्यकारो ने पात्रो की चारित्रिक गरिमा से अभिभूत होते हुए तथा धार्मिक विश्वासो की सीमाओ को स्वीकारते हुए शृंगार चित्रण के अल्प प्रयत्न किए हैं। पं० अनूप शर्मा 'मित्र' जी एव 'यौधेय' जी ने कल्पना का सहारा लेते हुए साहसिक प्रयास किए है और शृंगारिक स्थलो की उद्भावना की है। देखना यह है कि भविष्य के साहित्य निर्माता सीमाओ के बन्धन में ही रहते है या कुछ नवीन सम्भावनाए, इस दिशा में, सम्मुख लाते है। लखनऊ

सन्दर्भ-सूची

१. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन—पृष्ठ २२४-२२५
२. विस्तृत विवेचन हेतु देखें पुस्तक—'आधुनिक युग मे नवीन रसों की परिकल्पना।' लेखक—डा० सुन्दरलाल कथूरिया।
३. वर्द्धमान—पं० अनूप शर्मा, पृष्ठ ३५६
४. अनूप शर्मा : कृतिया और कला—सम्पादक डा० प्रेमनारायण टण्डन, पृ० ५०
५. वर्द्धमान—प० अनूप शर्मा पृ० ८५-८६
६. वही, पृ० ८६
७. वही, पृ० ९१
८. अनूप शर्मा : कृतियां और कला—सम्पा० डा० प्रेमनारायण टण्डन
९. परम ज्योति महावीर—धन्यकुमार जैन 'सुधेश', पृ० ९३
१०. वही पृ० ९५
११. परम ज्योति महावीर—धन्यकुमार जैन 'सुधेश', पृ० १५१
१२. वही, पृ० २७०-२७१
१३. पार्श्व प्रभाकर—वीरेन्द्र प्रसाद जैन, पृ० १२५-१२६
१४. तीर्थंकर भगवान महावीर — वीरेन्द्रप्रसाद जैन, पृ० 'दो शब्द' के अन्तर्गत
१५. वही, पृ० ९५
१६. वही, पृ० १०७
१७. वही, पृ० ११०-१११
१८. वीरायन—रघुवीरशरण मित्र पृ० ८३
१९. वही, पृ० ८४
२०. वही, पृ० २८३-२८५
२१. वही, पृ० २४८
२२. वही, पृ० २५५

मूलाचार व उसकी आचार वृत्ति

□ श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

वट्टकेराचार्य विरचित 'मूलाचार' यह एक श्रमणाचार का प्ररूपक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है जो बारह अधिकारो में विभक्त है। चारित्रसार, आचारसार और अनगार-धर्मामृत आदि उसके पीछे इसी के आधार पर रचे गए हैं। प्रस्तुत ग्रंथ पर आचार्य वसुनन्दी द्वारा 'आचारवृत्ति' नामकी एक उपयोगी विस्तृत टीका लिखी गई है जैसा कि 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित इस मूलाचार के संस्करण सम्बन्धित 'प्राद्य उपोद्घात' से स्पष्ट है, उस पर एक 'मुनिजन चिन्तामणि' नाम की टीका मेघचन्द्राचार्य द्वारा कानड़ी भाषा में भी लिखी गई है[1] (पृ० १८)। आ० वसुनन्दी सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् रहे है। वे सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओ के अधिकारी उल्लेखनीय ज्ञाता रहे हैं उन्होंने अपनी इस वृत्ति में प्रसगानुसार आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) के 'जैनेन्द्र व्याकरण' का आश्रय लिया है। इस वृत्ति की रचना मे उन्होने अपने से पूर्वकालीन अनेक आगम ग्रथो का आश्रय ही नहीं लिया, बल्कि उन ग्रन्थो के प्रसंगानुरूप अनेक सन्दर्भों को भी इसमे आत्मसात् कर उसे पुष्ट व विस्तृत किया है जिनमें षट्खण्डागम, चारित्रप्राभृत, सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्रव्याकरण, तत्त्वार्थ-वार्तिक, ष० खं० की टीका धवल., पचसग्रह[2] और गोम्मटसार प्रमुख है। इस सबका स्पष्टीकरण आगे उदाहरणपूर्वक किया जायगा। विशेषता एक आ० वसुनन्दी की यह रही है कि उपर्युक्त ग्रथो से प्रसगानुरूप सन्दर्भों को इस टीका मे गर्भित करते हुए भी उन्होने कही किसी ग्रन्थ विशेष का या ग्रथकार का उल्लेख नही किया है। यही नही, कही 'उक्त च' आदि जैसा सामान्य निर्देश करके भी उन्होने उसकी सूचना नहीं की। अपवाद के रूप में एक आध बार उन्होंने 'तथा चोक्तं प्रायश्चित्तग्रंथेन एकस्थानमुत्तरगुणः, एकभक्तं तु मूलगुणः इति'। इस प्रकार का सामान्य निर्देश करके भी वह प्रायश्चित्तग्रंथ कौनसा व किसके द्वारा रचा गया है, इसका भी कुछ स्पष्टीकरण नही किया। यही कारण है जो उन्हें इस वृत्ति मे अपने विवक्षित अभिप्राय को प्रायः कहीं भी प्राचीन आगम वाक्यों को उद्धृत कर उनके द्वारा पुष्ट नही करना पड़ा—जैसा कि बहुधा पूज्यपाद, भट्टाकलंकदेव वीरसेन आदि अन्य कितने ही आचार्यों ने किया है।

प्रस्तुत ग्रथ का एक संस्करण उक्त 'आचारवृत्ति' के साथ विक्रम संवत् १९७७ और १९८० में मा० दि० जैन ग्रंथमाला बम्बई से दो भागो में प्रकाशित किया गया था। हस्तलिखित प्रतियो पर से उसे प्रकाशित करने का यह प्रथम प्रयास था। उसके प्रकाशित करने में भी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां नही उपलब्ध हुईं। इसके अतिरिक्त उस समय साधन सामग्री की कमी के साथ संशोधक विद्वान् भी उपलब्ध नही हुए। इससे उसमें अशुद्धियाँ बहुत रही हैं, जिन्हें अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। इससे उसके प्रामाणिक शुद्ध सस्करण की अपेक्षा बनी रही है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, उसका दूसरा एक संस्करण 'आ० शा० जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था फलटण' से भी प्रकाशित हुआ है। उसकी प्रति उपलब्ध न होने से मुझे उसके विषय मे अधिक कुछ जानकारी नही है।

---

१. यह टीका और 'आचार्य शा० जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था—फलटण' से प्रकाशित वह प्रति मुझे उपलब्ध नही हो सकी।

२. वृत्तिकार ने 'पचसग्रह' का उल्लेख इस प्रकार किया है—'सग्रहः पंचसंग्रहादयः'। ज्ञा० पी० सं० गा० २७६, पृ० २३६ (सम्भव है उससे भा० ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'पचसग्रह' का ही अभिप्राय उनका रहा हो)।

अभी हाल में उसका एक अन्य सस्करण उक्त आचार वृत्ति और आर्यिका ज्ञानमती माता जी के द्वारा किये गए अनुवादादि से सम्पन्न भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा क्रम से ई० सन् १९८४ व १९८६ मे दो भागो मे प्रकाशित किया गया है। उसके अनुवाद आदि कार्य के करने में माता जी ने पर्याप्त परिश्रम किया है। किन्तु पूर्व सस्करण मे जो प्रचुर अशुद्धियां रही है वे प्रायः सभी इस सस्करण में भी दृष्टिगोचर होती रही है। इसके लिये कानड़ी लिपि मे लिखित प्राचीन दो चार ताड़पत्रीय प्रतियो से उसके सावधानतापूर्वक पाठ मिलान की आवश्यकता रही है। यदि उनसे पाठ मिलान कर उसे तैयार किया गया होता तो उसका एक प्रामाणिक शुद्ध सस्करण इस प्रकार का बन जाता जिस प्रकार का एक **तिलोयपण्णत्ती** का शुद्ध प्रामाणिक संस्करण **आर्यिका विशुद्धमती** माता जी द्वारा प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से पाठ मिलान के साथ अनुवाद आदि कार्य करके तैयार किया गया है।

मूलाचार के अध्ययन की आवश्यकता

वर्तमान मे साधु-साध्वियो की सख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। उनमे सामान्य श्रमणाचार से कितने परिचित रहते है, यह कहना कठिन है। नवीन दीक्षा देने के पूर्व यदि अपने सघ की सख्या वृद्धि की अपेक्षा न रखकर दीक्षोन्मुख आत्महितैषी को दीक्षा ग्रहण के लिए कुछ समय देकर इस बीच उसकी धर्मानुरूप प्रवृत्तियों पर ध्यान देते हुए उसे २८ मूलगुण, आहार-ग्रहण और अन्यत्र विहार आदि करने की विधि से परिचित करा दिया जाय तथा सामान्य तत्वो का भी बोध करा दिया जाय और तत्पश्चात् दीक्षा दी जाय तो ऐसा करने से नव-दीक्षित साधु और दीक्षादाता आचार्य दोनो का ही हित है[1]। यह कण्टकाकीर्ण मार्ग वस्तुतः आत्मकल्याण का है, पर का कल्याण भी इसमे गौण है; इसे कभी भूलना न चाहिए। उक्त विधान के पश्चात् यह भी आवश्यक है कि संघस्थ साधु-साध्वियो को मूलाचार जैसे श्रमणाचार के प्ररूपक ग्रन्थ का पूर्णतया अध्ययन कराकर उन्हें श्रमणाचार मे निष्णात करा दिया जाय। यदि यह स्थिति बनती है तो उससे साधु संघ की प्रतिष्ठा के साथ सघस्थ मुनिजनों का आत्मकल्याण भी सुनिश्चित है, जिसके लिए उन्होने घर-द्वार और परिवार आदि को छोड़ा है। साथ ही दिन-प्रति दिन जो समाचार पत्रो मे व परस्पर की चर्चा-वार्ता मे साधु-साध्वियो से सम्बन्धित अनेक प्रकार की आलोचनायें देखने-सुनने एव पढ़ने को मिलती है वे भी सम्भव न रहेंगी।

मूलाचारके शुद्ध प्रामाणिक संस्करणकी आवश्यकता

इसके लिये बहुत समय से मेरी यह अपेक्षा रही है कि इस महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ का एक प्रामाणिक शुद्ध सस्करण तैयार कराया जाय। यह श्रेयस्कर कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब उसकी प्राचीनतम हस्तलिखित दो-चार प्रतियो को प्राप्त कर उनके आश्रय से पाठो का मिलान करा लिया जाय। यह महत्त्वपूर्ण धर्म प्रभावक कार्य पूज्य **आचार्य विद्यासागर जी** जैसे श्रमण के द्वारा सहज मे सम्पन्न हो सकता है। पू० आ० विद्यासागर जी जैसे सिद्धात के मर्मज्ञ है वैसे ही वे सस्कृत-प्राकृत के विद्वान् होने के साथ कानडी भाषा और लिपि के भी विशिष्टज्ञाता है। उनके सघ मे कुछ अन्य मुनि भी कानडी से परिचित है। इससे धर्मानुरागी कुछ आगमनिष्ठ सद्-गृहस्थो के द्वारा दक्षिण (मूडबिद्री व श्रवणबेलगोला आदि) से ग्रन्थ की कुछ प्राचीनतम प्रतियो को प्राप्त करके

---

१. प्रस्तुत मूलाचार के ही 'समाचार' अधिकार के अनुसार दीक्षोन्मुख की तो बात क्या, किन्तु एक सघ का साधु यदि विशेष श्रुत के अध्ययनार्थ दूसरे संघ में आचार्य की अनुज्ञा से जाता है तो एक या तीन दिन उसे विश्राम कराते हुए इस बीच उसके आचरण आदि की परीक्षा की जाती है। यदि वह आचरण मे विशुद्ध प्रमाणित होता है तो उसे अपने सघ मे स्वीकार कर यथेच्छ श्रुत का अध्ययन कराया जाता है। इसके विपरीत यदि वह व्रताचरण से अशुद्ध प्रतीत होता है तो सघ मे नही लिया जाता है। यदि कोई आचार्य व्रताचरण मे अयोग्य या शिथिल होने पर भी उसे ग्रहण करता है तो उस आचार्य को भी प्रायश्चित्त के योग्य कहा गया है (देखिये गा० १६३-६८)। यही पर पीछे एकाकी विहार करने का भी कठोरतापूर्वक प्रतिषेध किया गया है। (गा० १४७-५०)।

उन्हें समर्पित कराई जा सकती है। इस संघ की यह भी एक विशेषता है कि तत्त्वाचर्चा और स्वाध्याय आदि के अतिरिक्त वहां अन्य कोई चर्चा नही देखी सुनी जाती। वर्तमान मे उसकी प्रतियों के प्राप्त करने में पूर्व के समान कठिनाई नही रहेगी। इस प्रकार से इस संघ मे ग्रंथ के वाचनपूर्वक पाठो का मिलान सहज मे कराया जा सकता है, जिससे उसके शुद्ध प्रामाणिक सस्करण के तैयार होने मे कुछ कठिनाई नही रहेगी।

दोनों संस्करणगत अशुद्धियां

ऊपर जो मैंने इन दोनों सस्करणो के अन्तर्गत उपलब्ध कुछ अशुद्धियो का निर्देश किया है उनमे प्रामाणिकता की दृष्टि से यहां मैं कुछ थोडी-सी विशिष्ट अशुद्धियो का उल्लेख कर देना चाहता हूं। जिससे त्यागीवृन्द व विद्वज्जन प्रस्तुत ग्रंथ के शुद्ध प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता का अनुभव कर सके। यथा—

मा० ग्रं० मा० सस्करण गाथा	ज्ञा० पी० सस्करण पृष्ठ	अशुद्ध पाठ	उसके स्थान मे सम्भव शुद्ध पाठ
१-४ वृत्ति	८	प्राणव्यपरोपण प्रमादः	प्राणव्यपरोपण हिंसा, प्रमादः
१-२४	३१	स्तुतेः	नुतेः
१-३४	४४	मिथस्तस्य	स्थितस्य
१-३५	४५	महापुरुषाचरणार्थं	महाव्रताचरणार्थं
,,	,,	अन्यथार्थत्वात्	अन्यार्थत्वात्
,,	४७	विपरीत गतस्य	विपरीततां गतस्य
,,	,,	श्रद्‍धान	श्रद्धानं
३-५	६६	उपक्रमः प्रवर्तन	उपक्रमः अपवर्तन
४-१	१०६	'कायाः' तस्	'कायास्तस्'
४-२	१०८	सहस्य सः, समान	'सहस्य स' समान
४-१२	११६	पडिछण्णाए	पडिच्छणाए
४-१४	११८	उदभ्रम एवोद्भ्रमको	उद्भ्रम एवोद्भ्रामको
४-१७ (मूल)	११६	पुच्छयमण्ण	पुत्थयमण्णं[1]
४-२५	१२५	भट्टारकपादप्रसन्नैः	भट्टारकपादपादप्रसन्नः
४-२७	१२६	गृहीतार्थश्च	गृहीतार्थस्य
४-२८ (मूल)	१३४	सायरसरसो	सायरसरिसो (वृत्ति मे शुद्ध है)
४-५६ (मूल)	१४७	उव्वट्ठण	उव्वट्टण
,, (वृत्ति)	१४८	श्रावकादिभि·	श्राविकादिभिः
४-६८ (मूल)	१५४	परियट्ठं	परियट्टं
४-७० (मूल)	१५६	सहत्थति	सहच्छति[1]
४-७५ (मूल)	१५६	चरित	चरति (वृत्ति में शुद्ध है)

१. कानडी लिपि मे बहुधा 'त्थ' और 'च्छ' के लिखने मे वर्णव्यत्यय हुआ है—'त्थ' के स्थान मे 'च्छ' और 'च्छ' के स्थान मे 'त्थ' लिखा गया है। देखिये आगे गा० ४-७० व ज्ञा० पी० स० में गा० १६१ (पृ० १५६) मे 'सहत्थंति' का टिप्पण 'अच्छति' तथा आगे गा० ५-१७६ (ज्ञा० पी० स० ३६३, पृ० २६६ मे 'पत्थिदस्स' के स्थान मे 'पच्छि[च्छि]दस्स' लिखा गया है।

बम्बई सं० गाथांक	ज्ञान पी० सं० पृ०	अशुद्ध पाठ	उसके स्थान में सम्भव शुद्ध पाठ
५-४	१६६	सर्वथानुपवर्तनं	सर्वथानुप्रवर्तनं
५-६	१६६	ज्ञानरूपमुपचारो	ज्ञानरूपत्वमुपचारो
,,	,,	यत्प्रधानं	यत् श्रद्धानं
५-२८ (मूल)	१८८	संवग्गीण	सव्वंगीणं (गो० जी० ११५)
५-३०	१६०	(भव्व) भव्वा निर्वाण-पुरस्कृता: (अभव्वा-) अभव्यास्तद्विपरीता	भव्याभव्या भव्या निर्वाण-पुरस्कृता: अभव्यास्तद्विपरीता
५-३५	१६६	पुनररूपिणोऽजीव:	पुनररूपिणो जीवा:
५-६१ (मूल)	२१६	वागणुवादारि	वागणुवागादि (वृत्ति में शुद्ध है)
,,	,,	तुच्छाणित्तिण गे०	तुच्छाणि ताणि ण गे०
,, (वृत्ति)	२१७	यजुर्वेदार्थर्वणादय:	यजुर्वेदाथर्ववेदादय:
५-७०	२२२	अमुख्यं प्रत्यक्षेन्द्रिय	अमुख्यं प्रत्यक्षमिन्द्रिय
५-७५	२२८	सर्वासु सध्यादावन्ते	सर्वासु संध्यास्वादावन्ते
५-११३	२५८	नापि तं (?) (देवैर्दत्तो	नापितैर्देवैर्दत्तो
५-११४	,,	तथैव (व) ह्रस्व	तथैव ह्रस्व
५-११५	२५६	पल्लत्थे(ज्ञा०पी०'पल्हत्थे')	पल्लट्टं (गो० जी० २२३)
५-१२१	२६६	मध्यान्हादरात् (ज्ञान पी० टिप्पण मे शुद्ध है)	मध्याह्नादारात्
,,	,,	संहृत्यावसथो दूरतो	संहृत्यावसथाद् दूरतो
,,	२६७	स (श) तन	शातन
५-१२७	२७२	स्थानं वानुज्ञाप्य	स्थानं नानुज्ञाप्य
५-१६५	२६३	सभावनं	स-भावनं
५-१७१	२६६	श्रुतं पठनयत्नं	श्रुतपठने यत्न:
५-१७६ (मूल)	२६६	पछिदस्सणुसाधण (ज्ञा० पी० 'साहुणं')	पत्थिदस्सणुधावणं
,, (वृत्ति)	,,	करकुंडलेना०	करकुड्मलेना०
५-१८१	३०२	अहीलं अपरिभवचन	अहीलणं अपरिभववचनं
,,	,,	कृष्णादिक्रिया (दि) रहितं	कृष्यादिक्रियारहितं
५-१८२	,,	सम्यग्विराधना	सम्यक्त्वविराधना
५-१८४	३०३	उपकारे	उपचारे
५-२१०	३२१	वेदास्त्रय:। रागाहास्यादय:	वेदास्त्रय: रागा: । हास्यादय:
५-२१६ (मूल)	३२४	जहाथाणं	जहाथामं[1] (पु० ८, सूत्र ४१, पृ० ८६)

१. बलोवीरियं थामो इदि एयट्ठो । धवला पु० ८, पृ० ८६

बम्बई सं० गाथांक	ज्ञान पी० सं० पृ०	अशुद्ध पाठ	उसके स्थान सम्भव शुद्ध पाठ
६-५	३३३	श्रवणो	श्रमणो
,,	३३३-३४	पाखण्डिव्वध्यासकर्मणो	पाखण्डिव्वस्याधःकर्मणो
,,	३३४	तेन गृहस्थाः। साधवः	ते न गृहस्थाः, साधवः
६-२२	३४५	जंतुना	जतुना
६-३३	३५४	सकृत्रिमभेदभिन्न	सकृत्रिमाकृत्रिमभेदभिन्नं
६-५५	३६७	जुगुप्सा ततश्चेति	जुगुप्सातश्चेति
६-५८	३६८	गृद्धयामुक्त. आहार-मभ्यवहरति[२]	गृद्धया युक्तः आहरति आहार-मभ्यवहरति
६-६०	३६९	भुक्ते, प्राणादश	भुंक्ते, न प्राणादश
,,	३७०	नातिमात्र धर्मं	नात्र धर्मं (ज्ञा० पी० संस्करण का टिप्पण=जो कदाचित् शुद्ध हो सकता है)
६-६१	,,	। तितिक्षणाया	। तिरक्खणे तितिक्षणायां
६-६२	३७?	यद्येवमर्त्थं	यद्येतदर्थं
६-'७	३७५	भक्षादिके	भक्ष्यादिके (ज्ञा०पी०—टिप्पण मे शुद्ध है)
६-६८ (मूल)	,,	गयेसमाणो	गवेसमाणो

विचारणीय कुछ ऐसे पाठ जो प्रतिमिलान की अपेक्षा रखते हैं

गाथा या वृत्ति	ज्ञा० पी० स० पृष्ठ	प्रतिमिलान के लिये अपेक्षित पाठ विशेष
१-६ (वृत्ति)	१२-१३	सदाचाराचार्यान्यथार्थकथने दोषाभावो वा सत्यमिति सम्बन्धः ।××× सदाचारस्याचार्यस्य स्खलने दोषाभावो वा ।
१-३५	४५	भुंजे भुंक्ष्व वचसा वचसा न भणामीति चतुर्विधाहारस्याभिसन्धि-पूर्वक कायेनादान (वचन सम्बन्धी कारित व अनुमति से सम्बद्ध पाठ स्खलित दिखता है, अनुवाद मे उसे मूल के बिना ले लिया गया है।)
,,	४६	'तदुभयोज्झनमुभयम्' ('उभय' प्रायश्चित्त से सम्बद्ध यह पाठ निश्चित ही अशुद्ध है, देखिये आगे गा० ३६२ की वृत्ति में 'उभय' प्रायश्चित्त का लक्षण-उभयं-आलोचन-प्रतिक्रमणे)
३-५	६६	उपक्रमः प्रवर्तन अस्तित्व। (यह पाठ अशुद्ध है, उसके स्थान में 'उपक्रमः अपवर्तन' पाठ होना चाहिये, आगे गा० १२-८३ (ज्ञा० पी० सं० २, पृ० २७१) की वृत्ति मे उसका लक्षण—उपक्रम्यते इति उपक्रमः विष-वेदन······आयुषोघातः, ऐसा निर्दिष्ट किया गया है। देखिये त० भाष्य २-५२ मे 'उपक्रमोऽपवर्तन-निमित्तम्')

२. ज्ञा० पी० संस्करण में 'गृ-द्धयाद्यायुमुक्तः आहरत्यभ्यवहरति' ? ऐसा पाठ है।

गाथा या वृत्ति	ज्ञान पी० सं० पृ०	प्रतिमिलान के लिए अपेक्षित पाठ विशेष
४-४	१११	नाय पृच्छाशब्दोऽपशब्दः । उत्सर्गापवादसमावेशात् (?) । अनुवाद अस्पष्ट है ।
४-२४	१२३	तुम्हे महद्गुरुकुले (ज्ञा० पी० सं० 'त्वद् महद्गुरुकुले')
४-२७ (मूल)	१२६	बिदिओऽगिहीदत्थससिदो [बिदिग्रोगिहिदत्थसंसिदो]
४-३०	१२८ (गा० १५१)	नमोस्तूनां शासने (ज्ञा० पी० सं० टिप्पण मे 'सर्वज्ञाना शासने')
४-३१ (मूल)	१२६ (गा० १५२)	साणागेणादि (ज्ञा० पी० स० 'साणगोणादि') [साणगोणसादि]
,, (वृत्ति)	,,	श्वगवादय.
४-५८ (मूल)	१४७ (गा० १७६)	कहा व सल्लावणं (वृत्तिगत पाठ भी विचारणीय है)
४-६३	१५१	अल्पगुह्यदीर्घस्तब्धः प्रश्रवादिरहितः (?)
४-७०	१५६	प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त 'असण्णिवाए' का ग्रभिप्राय अस्पष्ट है, वृत्तिकार को उसे तीन विकल्पो में स्पष्ट करना पडा, फिर भी वह सन्तोषजनक नही है । प्रसग कुछ दुरूह है या अशुद्ध भी हो सकता है ।
५-३८	१६६ (ज्ञा०पी० स०)	पूर्वगाथार्थेनास्य गाथार्थस्य नैकार्थ(?) बन्धास्रवोपकारेण प्रतिपादनात् (यहाँ एक विशेषता यह रही है कि **शुद्ध उपयोग को पुण्यास्रवरूप निर्दिष्ट किया गया है**) ।
५-३६ (मूल)	२००	णेहोउप्पिदगत्तस्स (?)
५-४७	२०४	जीवस्त्ररूपान्यथाकरणस्सोऽनुभागबन्धः [जीवस्वरूपान्यथाकरणं सोऽनुभाग बन्धः]
,,	,,	योगाज्जीवाः (?) प्रकृतिबन्ध [प्रदेशबन्ध] च करोति ।
५-५७	२१३	उण्हा—उष्ण पूर्वोक्तप्रकारेण सन्निधानाच्छीताभिलाषकारणादित्य-ज्वरादि सन्तापः (?)
५-५६ (मूल)	२१५ (गा० २५६)	ससत्तीए [स्वशक्त्या] वृत्तिकार के अर्थ को देखते हुए 'सव्वसत्तीए' पाठ सम्भव है ।
५-६५ (मूल)	२१६ (गा० २६२)	हिदमिदमवगूहिय (?)
५-७०	२२२	अमुष्य प्रत्यक्षेन्द्रिय- [प्रत्यक्षं इन्द्रिय-] विषयसन्निपाता······ ईषत्प्रत्यक्षभूत । परोक्षं [ईषत् प्रत्यक्षभूतं परोक्षं] श्रुतानु······ भेदेनानेकप्रकारं, [प्रकारं।] श्रुत······मतिपूर्वक इन्द्रिय··· ·· विज्ञान । यथाग्निशब्दात् खर्परविज्ञानं (?) ।
,,	२२३	शूना (?) पीनांगोदेवदत्तो
५-७५	२२८	सर्वासु सन्ध्यादावन्ते [सर्वासु सन्ध्यास्वादावन्ते]
५-६६ (मूल)	२४७	पचण्हंपि यन्हयाणमावज्जणं (?)
,, (वृत्ति)	,,	पचानामप्यह्नवाना व्रतानामावर्जन भंगः ।
५-११४	२५८	तथैव (व) ह्रस्व [तथैव] ह्रस्व
५-११५	२५६	यदुत नाम तथा न सम्पादयेदभिनीता [सम्पादयेदित्यभिनीता]

गाथा या वृत्ति	ज्ञान पी० सं० पृ०	प्रतिमिलान के लिए अपेक्षित पाठ विशेष
५-१२१	२६५	मुनिरित्याशंकायामाह चकार (र) सूचितार्थं (?)
५-१२७	२७२	यदि प्रथमस्थानं शुद्धं द्वितीयं तृतीयस्थानं वानुज्ञाप्य [वाननुज्ञाप्य]
५-१३६	२७७	अत्रोकारस्य ह्रस्वत्व प्राकृतबलात् द्रष्टव्य (प्रसंग ?)
५-१४२ (मूल)	२७८-७६	······समणुण्णमणाअणण्णभावो वि चत्तपडिसेवी (?)
,,	,,	वृत्तिका पाठ व अनुवाद भी विचारणीय है।
५-१४५ (मूल)	२८१ (गा० ३४२)	स मणागवि किं (पाठान्तर—'समुहदो च किं')
५-१५८	२८६	···तेषा यन्नानाविधान नानाकरण तस्य ग्रहण (?)
५-१८१	३०२ (मूल)	
	(गा० ३७८)	गिहत्थवयणमकिरियमहीलणं (?)
,,	(वृत्ति)	वृत्तिगता पाठ विचारणीय है।
५- ६० (मूल)	३०७ (गा० ३८७)	आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिनिज्जजा (?)
५-१६३	३०६	दु शीले वा दुर्वने व्याख्याक्रान्ते वा (?)
,,	,,	कुले शुक्रकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने
५-१६४	,,	वाचनाव्याख्यानविकिंचनमूत्र (?)

इस प्रकार से यहा कुछ थोडी-सी अशुद्धियों और विचारणीय स्थलो का दिग्दर्शन कराया गया है, वैसे अशुद्धियां बहुत दिखती है। पिण्डशुद्धि मे जो श्रमणाचार से अधिक सम्बद्ध है, ऐसे अनेक स्थल है जिनका अभिप्राय समझना कठिन हो रहा है। अन्तिम बारहवे अधिकार मे, विशेषकर गा० १५४-२०६ (अन्त तक) मे, अधिक अशुद्धियां उपलब्ध हैं। इससे प्रस्तुत ग्रन्थ का प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो से मिलान करने की अत्यधिक आवश्यकता है।

ग्रन्थान्तरों के सन्दर्भ :

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, वृत्तिकार आ० वसुनन्दी ने अपने पूर्वकालीन अनेक ग्रन्थों से प्रसंगानुरूप सन्दर्भ लेकर अपनी उस वृत्ति को पुष्ट किया है। उनमें कुछ इस प्रकार है—

१. षट्खण्डागम—मूलाचार गाथा १२–२०० व २०१ में निर्दिष्ट ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने उन मूल प्रकृतियों के साथ उनकी उत्तर प्रकृतियो की भी उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया है, जो षट्खण्डागम से प्रभावित ही नही, यथा प्रसग उसके सूत्रों को उसी क्रम से संस्कृत छायानुवाद के रूप में उन दोनों गाथाओं की वृत्ति में आत्मसात् कर लिया है। यथा—

(क) पचण्ह णाणावरणीयाण नवण्ह दसणावरणीयाणं असादावेदणीय पचण्हमतराइयाणमुक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तीसं सागरोवम कोडाकोडीओ। षट्ख० सूत्र १, ६-६ ४, (पु० ६, पृ० १४६)

(क) पचाना ज्ञानावरणीयाना नवानां दर्शनावरणीयाना सातवेदनीयस्यासातवेदनीयस्य पंचांतरायाणां चोत्कृष्ट स्थितिबन्धो स्फुट त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य:। मूला वृत्ति १२–२०० (ज्ञा० पी० स० २, पृ० ३७६)

यहां 'सातावेदनीय' का उल्लेख प्रमादवश हुआ है जो निश्चित ही अशुद्ध है। सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति यही पर आगे गा० २०१ की वृत्ति (ज्ञा० पी० स० २ पृ० ३७७) में पृथक् से पन्द्रह कोड़ाकोड़ी प्रमाण निर्दिष्ट की गई है।

ख) सादावेदणीय-इत्थिवेद-मणुसगदि-मणुसगदिपाओग्गाणुपुव्विणामाणमुक्कस्सओट्ठिदिबधो पण्णारस सागरोवमकोडाकोडीओ ष० ख० सूत्र १, ६-६, ७।

सातवेदनीय - स्त्रीवेद - मनुष्यगति मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नामुत्कृष्टा स्थिति: पञ्चदशसागरोपमकोटीकोट्य:। मूला० वृत्ति १२-२०१.

(ग) मिच्छत्तस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधोसत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ। ष० ख० सूत्र १, ६-६, १०।

[मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः]

यहां कोष्ठकगत [……] यह सन्दर्भ यहाँ निश्चित ही दोनो संस्करणों मे छूट गया है।

(घ) सोलसण्हं कसायाणं उक्कस्सगो ट्ठिदिबंधो चत्तलीसं सागरोवमकोडाकोडीओ।

ष० ख० सूत्र १, ६-६, १३

षोडशकषायाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धश्चत्वारिंशत्कोटीकोट्यःसागराणा [सागरोपमानाम्]। वही वृत्ति०।

आगे इस वृत्तिगत उत्कृष्ट स्थिति से सम्बद्ध प्रसग का यथा-क्रम से षट्खण्डागम के इन सूत्रो से शब्दश. मिलान किया जा सकता है— १६, १६, २२ २६, ३०, ३३, ३६, ३६, ४२ (मा० ग्र० स० २, पृ० ३१५ व ज्ञा० पी० स २, पृ० ३७७-७८)

(क) यहाँ वृत्ति में नपुसकवेद को लेकर नीचगोत्र पर्यन्त उत्कृष्ट स्थिति को प्रगट करते हुए 'अयश.कीति' के आगे 'निर्माण' का उल्लेख रहना चाहिये था, जो नही हुआ है।

(ख) इसी प्रकार आहारकशरीरांगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण करते हुए प्रारम्भ में 'आहारक शरीर' का भी उल्लेख किया जाना चाहिये था, जो नही किया गया है।

प्रस्तुत वृत्ति में इस उत्कृष्ट कर्मस्थिति प्रसग के आगे यह कहा गया है—

सर्वत्र यावन्त्य. सागरोपमकोटीकोट्यस्तावन्ति वर्षशतान्याबाधा। कर्मस्थितिः कर्मनिषेक.। येषा तु अन्त-कोटीकोट्य. स्थितिस्तेषामन्तर्मुहूर्त आबाधा। आयुषः पूर्वकोटित्रिभाग उत्कृष्टाबाधा, आबाधानां (ज्ञा० स० पृ० ३७८ 'आबाधोना') कर्मस्थितिः कर्मनिषेक इति।[1]

इस प्रसंग का मिलान यथाक्रम से षट्खण्डागम के इन सूत्रो से कर लीजिये—

तिण्णि वाससहस्साणि आबाधा। सूत्र १, ६-६, ५ (पूर्व सूत्र ४ से सम्बद्ध) आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ। सूत्र १, ६-६, ६ व ६, १२, १५, १८, २१, ३२ ३५, ३८ और ४१।

आहारसरीर-आहारसरीरंगोवंग - तित्थयरणामाणमुक्कगोट्ठिदिबंधो अंतोकोडाकोडीए: अंतोमुत्तमाबाधा। सूत्र १, ६-६, ३३-३४।

णिरयाउ-देवाउअस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधोतेत्तीसं सागरोवमाणि, पुव्वकोडितिभागो आबाधा, आबाधा, कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ। सूत्र १, ६-६, २२-२५।

यहां उपर्युक्त वृत्ति मे आयु से सम्बद्ध 'आबाधोना (मा० ग्र० स० 'आबाधाना') कर्मस्थितिः 'कर्मस्थितिकर्मनिषेक." का अनुवाद नही किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि आयु कर्म के आबाधाकाल के भीतर अपकर्षण उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के द्वारा उसकी निषेक स्थिति में कुछ बाधा नही होती, जिस प्रकार कि ज्ञानावरणादि अन्य कर्मों के आबाधा काल के भीतर अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के द्वारा निषेक स्थिति मे बाधा होती है। देखिये षट्खण्डागम सूत्र १, ६-६, २४ और २८ (पु० ६, पृ० १६८ और १७१)।

इसके आगे इसी वृत्ति में यह प्रसंग प्राप्त है जो शब्दश धवला से समान है—

एकेन्द्रियस्य पुनर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टः स्थितिबन्ध एकं सागरोपमम्। कषायाणा सप्त चत्वारो भागाः। ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तराय - सातवेदनीयामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सागरोपमस्यत्रयः सप्तभागाः। नाम-गोत्र-नोकषायाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ।[2] (क्रमशः)

१. यह पाठ अशुद्ध दिखता है। उसके स्थान मे कदाचित् ऐसा पाठ रह सकता है—'अबाधा, कर्मस्थितिः कर्मनिषेकः।'
इसका अभिप्राय यह होगा कि आयु कर्म के निषेक आबाधाकाल के भीतर उत्कर्षण-अपकर्षण आदि की बाधा से रहित होते है, अर्थात् अबाधाकाल के भीतर उसकी निषेक स्थिति में उत्कर्षण आदि के द्वारा बाधा नही होती, जिस प्रकार की बाधा ज्ञानवरणादि अन्य कर्मों की निषेक स्थिति मे सम्भव है।

२. देखिये धवला पु० ६, पृ० १६४-६५, आगे जो वृत्ति में एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादि की उत्कृष्ट स्थिति से सम्बन्धित अंकसंदृष्टि दी गई है वह भी यहां धवला में तदवस्थ है।

सिरसा से प्राप्त जैन मूर्तियाँ

□ विद्यासागर शुक्ल रिसर्च स्कोलर

हरियाणा के पश्चिमी भाग मे स्थित सिरसा पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका प्राचीन नाम शौरीषक था जिसका उल्लेख अष्टाध्यायी, महाभारत एवं दिव्यावदान में आया है। यह एक महत्वपूर्ण नगर रहा था जिसके अवशेष सिरसा नगर के समीप विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं। यहां से मिट्टी, शिल्प तथा धातु से बनी अनेक प्रकार की मूर्तियां उपलब्ध हुई है जिनमे से कुछ मूर्तियां जैन धर्म से सम्बन्धित है। सिरसा प्राचीन काल मे जैन धर्म का केन्द्र रहा था जिसकी पुष्टि हमे वहां से प्राप्त कलावशेषों से होती है। ये कलावशेष कालक्रम की दृष्टि से ८वी शती से १२वी शती के हैं। इनमे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है।

सिरसा के समीप ही सिकन्दरपुर गाव मे एक लघुकाय तीर्थंकर मूर्ति का सिर प्राप्त हुआ है जो इस समय कुरुक्षेत्र सग्रहालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र के सग्रह मे है। इसमे सिर सकुचित अलकावली से आवृत है। यह आठवी शती की मूर्ति का भाग है।[1] हरियाणा पुरातत्व विभाग, चण्डीगढ़ के संग्रहालय मे एक जैन मूर्ति का आधार सग्रहीत है।[2] मूर्ति का यह आधार और उस पर खड़ी (अथवा बैठी) मूर्ति दोनो अलग-अलग निर्मित हुए थे। इस आधार के मध्य में सामने अलकृत आसन लटकता दिखलाया गया है। उसके नीचे बीच मे (धर्मचक्र) तथा दो हिरण तथा सिह अकित है। पार्श्व मे बायी ओर चतुर्भुज चक्रेश्वरी बैठी हुई दिखलाई गयी है। उनके अतिरिक्त दाहिने हाथ मे चक्र तथा उनका सामान्य हाथ अभय-मुद्रा में है।[3] इस आधार के दाहिनी ओर बृषभ-सिर युक्त एक हाथ मे पद्म लिए ललितासन-मुद्रा मे एक पुरुष आकृति आसीन है। यह गोमुख यक्ष का अकन है।[4] चक्रेश्वरी 'यक्षी' तथा गोमुख 'यक्ष' तीर्थंकर ऋषभदेव अथवा आदिनाथ के पार्श्व देवता हैं।[5] इस प्रकार यह मूर्ति-आधार आदिनाथ की मूर्ति के लिए अभिप्रेत था। तीर्थंकर आदिनाथ मूर्ति के इस आधार पर अंकित तथा अलकृत वस्त्रासन बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किये गये हैं। इस मूर्ति आधार को शैली आधार पर नवीं-दसवीं शती में रखा जा सकता है। सिरसा से तीर्थंकर मूर्ति का एक अन्य आधार काले पत्थर का मिला है जो इस समय पुरातत्व संग्रहालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय मे है।[6] इस पर तीर्थंकर की मूर्ति बैठी हुई रही थी। यह आधार त्रिरथ आकृति सदृश है जिसके सम्मुख भाग पर धर्मचक्र, हिरण और सिह अंकित हैं। बीच में शंख का चित्रण है तथा उसके नीचे एक आकृति मध्य में बनी रही थी जो पर्याप्त घिस गई है। इसकी पहिचान कर सकना कठिन है। इसके साथ ही एक सीध में कुछ बैठी हुई अति लघुकाय आकृतियां भी बनी है। इस मूर्ति मे तीर्थंकर का लांछन (शंख) दिखलाये जाने से इस मूर्ति की पहिचान बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ से करना उचित होगा।[7] उक्त मूर्ति वास्तव में विशाल आकार की रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसे मन्दिर के गर्भ-गृह मे स्थापित किया गया था। शैली के अनुसार यह नवी-दसवी शती ईसवी मे रखा जा सकता है।

सिरसा की अन्य तीर्थंकर मूर्तियां छोटे आकार की है। शैली की दृष्टि से ये १०वी-११वी शती की हैं। इनमे तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में कमलासन पर बैठे दिखलाया गया है।[8] दूसरी मूर्ति जो संगमरमर की है, में ध्यान-मुद्रा मे बैठे तीर्थंकर के साथ दो आकृतियां खड्गासन मे खड़ी अधोवस्त्र पहने दिखलाई गई है। इनको वस्त्र पहने दिखलाये जाने से स्पष्ट है कि ये अन्य देवो से ही

संबंधित रही थी। सिरसा के अतिरिक्त संगमरमर की जैन मूर्तियां पिंजोर से भी प्राप्त हुई हैं।[९] ये मूर्तियां मूलतः राजस्थान में बनी थी जहां से लेकर सिरसा तथा अन्य प्राचीन स्थलों पर निर्मित जैन मंदिरो मे रखा गया था।

सन्दर्भ-सूची

१. शुक्ल, एस० पी, स्कल्पचर्स एण्ड टेराकोटाज इन दि आर्केयिलाजिल म्यूजिम, कुरुक्षेत्र, १९८३, पृ० ५३, प्लेट ४७-३

२. यह मूर्ति अभी अप्रकाशित है।

३. चक्रेश्वरी को आदिनाथ की यक्षिणी के रूप मे गरुड़ासीन दिखलाया जाता है। जैन ग्रंथो के अनुसार उनकी मूर्तियां चतुर्भुजी, (अष्टभुज) तथा द्वादशमुखी बननी चाहिए। चतुर्भुजी मूर्ति के दो हाथों मे चक्र होना चाहिए। भट्टाचार्य, बी० सी० दि दि जैन आइकोनोग्राफी, १९७४ (पुनर्मुद्रण), पृ० ८६-८७

४. जैन ग्रंथो के अनुसार (गोमुख) (यक्ष व अभयमुद्रा अक्षमाला और पाश के साथ वृषभ सहित दिखलाया जाता है। (भट्टाचार्य, बी० सी०, उपरोक्त, पृ० ६७-६८१ वृषभ-सिर दिखलाया जाना प्रतीकात्मक है। वृषभ को धर्म का प्रतीक माना जाता है।

५. भट्टाचार्य, बी० सी०, उपरोक्त पृ० ३५

६. संख्या ७२, १२३, ७२-१४० दृष्टव्य शुक्ल, एस० पी०, उपरोक्त, पृ० ५५, प्ले० ५०।

७. नेमिनाथ के लाछन (शंख) और शासन देवता गोमेद यक्ष तथा यक्षिणी अम्बिका का उल्लेख जैन ग्रंथो मे मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार वह कृष्ण तथा बलराम के चचेरे भाई माने जाते है। महाचार्य, बी० सी०, उपरोक्त, पृ० ५७-५८

८. शुक्ल, एस० पी० उपरोक्त पृ० ५४, प्लेट ४९।

९. सिंह, यू० वी०, पिंजोर स्कल्पचर्स कुरुक्षेत्र, '९७२, पृ० ६

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति बहुपाठक
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
हरियाणा-१३२११९

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक— वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २, अन्सारी रोड, दरियागज नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
मुद्रक—गीता प्रिंटिग एजेंसी न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

चिन्तन के लिए :

सिद्धा ण जीवा—धवला

□ ले० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

विमर्श :

ज्ञात होता है कि धवलाकार की दृष्टि मे 'जीव' और 'चेतन' दोनों मे भेद है। वे जीवत्व भाव को औदयिक होने से संसारावस्था तक सीमित मानते है और औदयिक होने से ही कर्म-रहित अवस्था मोक्ष मे उसका प्रवेश नही मानते इसीलिए उन्होंने जीवत्व का परिहार कर 'सिद्धा ण जीवा' कहा है और तत्वार्थ सूत्र की प्ररूपणा को चेतन के गुण के अवलम्बन से स्वीकार किया गया माना है—'चेयण-गुणमवलम्बियपरुविदं।' इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जीव व सिद्ध दोनो चेतन की दो पर्यायें है—अशुद्ध-पर्याय 'जीव' है और शुद्ध पर्याय 'सिद्ध' है। हमने इसी बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पाठको के अवलोकनार्थ 'धवला' का अंश भी दे रहे है।

हमने अपने लेख में 'धवला के कथन की पुष्टि का दृष्टिकोण रखा है और अन्य मान्यताओ का विरोध न करने का भी ध्यान रखा है। हम विषय समझने और अन्य मान्यताओं से सामंजस्य बिठाने के लिए अन्य मान्यताओं के विषय में भी लिखने का विचार रखते हैं। ताकि विषय स्पष्ट हो। हम आशा करें कि हमारे लेख को किसी मान्यता-विरोध में न लिया जाएगा।

उद्धरण :

'आउ आदिपाणाण धारणं जीवण। तं च अजोगि-चरिमसमयादो उवरि णत्थि, सिद्धेसु पाणणिबंधणट्ठकम्मा-भावादो। तम्हा सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जते? ण उवयारस्स सच्चत्ताभावादो। सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्त ण पारिणामियं, किंतु कम्मविवागज, यद्यस्य भावाभावानु-विधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात्। तत्तो जीवभावो ओदइओत्ति सिद्धं। तच्चत्थे जं जीवभावस्स परिणामियत्तं परूविदं तं पाणधारणत्तं पडुच्च ण परूविदं, किंतु चेदणगुणमवलंबिय तत्थ परूवणा कदा। तेण तं पि ण विरुज्झइ।'—धव० पु० १४/५/६/१६/१३

'आयु आदि प्राणों का धारण करना जीवन है। वह अयोगी के अन्तिम समय से आगे नही पाया जाता, क्योंकि सिद्धों के प्राणो के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है। इसलिए सिद्ध जीव नहीं है, अधिक से अधिक वे जीवित-पूर्व कहे जा सकते हैं।

शका—सिद्धों के भी जीवत्व क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है?

समाधान—नही, उपचार में सत्यता का अभाव होने से।

सिद्धों मे प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम होता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है। किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है, क्योंकि, 'जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है, ऐसा कार्य-कारण भाव के ज्ञाता कहते हैं' ऐसा न्याय है। इसलिए जीवत्वभाव औदयिक है, यह सिद्ध होता है। तत्वार्थ सूत्र में जीवत्व को जो पारिणामिक कहा है वह प्राणों को धारण करने की अपेक्षा से नहीं कहा है, किन्तु चेतन के गुण की अपेक्षा से वहां वैसा कथन किया है, इसलिए वह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं

होता।'*

गतांकों में हमने धवला जी के उक्त कथन 'सिद्धा ण-जीवा:' की पुष्टि में जो कुछ लिखा है, वह मान्य प्रतिष्ठित, प्रामाणिक आचार्य के कथन की अपेक्षा को हृदय में श्रद्धा करके ही लिखा है और आज भी उसी विषय को उठा रहे हैं—'सिद्धा ण जीवा।'

उक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं कि सिद्ध भगवान अजीव, जड़ या अचेतन हैं। सिद्ध तो सिद्ध हैं, विकसित चेतन संबंधी अनंतगुणों के त्रैकालिक धनी हैं, शुद्ध चेतन-स्वभावी हैं, अविनाशी-अविकार परमरसधाम हैं। अत: आचार्य-मत में हमने उन्हें (कल्पित, पराश्रित और विनाशीक प्राणाधार पर आश्रित, लौकिक और व्यवहारिक) वैभाविक 'जीव' संज्ञा से अछूता समझा है। हमारा प्रयोजन चेतन के नास्तित्व करने से नहीं है। यत:—हम यह भी जानते हैं कि यदि हम जीव का मूलत: नाश मानेंगे तो हम ही कैसे जीवित रहेंगे ? यदि रहना भी चाहें तो हमें यहां के लोग रहने क्यों देंगे ? जबकि 'सिद्धा ण जीवा' जैसी आचार्य की एक बात मात्र कहते ही उन्होंने, वस्तुस्थिति को समझे बिना ही, हमें कूटना शुरू कर दिया हो ! अस्तु; संस्कार जो हैं।

सभी जानते हैं कि लक्षण एक ऐसा निर्णायक माप है जो दूध और पानी के भेद को दिखाने में समर्थ है। आचार्यों ने लक्षण का लक्षण करते हुए लिखा है—'परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्' अर्थात् जिस हेतु के द्वारा बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी भिन्न जातीय पदार्थ को पृथक् रूप में पहिचाना जाता है, वह हेतु उस पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णत्व और जल का लक्षण शीतत्व। दोनों के लक्षण ऐसे हैं, जो अग्नि और जल की भिन्नता की पहिचान कराते हैं। इसी भांति जब हमें जीवत्व और सिद्धत्व दोनों के लक्षण अलग-अलग मालुम पड़ जाएँगे तब हम सहज में जान जाएँगे कि सिद्ध क्यों और किस अपेक्षा से जीव नहीं हैं ? फलत:—पहिले हम जीव के लक्षण को लेते हैं और इस लक्षण में किन्हीं आचार्यों को मत-भेद भी नहीं है—सभी ने तत्वार्थसूत्र के 'उपयोगो लक्षणम्' को स्वीकार किया है। इसका अर्थ है कि—जीव का लक्षण उपयोग है। जिसमें उपयोग हो वह जीव है और अन्य सब जीव से बाह्य हैं। अब हमें यह देखना है कि वह उपयोग क्या है? जो जीव में होता है या होना चाहिए ? इस विषय को भी हम आचार्य के वाक्यों से ही निर्णय में लाएँ कि उन्होंने उपयोग का क्या लक्षण किया है ?

उपयोग (जीव का लक्षण) :

१. 'स्व-पर ग्रहण परिणाम: उपयोग'

—धवला २/१/१, जी० कां० ६७२

—स्व और पर को ग्रहण करने वाला परिणाम उपयोग है।

२. 'मार्गणोपाय ज्ञान-दर्शन सामान्योपयोग:'

—गो० जी० जी० प्र० २/११/११

—मार्गण (खोज) का उपाय ज्ञान-दर्शन सामान्य उपयोग है।

३ उभयनिमित्त वशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायि-परिणाम: उपयोग'—सर्वार्थ २/८

—अंतरंग बहिरंग निमित्तों के वश से उत्पन्न होने वाला चैतन्यानुकूल परिणाम उपयोग है।

४ वत्थुणिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो'

—गो० जी० ६७२ पं० सं० प्रा० १/१७८

---

* नोट—उक्त संबंध में 'षट्खण्डागम' के भाषाकार विद्वान्-त्रय (डा० हीरालाल जी, पं फूलचंद जी शास्त्री तथा पं० बालचंद जी शास्त्री) द्वारा संपादित ग्रन्थ में लिखा है—'यद्यपि अन्यत्र जीवत्व; भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक मानकर इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध कहा है पर ये तीन भाव भी कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिए यहाँ इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध में नहीं गिना है" षट्ख० पुस्तक १४, विषयपरिचय। यदि वे इसका खुलासा कर देते तो समस्या हल हो जाती कि ऐसा भेद क्यों ? पर, यह समस्या हल हो—विद्वानों का इधर ध्यान जाय इसलिए प्रयास प्रारम्भ किया है।—लेखक

—वस्तु निमित्त उत्पन्न जीव का भाव उपयोग होता है।

५. **'लब्धि निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणामः उपयोग इत्युपदिश्यते'**—त० रा० वा० २/१८/१-२ (आवरण कर्म के क्षयोपशम रूप) लब्धि के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उक्त सर्व कथन उपयोग संबंधी हैं और उक्त सभी लक्षण जिसमें हों वह जीव है ऐसा मानना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि क्या उक्त लक्षण सिद्धो मे भी पाए जाते हैं? जिनके आधार पर उन्हें जीव कहा जा सके? जब हम विचारते हैं तो सिद्धो मे (नं० १)—स्व और पर का विकल्प ही नही दिखता और जब विकल्प नही तब उनके स्व-पर के ग्रहण का प्रश्न ही नही उठता, जो उनके उपयोग माना जा सके।

(नं० २)—जब सिद्धो में मार्गणा से प्रयोजन नही—उनमें मार्गणाएँ भी नही तब उनमे मार्गण (खोज) के उपाय की बात कहां?

(नं० ३)—स्वभाव और स्वाभाविक दशा मे निमित्त का प्रश्न ही नही, तब उपयोग कैसे सभव होगा? फिर निमित्त तो सदा वैभाविक मे पाया जाता है।

(नं० ४)—सिद्ध कृत-कृत्य हैं उनमें वस्तु के ग्रहण का भाव ही संभव नही, तब उपयोग कहां?

(नं० ५)—सिद्धो में कर्म ही नही तब क्षयोपशम जन्य लब्धि को निमित्त बनाकर परिणाम होने की बात ही पैदा नही होती। ऐसे में उपयोग होने का प्रश्न ही नही। अपितु इससे तो यही सिद्ध होता है कि क्षयोपशम को निमित्त बनाकर उत्पन्न परिणाम (उपयोग) संसारी-आत्माओं (जीवों) में ही होता है। कहा भी है—

'क्षयोपशम निमित्तस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति'

—धवला १/१/३३ पृ० २४८

—क्षयोपशमजनित उपयोग इन्द्रियों पूर्वक होनेसे। वह उपयोग क्षीण सम्पूर्ण कर्मों वाले सिद्धो में नहीं है।

इस प्रकार जो लक्षण जीव के बताए और जीव में पाए जाते हैं, उनमें से सिद्धों में एक भी घटित नहीं होता। फलत—जीव और सिद्ध को एक श्रेणी का मानना युक्ति-संगत नहीं ठहरता।

आगमो में उपयोग के लक्षण इस भाति और भी मिलते हैं—

१. यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणामः (प्र० मी० परिणाम-विशेषः) उपयोगः (सर्वा० सि० २/१८, प्रमाणमी० १/१/२४)
२. बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसंनिधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चै-तन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः (त० वा० २/८/२१)
३. उपयोगो ज्ञानादि व्यापार. स्पर्शादिविषयः (त० भा० हरि:० वृ० २-१०)
४. उपयोजनमुपयोगो विवक्षिते कर्मणिमनसोऽभिनिवेश (नन्दी० हरि० पृ० ६२)
५. अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः (प्रमाणा० वृ० ६१, लघीय० अभयवृ० १/५)
६. तन्निमित्तः आत्मन. परिणाम उपयोग:, कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात् (मूला० वृ० १/१६)
७. उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहण व्यापारः (प्र० क० मा० २/५
८. जन्तोर्भावो हि वस्त्वर्थं उपयोगः (भा० स० वाम ४०)
९. उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति जीवोऽनेन इत्युपयोग षडशीति-मलय० वृ० १-?)

उपयोग के उक्त लक्षणो मे एक भी ऐसा नहीं दिखता जो चेतन की अशुद्ध अवस्था (जीव) के सिवाय, चेतन की शुद्ध अवस्था 'सिद्ध' पर्याय मे पाया जाता हो। क्योंकि ये सभी लक्षण चेतन के पराश्रितपने को इंगित करने वाले हैं। ऐसे लक्षणो के सिवाय यदि कहीं किन्हीं आचार्यों ने उपयोग के लक्षण का ज्ञान-दर्शन के रूप मे उल्लेख कर भी दिया हो तो उसे कारण में कार्य का उपचार ही मानना चाहिए। और व्याख्याओं से उसे समझ लेना चाहिए। जैसे

'उवओगो णाणदंसणं भणिदो'

—प्रव० मा० २।६३-६४

'आत्मनो हि पर-द्रव्य-संयोगकारणमुपयोग विशेषः उपयोगो जीवस्य पर-द्रव्यसंयोगकारणमशुद्धिः। स॥

तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्त द्वैविध्यः'—टीका (श्री अमृतचन्द) ६३-६४

वास्तव में ज्ञान-दर्शन ये लक्षण चेतना के हैं, उपयोग के नहीं हैं। उपयोग तो विकारीभाव है और विकारी (संसारी) चेतना में ज्ञान-दर्शन के अवलम्बन से उत्पन्न होने से (कारण में कार्य का उपचार करके) उपयोग को दो प्रकार का कह दिया है (देखें—उपयोग क्या)

उपयोग के उक्त लक्षणो के सिवाय ये लक्षण भी देखिए और निर्णय कीजिए कि क्या सिद्धो में उपयोग है जो उन्हें 'जीव' श्रेणी मे बिठाया जा सके ?

१. 'स्व स्वलब्ध्यनुसारेण विषयेषु यः आत्मनः।
व्यापार उपयोगाख्यं भवेद्भावेन्द्रिय च तत्॥'
—लोकप्रकाशे० ३

२. 'उवजोगो णाम कोहादिकसायेहिं सह जीवस्स संपओगो।' जयधवला, (देखे कसायपाहुड, कलकत्ता पृष्ठ ५७६)

अपनी (क्षयोपशम) लब्धि के अनुसार विषयो मे आत्मा का व्यापार उपयोग है और वह भावेन्द्रिय है।

क्रोधादि कषायों के साथ जीव के सम्प्रयोग होने को उपयोग कहते है। मोह की सत्ता मे ही उपयोग होता है और वह सिद्धों मे नही है।

इसी भाँति अब हम सिद्धों के लक्षण देखें और उनसे जीव की तुलना करें कि कहीं ऐसा तो नही कि जो लक्षण सिद्धो के है, वे जीवो में खरे उतरते हो, जिससे जीवों और सिद्धो को एक श्रेणी का मान लिया जाय ? फलत:—यहाँ सिद्धों के स्वरूप पर विचार करते है।

सिद्ध स्वरूप :

आचार्यों ने सिद्धो के सबध में कहा है—

१. 'अट्ठविह कम्म वियला सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धाः॥'
—जी० कां० ६८/प० सं० १/३

२. णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणट्ठा।
परमपहुत्तंपत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का॥'
—नयच० वृ० १०७

३. 'णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति॥'
—निय० सा० ७२

४. 'णवि इदियकरणजुदा अवग्गहादीहिं गाहिया अत्थे।
णेव य इंदियसोक्खा अणिदियाणंदणाणसुहा॥

५. 'शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्यायः।'
प्र० सा०/ता० वृ० १०/१२/६

१. सिद्धआत्मा आठ प्रकार के कर्मों से रहित, शान्त' कर्मकालिमा रहित, नित्य, अष्टगुणयुक्त, कृतकृत्य और लोकाग्रवासी हैं।

२. जो अष्टकर्मक्षय होने से शुद्ध है, अशरीर हैं, अनंत-सुख और ज्ञान मे स्थित है, परम प्रभुत्व को प्राप्त है वे सिद्ध है और निश्चय से वे ही सिद्ध हैं।

३. जिन्होंने अष्टकर्मबंधों को नष्ट कर दिया है, जो परम आठ गुणो से समन्वित हैं, नित्य है और लोकाग्र मे स्थित हैं, वे सिद्ध ऐसे होते हैं।

४. वे सिद्ध इन्द्रियों के व्यापार से युक्त नही है और अवग्रहादिक क्षयोपशमिक ज्ञान के द्वारा पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं। उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान और अनतसुख अनीन्द्रिय है।

५. सिद्ध-पर्याय शुद्धआत्मोपलब्धि लक्षणवाली है।

ऊपर दिए गए सभी लक्षण, जो सिद्धों के हैं, उनमें देखा जाय कि कौनसे ऐसे लक्षण हैं जो संसारी (जीव नाम-धारी) अशुद्ध आत्माओं मे प्रकट है जिनसे उनकी सिद्धो से एकरूपता सिद्ध हो सके ? हमारी दृष्टि से तो उक्त लक्षणों के प्रकाश मे एकरूपता के स्थान पर जीवों और सिद्धों दोनों में सर्वथा-सर्वथा वैषम्य ही है। जीवों में आठो कर्म विद्यमान हैं, उनमे आठों गुणो की प्रकटता नही है, वे शान्त नहीं हैं, कर्मकालिमा रहित नहीं हैं, उनकी जीवत्व पर्याय नित्य नही है, वे कृतकृत्य नहीं हैं और लोकाग्र में अशरीर रूप मे विराजमान भी नही हैं। इसके विपरीत—जीव मे १४ गुणस्थान, चार गति, पांच इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व, और आहार हैं—वे सिद्धो मे नहीं है। छह पर्याप्तियों में से सिद्धों मे एक भी पर्याप्ति नही है, प्राण नही है, चार संज्ञाएँ नहीं हैं। ऐसे में जब सिद्धों के लक्षण जीव में नही और जीवों के लक्षण सिद्धो में नहीं

तब ऐसा ही मानना चाहिए कि—मान्य धवलाकार का मत सर्वथा ठीक और ग्राह्य है—'सिद्धा ण जीवा:।'

औपशमिकादि भाव : (जीव के भाव) :

जीवों के औपशमिकादि पांच भाव कहे है। उनमे से धवलाकार के मन्तव्यानुसार 'जीवत्व' आयुकर्माश्रित होने से औदयिक भाव है, वह सिद्धों मे नही और औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक भाव भी उनमे नही है। शेष बचे नव-केवल-लब्धिरूप क्षायिकभाव卐। सो नव लब्धियो में से क्षायिकदान (दिव्यध्वनि रूप में) क्षायिक लाभ (आहार लिए बिना ही दिव्य अनत पुद्गलो के आदान रूप मे) क्षायिक भोग (पुष्पादिवृष्टि रूप में) और क्षायिक उपभोग (अष्ट प्रातिहार्य रूप मे) अरहंतो मे है और केवलज्ञान, केवलदर्शन व सम्यक्त्व तथा वीर्य भी कर्मो की क्षय अपेक्षा में सशरीरी अरहन्तो केवलियो तक ही सीमित है। सिद्धो के तो सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व अव्यावाधत्व और अनतवीर्यादि सभी गुण सर्वथा ही पर-निरपेक्ष, स्वाभाविक और अनत है, उनमे किसी भी पर-भाव की अपेक्षा नही है। आचार्य श्री उमास्वामी और अन्य टीकाकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि—'**अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य:**' सूत्र में 'केवल' शब्द अन्य भावो के परिहार के लिए है (किसी गुण के विशेषण बनने के लिए नही)। सूत्र का अर्थ है कि अपवर्ग मे सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व के सिवाय (इनके सहचारी भावो को छोड़कर) **अन्य भाव नहीं होते**। तथाहि—'**अन्यत्रशब्दो वर्जनार्थ:' तन्निमित्त: सिद्धत्वेभ्य इतिविभक्ति निर्देश:**'—रा० वा० १०/४/१। फलत:—जीव और सिद्धो मे एकत्व स्थापित करना सभव नही। अत:—'सिद्धा ण जीवा' कथन ठीक है।

चेतन आत्मा का गुण : (चेतनत्व) :

आगमो मे उपयोग लक्षण के सिवाय एक लक्षण और मिलता है और धवलाकार ने उसका भी सकेत किया है और वह है चेतन का गुण—चेतना। (मालुम होता है आचार्य ने चेतना को चेतन का गुण माना है और जीव का गुण जीवत्व ही माना है—जिसे वे औदयिक मान रहे है) यहाँ चेतना से ज्ञानदर्शन अपेक्षित है। प्रतीत होता है कि उक्त लक्षण आत्मा के आत्मभूत लक्षण को दृष्टि मे रखकर किया गया है और धवला के 'चेदणगुणमवलम्ब्यरूविदमिदि' की पुष्टि करता है। तथा पूर्वोक्त 'उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम: उपयोग.' लक्षण आत्मा के अनात्मभूत लक्षण को दृष्टि मे रखकरकिया गया है। इनमे अनात्मभूतलक्षण का लक्ष्य कर्मजन्य जीवत्वपर्याय है, जो कर्मजन्य होने से छूट भी जाती है जबकि चेतना रूप त्रिकाली आत्मभूत लक्षण आत्मा की शुद्ध अशुद्ध दोनो पर्यायो में रहता है। मालुम होना है उपयोग के अनात्मभूत लक्षण को लक्ष्य कर ही आचार्य ने कहा है—'**संसारिण: प्राधान्येनोपयोगिनो मुक्तेषु तदभावात्**'

ससारी प्रधानता से उपयोग वाले है, मुक्तों मे उसका अभाव होने से।

'**उपयोगशब्दार्थोऽपि संसारिषु मुख्य: परिणामान्तरसंक्रमात्। मुक्तेषु तदभावात् गौण कल्प्यते।**'—राजवा० २/१०/४-५—उपयोग शब्दार्थ भी संसारियो मे मुख्य है, परिणामो से अन्य परिणामो मे संक्रमण करने से, मुक्त हुओं मे अन्य परिणाम सक्रमण का अभाव होने से उपयोग गौण कल्पित किया जाता है। स्मरण रहे कि अनात्मभूतलक्षण मे परिणामान्तरत्व है और वह ससारियो (जीवो) तक सीमित है जब कि सिद्धो मे अनन्तदर्शन-ज्ञान युगपत् होने से परिणामान्तरपने का अभाव है; वहाँ अनात्मभूत उपयोग का कोई प्रश्न ही नही। अन्यथा यदि उपयोग के उक्त अनात्मभूत लक्षण और आत्म-

---

卐 'अनंत प्राणिगणानुग्रहकर सकलदानान्तरायसक्षयादभयदानम्।'
कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभादाविर्भूतो······पंचवर्णसुरभि कुसुमवृष्टि-विविधदिव्यगन्ध-चरणनिक्षेपस्थान-सप्तपद्मपक्ति-सुगन्धित धूप-सुखशीतमारुतादय:······"
निरवशेषस्योपभोगन्तरायकर्मण: प्रलयात्......सिंहासनवालव्यजनाशोक पादपछत्रत्रय-प्रभामंडल गम्भीरस्निग्ध-स्वरपरिणाम-देवदुंदुभिप्रभृतय:।' आदि—राजवा० ।२।४।२—५,

भूत रूप चैतन्य लक्षण में अभेद होता—दोनो को एक माना गया होता (जैसा कि प्रचलित है—ज्ञानदर्शन ही उपयोग है) तो आचार्य भावेन्द्रिय के लक्षण में लब्धि (ज्ञान) और उपयोग इन दो शब्दों को पृथक्-पृथक् नहीं देते और ना ही उपयोग के लक्षण मे लब्धि को उपयोग (परिणाम) का निमित्त कारण ही बताते। स्मरण रहे कि निमित्त सदा स्व से भिन्न होता है। दूसरी बात चेतना का अनात्मभूत लक्षण—उपयोग क्षयोपशमादिजन्य होने से मात्र संसारियो (जीवों) में ही होता है। नित्य और शुद्ध चेतन—आत्मा में नहीं होता।

ऐसा भी प्रतिभासित होता है कि आत्मा के उक्त अशुद्ध और शुद्ध जैसे दो प्रकारोके परिचय कराने हेतु श्लोक वार्तिककार ने भी विधान किया है। वे लिखते है—निश्चय ही चैतन्यमात्र उपयोग नही होता, जिसे जीव का लक्षण माना जाय; अपितु उसके साथ कर्म के क्षयोपशमादिजन्य चैतन्यानुविधायी-परिणाम उपयोग होते है। यानी जीव मे चैतन्य (आत्मा का व्यापकगुण) और व्याप्य जैसे चैतन्यानुविधायी परिणाम—दोनो होते है तथा प्रधान (शुद्ध आत्मा जिसे हम सिद्ध नाम से कह रहे है) मे केवल चैतन्य होता है; चैतन्यानुविधायी परिणाम नही होते। इस प्रकार जीव और सिद्ध दोनो में क्रमश:—हेतुद्वय होने और न होने जैसे भिन्न-भिन्न दो विकल्प है। उक्त सदर्भ मे मालुम होता है कि मोक्षमार्ग प्रसग में 'जीव' नाम का जो सकेत है, वह मात्र चेतन (आत्मा) की अशुद्ध दशा को लक्ष्यकर जीव—अर्थात् ससारी को, क्रमवद्ध तत्त्वो के परिज्ञानार्थ है और क्रमवद्ध मोक्षमार्ग दिग्दर्शन मात्र में है, क्योंकि अशुद्ध को ही शुद्धि की ओर जाना होता है—शुद्ध तो स्वय वर्तमान में शुद्ध है ही, उसे सबोधन की क्या आवश्यकता?

'अत्र हि न चैतन्यमात्रमुपयोगो यतस्तदेव जीवस्य लक्षण स्यात्। किं तर्हि? चैतन्यानुविधायी परिणाम:, स चोपलब्धुरात्मनो, न पुन: प्रधानादे: चैतन्यानुविधायित्वाऽभावप्रसंगात्।'—'न चासावहेतुको वाह्याऽभ्यन्तरस्य च हेनोर्द्वयोपात्तनुपात्तविकल्पस्य सन्निधाने सति भावात्।'

—श्लोक वा० २/८

उपयोग के बारह भेद :

शास्त्रों में उपयोग के जो बारह भेद कहे गए हैं वे कर्मों की अपेक्षा में, चेतन के अनात्मभूत लक्षण को दृष्टि में रखकर किए गए हैं। क्योंकि उपयोग क्षयोपशम जन्य अवस्था में ही संभव है और सिद्धों में उसकी संभावना नहीं। सिद्धों में जो केवलदर्शन और केवलज्ञान का व्यपदेश है, वह असहाय दर्शन-ज्ञान के भाव में है—उपयोग के भाव में नही। अरहन्त भगवन्तों में भी जीवत्व के कारण, उपयोग-रूप में व्यपदेश उपचार मात्र है।

वास्तव में तो शुद्ध-चैतन्य अभेद है, उसमें जो मति-ज्ञान आदि जैसे भेद दर्शाए गए है वे कर्मापेक्षित दशा के सदर्भ मे ही है और उनके निमित्तान्तरोत्पन्न विभिन्न नामकरण भी परस्पर में एक दूसरे में भेद दर्शाने की दृष्टि से ही किए गए हैं—पृथक्त्व बताने को किए गए हैं—वे सब भेद परापेक्षित ही है। सिद्धों के स्वाश्रित होने से वे असहाय-अनन्त शुद्ध ज्ञान-दर्शन के धनी है। उनमे ज्ञान-दर्शन तो है पर, क्षयोपशम जन्य जैसा उपयोग नही है। और उपयोग न होने से वे जीव श्रेणी मे भी नही है। फलत:—'सिद्धा ण जीवा' कथन उचित है।

इतना ही नही। राजवार्तिककार ने तो जीव के लक्षण उपयोग को इन्द्रिय का फल तक कह दिया है—**इन्द्रियफलमुपयोग:**।'—२/१८/३ और कारण धर्म में कार्य की अनुवृत्ति मान ली है। ऐसे मे जब उपयोग इन्द्रियजन्य फल है तब वह फल अतीन्द्रिय, अशरीरी सिद्धों में कहां से कैसे पहुच गया? जो उन्हे उपयोग लक्षणवाले जीवों में बिठाया जाने लगा। यदि 'इन्द्र' शब्द के आत्मवाची रूप से यथा-कथचित् इन्द्रिय शब्द भी माना जाय, तो जहां चेतन का स्वरूप स्वाभाविक और कल्पनातीत है वहां फल मानने की कल्पना कोरी कल्पना खर-विषाणवत् ही होगी। धवलाकार तो पहिले ही कह चुके हैं कि—'क्षयोपशमजन्य उपयोग इन्द्रियजन्य है, वह सिद्धों में नही है।'—देखें धवला० १।१।३३, फलत:—'सिद्धा ण जीवा' यह आचार्य का वाक्य सर्वथा युक्ति-सगत है और ठीक है।

एक समाधान :

यद्यपि आयु के सबध से 'जीवत्व' मानने का राजवार्तिककार ने आपत्ति उठाकर खण्डन किया है और 'जीवत्व' को पारिणामिक मानने की पुष्टि की है 'आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्व न पारिणामिकमितिचेत्; न; पुद्गलद्रव्यसंबंधे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ।' ॥३॥—स्यादेतत्—आयुर्द्रव्योदयाज्जीवतीति जीवो नानादि पारिणामिकत्वादिति; तन्न, किं कारण ? पुद्गलद्रव्यसंबधेसत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् । आयुर्हि पौद्गलिकं द्रव्यम् । यदि तत्सबधाज्जीवस्य जीवत्व स्यात्; नन्वेवम यद्रव्यस्यापि-धर्मादेरायुः संबधाज्जीवत्व स्यात् ।" — रा० वा० २।७।३

उनका कहना है कि आयु पौद्गलिकद्रव्य है यदि पौद्गलिकद्रव्य के सबध मे जीवत्व माना जायगा तो अन्य धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों मे भी जीवत्व मानना पड़ेगा (क्योंकि उन द्रव्यों से पुद्गलों का सदाकाल सबध रहता है)

यद्यपि उक्त तर्क और समाधान प्रामाणिक आचार्य का है और ठीक होना चाहिए, जो हमारी समझ मे बाहर है—इसे विद्वान् विचारें। तथापि हम तो ऐसा समझ पाए है कि उक्त तर्क 'जीवत्व' के औदयिक-भाव, होने को निरस्त करने मे कैसे भी समर्थ नही होगा ? यत —उक्त प्रसग के अनुसार धर्म आदि द्रव्यों मे जीवत्व आ जाने जैसी आपत्ति इसलिए नहीं बनती कि जिस पुद्गलद्रव्य मात्र के सबध से अकलकस्वामी धर्म आदि द्रव्यों मे जीवत्व लाने जैसी आपत्ति उठा रहे हैं, वह पुद्गलद्रव्यमात्र के सबध की बात धवलाकार के मत मे मेल नहीं खाती। अपितु धवलाकार के मत मे वह मात्र पुद्गल द्रव्य ही नही बल्कि पुद्गलकार्मणवर्गणाओं मे कषायपूर्वक (फलदान की शक्ति को लिए हुए) स्थितिरूप मे आत्मा से बन्ध को प्राप्त आयु नाम का एक कर्मविशेष है, जो कि चेतन मे ही सभव है, धर्म आदि अचेतन द्रव्यों मे उसकी (इन द्रव्यों के अचेतन होने से) सभावना ही नही। फलतः उनमे जीवत्व आ जाने की शका करना अशक्य है। फिर, उदय क्षय, क्षयोपशम, आदि कर्मों से सबधित है —मात्रपुद्गल से सबधित नही। पुद्गल और कर्मपुद्गलो मे क्या भेद है इसे सभी जानते हैं। अतः स्पष्ट है कि धवलाकार अपनी दृष्टि में ठीक हैं—जीवत्व कर्मोदयजन्य* है और इसीलिए 'सिद्धा ण जीवा' जैसा कथन युक्ति-सगत है।

संसारी और मुक्त :

प्रश्न उठता है कि यदि धवलाकार आचार्य के मत मे 'सिद्ध भगवान् जीव-सज्ञक नही तो आचार्य ने जीवो के 'संसारिणोमुक्ताश्च' जैसे दो भेदो से समन्वय कैसे बिठाया? इस विषय मे हम ऐसा समझ पाए है कि —जहां तक जीव सज्ञा या जीवत्व का प्रश्न है, आचार्य इसे औदयिकभाव जन्य मानते है और वह औदयिक होने से ही सिद्धो मे सभव नही। हां, जहाँ आचार्य ने उक्त प्रसग से जीव और जीवत्व का निषेध किया वहाँ यह भी कह दिया है कि चेतन के गुण को अवलम्बन कर प्ररूपणा की गई है। इससे विदित होता है कि आचार्य की दृष्टि शुद्धत्वाश्रित रही है और इस प्ररूपण मे उन्होंने चेतन के गुण को मूल स्थाई मानकर उसे जीवत्वपर्याय और सिद्धत्वपर्याय जैसे दो भागो मे बाँटा है। चेतन की सर्व कर्मरहित अवस्था सिद्धपर्याय है और कर्म सहित चेतन की अवस्था (कर्मजन्य होने से) जीवपर्याय है और जीव-संज्ञा ससारावस्था तक ही सीमित है—अन्य आचार्यों की मान्यता जो हो ?

यदि कथचित् हम जीवो मे भी संसारी और मुक्त खोजने लगे और वह इसलिए कि ये जीवो के ही भेद कहे गए है। तो हम इस पर विचार कर सकते है कि छद्मस्थजीव ससारी और केवलज्ञानी जीव मुक्त कहे जा सकते है। क्योंकि अर्हन्त जीव है और वे चेतनगुणघाती चार घातिया कर्मों से मुक्त हो चुके है — उन्हे आत्मगुणो की पूर्ण प्राप्ति हो चुकी है, उन्हे सकल-परमात्मा और जीवनमुक्त कहा ही गया है। यहाँ जीवन्मुक्त का अर्थ जीव होते भी मुक्त है —ऐसा लेना चाहिए। शेष चार अघातिया कर्म तो जली रस्सी की भाँति अकिंचित्कर

---

* 'आऊदयेणजीवदि एव भणंति सव्वण्हू ।' — कुन्दकुन्द, समयसार— २५१-२५२
'जीवित हि तावज्जीवाना स्वायुकर्मोदयेनैव' — अमृतचन्द्राचार्य० वही

हैं उन कर्मों की स्थिति शरीराश्रित होने मात्र है, और वे अग्नि में तप कर शुद्ध हुए स्वर्ण के ऊपर उभरी हुई उस किट्टकालिमा की भाँति है जिसका स्वाभाविक रूप से झड़ना शेष हो--जो स्वयं झटके में झड जाती हो--सुवर्ण में पुनः विकार न कर सकती हो। मोक्ष मे जिन्हे 'मुक्तजीव' नाम से कहा जा रहा है, वे मुक्त चेतन है। जीव-पर्याय की तो उस अवस्था तक पहुंच ही नही है।

उक्त सभी कथन से ऐसा न समझना चाहिए कि मूल-तत्त्व मे भेद हो जायगा या कमी-वेशी हो जायगी। यह तो आचार्यों की कथनशैली और व्यापक-चिन्तन का परिणाम है, नाम बदलाव है। 'जीव या जीवत्व' न कहा 'चेतन या चेतनत्व' कह दिया शुद्ध पर्याय को 'मुक्तजीव' न कहा 'सिद्ध' कह दिया। मूल तो रहा ही। सब अपेक्षा दृष्टि है।

द्रव्य का लोप नहीं :

हम यह पुनः स्पष्ट कर दे कि हम अपना कुछ नही लिख रहे, आचार्य की दृष्टि समझने का यत्न ही कर रहे है। मालुम होता है कि आचार्य की दृष्टि मे 'सद्द्रव्य-लक्षणम्', गुण-पर्ययवद्द्रव्यम्' और 'नित्यावस्थितान्य-रूपाणि' तीनों सूत्र रहे है और उन्होने तीनों की रक्षा की है। वे चेतन के चैतन्य गुण की त्रिकाली सत्ता को स्वीकार कर उसे सत् और नित्य बनाए रहे है और कर्म-जन्य जीवत्व पर्याय को 'सिद्धत्व' रूप मे स्वीकार कर परिवर्तन भी मानते रहे हैं। और पहिले लेख मे हमने भी बार-बार संज्ञा के बदल व की ही बात लिखी है—किसी मूल के ध्वस की नही। यत.—हमारा लक्ष्य आचार्य को समझना है, जनता मे वितण्डा करना नही। यदि किसी पिता ने किसी कारणवश अपने बेटे का नाम विजय से बदलकर संजय कर लिया, तो क्या उस बदलाव से मूल बेटे का लोप हो गया? जो ना समझी मे उसकी माँ रोने बैठ जाय और स्थिति को न समझ, नाम बदलने वाले को कोसने लगे?

स्मरण रहे आचार्य जीवत्व को शुद्धतत्त्व मानकर नही चले अपितु उन्होने चेतन की अशुद्ध पर्याय-जीवत्व को औदयिक पर्याय और शुद्ध चैतन्य को 'सिद्धत्व' रूप में देखा है। इन दोनों पर्यायो में लक्षणभेद (जैसा ऊपर दिखाया) से भेद है : यतः हर जीव मे दस प्राणो मे न्यूनाधिक प्राण है। यहाँ तक कि विग्रह गति म भी यह जीव काय प्राण से अछूता नही—वहाँ भी तैजस और कार्माणरूप काय-प्राण विद्यमान है। आचार्य के मन्तव्य के प्रकाश में यह सिद्ध होता है कि—कर्मोदयाश्रयी-औपाधिक जीव-जीवत्वसंज्ञक जैसे दोनों नाम और भाव स्थायी नही—कर्म-सत्ता पर्यन्त है और सर्व-कर्मों के विच्छेद को प्राप्त चैतन्य-आत्मा सिद्ध-सिद्धत्व संज्ञक है।

नयों की सीमा :

स्मरण रहे—नय वस्तु के एक देश को ग्रहण करता है। जिस समय एक नय उभरता है तब दूसरा नय मौन स्थिति मे बना रहता है—उभर कर समक्ष आए और गौण किए गए किसी तत्त्वांशका अस्तित्व समाप्त नही हो जाता। भाव ऐसा है कि नय द्वारा किए विवेचन मे द्रव्य के गुणो और पर्यायो को पूरा ग्रहण न किया जाने से उस विवेचन को पूर्ण नही माना जा सकता—जैसा कि लोक-व्यवहार बन गया है—'अमुक नय से ठीक है और अमुकनय से ठीक नही है।' यदि एक नय से ही सर्वथा अर्थ का ग्रहण या ज्ञान हो जा सकता होता तो प्रमाण की आवश्यकता ही न रह जाती? फलत. जहाँ भी वस्तु का विवेचन नयाधीन हो, वहाँ दोनों नयो के दृष्टिभूत पूर्ण तत्त्व को एक साथ लेकर चलना चाहिए। उदाहरणतः—

'तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणोय।
व्यवहारा सो जीवो णिच्चयणयदोदुचेदणा जस्स॥'

अर्थात् जिसमे प्राण हो उसे व्यवहारनय से और जिसमे चेतना हो उसे निश्चयनय से जीव कहा है। इसमे न केवल व्यवहार से कहा गया पूर्ण जीव है और न केवल निश्चय से कहा गया पूर्ण जीव है अपितु दोनो को मिलाकर कहा गया जीव है। यानी जीव मे एक काल मे प्राण भी है और चेतना भी है। यदि अकेले प्राण ही जीव का लक्षण हो या अकेली चेतना ही जीव का लक्षण हो तो नयाधीन होने से यह पदार्थ की एकपक्षीय (अधूरी) ही पकड होगी*—जब

* 'प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो न ज्ञानम्, तत्र वस्त्वध्यवसायस्यार्पितवस्त्वंशे प्रवाशतानर्पित वस्त्वंशस्य प्रमाणत्वविरोधात्। किं च **न नयः प्रमाणम्**, प्रमाणव्यपाश्रयस्य वस्त्वध्यवसायस्य तद्विरोधात्।'···भिन्नकार्यदृष्टेर्वा **न नयः प्रमाणम्**।'– १६६ —जयधवलासहिदेकषायपाहुडे पेज्जदोसविहत्ती १ गाथा १३-१४ पृ० २००

कि दोनों ही नय स्वतंत्र रूप से एक देश को ही ग्रहण करते हैं और पदार्थ अपने मे पूर्ण होता है और पूर्ण पकड़ नय के वश की बात नही। फलतः पूर्णवस्तु-ज्ञान के परिप्रक्ष्य मे दोनों नयो-ग्राह्य लक्षणो को समकाल मे मानना ही युक्ति संगत है और आचार्य ने भी एक साथ ही दोनों नयो द्वारा जीव का लक्षण किया है—जो प्रमाणभूत है और इस भाँति जीव में प्राण और चेतना दोनो ही एक साथ में मानना युक्ति सगतहै—जीव में दोनो लक्षण एक साथ होने ही चाहिए और है तथा उक्त भाव लेने से गाथा में गृहीत 'तिक्काले' की सगति भी बैठ जायगी। अन्यथा 'तिक्काले चदुपाणा' मे 'तिक्काले' का क्या भाव है? यह भी सोचना पड़ेगा। सिद्धो मे तो केवल एक चेतना मात्र है। इस भाँति धवला का 'सिद्धा ण जीवा' युक्ति सगत और ठीक है।

उपयोग क्या ?

चलते-चलते इस प्रसग मे हम एक बात और स्पष्ट कर दें कि उपयोग के उक्त लक्षणो के प्रकाश से उपयोग का अर्थ मात्र शुद्ध ज्ञान या शुद्ध दर्शन मात्र जैसा नही ठहरता अपितु उपयोग 'आवरणकर्म के क्षयोपशम निमित्त को पाकर होने वाले चैतन्यानुविधायि परिणाम' का नाम होता है। इस उपयोग मे अशुद्ध चेतना (ज्ञान-दर्शन) कारण है और उन कारणों से होने वाला परिणाम उपयोग है और वह उपयोग दो प्रकार के अवलवनो से होने के कारण दो प्रकार का कहा गया है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जो उपयोग ज्ञानपूर्वक होता है वह ज्ञानोपयोग और जो दर्शनपूर्वक होता है वह दर्शनोपयोग कहलाता है और इस प्रकार मतिज्ञानादि के निमित्त से होने वाले उपयोग उस-उस ज्ञान के नाम से मतिज्ञानोपयोग आदि कहलाते है और चक्षु आदि पूर्वक होने वाले उपयोग चक्षुदर्शनोपयोग आदि नाम से कहे जाते है। इसी प्रकार के उपयोग जीव के लक्षण है और इस प्रकार के उपयोग जीव में ही होते है, सिद्धो मे नही। इसीलिए जीव के लक्षण मे कहा गया है—'उपयोगो लक्षणम्।' भाव ऐसा है कि जहाँ चेतना उपयोग रूप हो वहाँ जीव संज्ञा है और जहाँ चेतना शुद्ध—ज्ञान-दर्शन रूप हो वहाँ 'सिद्ध' संज्ञा है और इसीलिए धवलाकार ने कहा है—'सिद्धा ण जीवा:।'

आत्मा शब्द का प्रयोग :

मोक्ष और मुक्त मे क्या अन्तर है यह तो हम बाद में कभी लिखेंगे। हाँ हमने मोक्ष प्रसंग में आचार्यों के कई ऐसे मन्तव्य देखे है, जिनमें चैतन्य आत्मा की शुद्ध अवस्था होने का उल्लेख है, (कही जीव की अवस्था का निर्देश हो तो हमें मालुम नही) तथाहि—

'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।'—सर्वा० : प्रारम्भिक०

'जीवहँ मो परमुक्खु मुणि, जो परमप्पय लाहु।
कम्मकलक विमुक्काहु, णाणिय बोल्लहिँ साहु॥
परमात्मलाभो मोक्षोभवतीति················।
—परमात्म० १३६

'कृत्स्नकर्मवियोगेसति स्वाधीनात्यन्तिक ज्ञानदर्शनानुपमसुख आत्मा भवति।—त० रा० वा० १।४।२०

'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।'
—द्रव्य० ३७

'आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः।'
—समय० आत्मख्याति २८८

'निर्मलो निष्कल. शान्तो निष्पन्नो उत्यन्तनिर्वृत्तः।
कृतार्थ. साधु बोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम्॥'
—ज्ञाना० ३।६

इसके सिवाय द्रव्य-सग्रह के मोक्षाधिकार में 'आत्मा' शब्द की भरमार है, जीव शब्द की नही। शायद जीव का परिहार करने या आत्मा और जीव मे भेद दर्शाने के लिए ही ऐसा किया गया हो अन्यथा प्रारम्भसे जीव को प्रमुख करके व्याख्यान करने के बाद, मोक्षाधिकार मे उसकी उपेक्षा क्यो? देखें—आत्मा के निर्देश—द्रव्य-सग्रह गाथा, ३६, ४०, ४१ ४२, ५०, ५१, ५२, ५३ और ५६ आदि।

मूलतत्त्व क्या ?

विचारना यह भी होगा कि जिस जीव तत्त्व को मोक्ष क्रम मे मूल मानकर चला जा रहा है वह 'जीव' मूल तत्त्व है या मोक्षमार्ग दर्शाने के प्रसग मे चेतन की अशुद्ध—ससारी अवस्था? या उसके मूल मे कुछ और बैठा है?

यदि उसके मूल में कुछ और बैठा है तो मूल तत्त्व 'जीव' कैसे होगा ? वहाँ तो जो बैठा है वह ही मूलतत्त्व होगा—मूल तत्त्व वह होगा जिसके कारण जीव 'जीव-संज्ञक है'। इस प्रसंग में इस प्रश्न का समाधान अपने मे कीजिए कि वह जीवत्व के कारण जीव है या जीव होने के कारण से उसमें जीवत्व है ? हमारी दृष्टि से तो जीवत्व होने के कारण से उसकी जीव संज्ञा है न कि जीव संज्ञा पहिले और जीवत्व बाद में है। यदि जीवत्व के कारण से जीव है तो जीवत्व के औदयिक होने से जीव-संज्ञा भी नश्वर ठहरती है। यदि हमारा कथन ठीक हो तो मूलतत्त्व चेतन, अचेतन (जैसा कि आचार्य को अभीष्ट है) ही ठहरेंगे और जीव, जैसा नाम कर्म-जन्य और व्यवहार मे आया हुआ रूप ही ठहरेगा। फलतः— जीव के संबंध मे, आगम के परिप्रेक्ष्य मे जिसे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' लक्षण से कहा गया है, वह मूल-द्रव्य चेतन—आत्मा है और 'जीव' व 'सिद्ध' दो उसकी पर्यायें है और 'जीवत्व व 'सिद्धत्व' उनके गुण हैं। इसीलिए 'चेदणगुणमवलम्बिय परुविद' ऐसा कहा है और इसी चेतन का शुद्धरूप 'सिद्ध' है, फलतः—'सिद्धा ण जीवा ।' कथन ठीक है।

फिर यह भी सोचिए कि जब जीव से जीवत्व और चेतन से चेतनत्व शब्दो की संगति उपयुक्त हो, तब जीव मे कर्मोदयजन्य जीवत्व जैसी उचित संगति को त्याग कर, जीव में विषम-शब्द चेतनत्व की संगति बिठाना और कहना कि— जीव का गुण चेतनत्व है, कहाँ तक उचित है—जब कि जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग क्षयोपशमजन्य होता है। फिर—तब, जब कि जीव-जीवत्व, चेतन-चेतनत्व जैसे दो पृथक्-पृथक् नाम और गुण भी पृथक्-पृथक् रूप मे प्रसिद्ध हो। हमारा कहना तो ऐसा है कि जीव का गुण जीवत्व है और चेतन का गुण चेतनत्व है—दोनों पृथक्-पृथक् नाम और पृथक्-पृथक गुण है। चेतन-चेतनत्व शब्द व्यापक हैं और जीव-जीवत्व शब्द व्याप्य (संसार तक सीमित) हैं। आचार्य की दृष्टि मे औदयिक होने से 'जीवत्व' नश्वर है और चेतन त्रैकालिक सत्तावान है। इसीलिए आचार्य ने चेतन के गुण को प्रमुखता देकर जीवत्व का परिहार किया है और इसी परिप्रेक्ष्य में कहा है—'सिद्धा ण जीवा ।'—

क्या अशुद्ध की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ?

उक्त प्रसंग को लेकर किसी ने हमारा ध्यान इस ओर भी खीचा कि यदि 'जीव'-को चेतन की अशुद्ध पर्याय मानेंगे तो सम्यग्दर्शन के लक्षण मे सात तत्त्वो के श्रद्धान मे जीव (अशुद्ध पर्याय) का श्रद्धान क्यो कहा ? क्या अशुद्ध का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ? प्रश्न तो उचित है; पर, हम इस विषय मे ऐसा समझे है कि—

मोक्षमार्ग के प्रसंग मे भेद-विज्ञान को प्रमुखता दी गई है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी बिना भेद-विज्ञान के नही होते। स्व मे स्व-रूप और पर मे पर-रूप से श्रद्धा व ज्ञान करने से सम्यग्दर्शनादि होते है। जहाँ केवल एक (शुद्ध या अशुद्ध) ही हो वहाँ भेद-विज्ञान कैसा ? किसका और किससे ? मोक्षमार्ग की खोज भी क्यों होगी ? अतः जीवादि के श्रद्धान व ज्ञान को ही मोक्षमार्ग कहा है। जीव मे चेतन 'स्व' है और विकारी भाव 'पर' है—इनसे ही भेद-विज्ञान सध सकेगा और मोक्षमार्ग बन सकेगा। इसके अतिरिक्त जो मोक्ष हो चुके है—जिन्हे मार्ग की खोज नही, उनमे सम्यक्त्व 'आत्मानुभूति' के लक्षणरूप मे विद्यमान हो है—भेद-विज्ञान की अपेक्षा नही। ऐसी आत्माओं को लक्ष्यकर ही कहा गया है—'सिद्धा ण जीवा ।'—

वीर सेवा मंदिर दिल्ली-२

जरा सोचिए

१. अपरिग्रह की जीवित मूर्तियों की रक्षा :

हमने कब कहा कि—जो विचार हम दें उन्हें लोग मानें ? तथ्य को न मानने का तो लोगो का स्वभाव जैसा बन बैठा है। भला; जब लोगों ने तीर्थंकरो के बताए अपरिग्रह मार्ग की अवहेलना कर उस मार्ग पर अनुगमन न किया, परिग्रह जुटाने मात्र मे लगे रहे, तब हम किस खेत की मूली है, जो उन्हें अपनी बात मनवा सके ? खैर, लोग मानें न माने. फिर भी हमे तो अपनी बात कहना हो है, अस्तु । हम अपरिग्रह के विषय को ही आगे बढा रहे हैं और पुनः लिख रहे हैं कि यदि लोग परिग्रह-परिमाण न कर सकें तो न करे; पर, अपरिग्रह की जीवित मूर्तियो को तो तीर्थंकर मार्ग पर चलने दे, उनको मार्ग से च्युत करने के साधन तो न जुटाएँ। स्मरण करे कि—वह कौन-सी शुभ घडी रही होगी जब उन्होने परिग्रह से मुँह मोड, इस दिशा मे पग बढाया होगा —नग्न होकर परीषह सहने और ममत्व-त्याग के भाव में कच-लोंच किया होगा। यदि हम उन्हें आदर्श-मुनि, त्यागी बने रहनेमे साधन बन सकें, उन्हें शिथिल न करने जैसे साधन जुटाते रहे, तो जिन-धर्म का अपरिग्रही—वीतरागी मुनि-मार्ग सदा-सदा अक्षुण्ण रह सकेगा तथा उसके सहारे लोग भी जैनी बन या बने रह सकेगे।

मानव बडा स्वार्थी बन गया है। अपने स्वार्थपूर्ति के मार्ग मे कुछ लोग अन्यो की गरिमा या उनके पदो तक का ख्याल नही करते। जैसे भी हो वे उनसे सासारिक भोगो की कामना रखते हैं दि० त्यागियो को भी घेरे रहते है और वहाँ भी अपनी यश-प्रतिष्ठा कायम रखना चाहते है, आखिर क्यो न हो ? वे भी तो उन्ही स्वार्थी मानवो में से हैं, जिन्हें मानव संबोधन देते भी लज्जा आती है। भला, कहाँ का न्याय है कि लोग अमानवीय कृत्य करते रहे, मान्यों और पूज्यों को गिराने के साधन जुटाते रहे और मानव कहलाएँ ?

हमने पहिले इशारा किया था वह जीवित धर्म-मूर्तियों की अक्षुण्णता के मार्ग में था। हमने लिखा था—'मुनि श्री के बहाने हम ऐसी किसी भी सस्था के खडे करने के पक्ष मे नही, जिसमे अर्थ सग्रह करने या उसके हिसाब के रख-रखाव का प्रसंग हो। हम तो मुनि श्री को प्रचार के साधनों—टेप-रिकार्डर, माइक, वीडियो और मच आदि से भी दूर देखना चाहते हैं। हम चाहते है कि —मुनि श्री का घेराव न किया जाए। यदि उनमे कुछ धर्मोपदेश सुनना हो तो उनके ठहरने के स्थान पर जाकर ही सुना जाय। मुनि श्री का जयकारा करना कराना उन्हें समूह की ओर खींचना उन्हे मार्ग से च्युत करने जैसे मार्ग है। इनसे साधु का अह बढ़ता है, यशलिप्सा होती है, राग-रजना होती है, और वह जिसके लिए दीक्षित हुआ है उस स्व-साधना से वचित रह जाता है, पर-सुधार के चक्कर मे पड़ जाता है : आदि।

अभी-अभी हमे एक पत्र मिला है जो एक प्रतिष्ठित सभ्रान्त ज्ञाता का है और जो मुनिभक्त भी हैं। पाठक देखे कि आज अवस्था कितनी शोचनीय बन गई है ? वे लिखते है—

"अब तो त्यागीवृन्द (क्षुल्लक ब्रह्मचारी आदि) नई-नई सस्थाएँ बनाते जा रहे हैं तथा किसी मुनि के साथ रहकर उनके नाम और प्रभाव से खूब चन्दा बटोरते हैं : लोग तो कहते है कि घर को भी भेजते है, संघ में जो सचालिका नाम के जीव है, वे चौके लगाती हैं, आहार दान वसूल करती है और उनके चौके में जो आहार देना चाहें वे २१/= या ३१/= अर्पित कर सकते हैं।" उन्होंने यह भी लिखा है कि उन्होंने "जो बातें लिखी और कही हैं वे सुनी हुई नही, आखो देखी हैं अतः सूर्य की धूप की तरह सत्य है" वे लिखते हैं—हमारे कुछ मान्य विद्वान् इन सब बातों को अनदेखी करने के पक्ष में हैं, वे उपगूहन पर तो जोर देते है किन्तु न जाने क्यो, स्थितिकरण के लिए प्रयत्नशील नही होते।'

हम उक्त पत्र का लम्बा-चौड़ा क्या उत्तर लिखते ? हमने तो उनसे साधारण निवेदन कर दिया कि—आश्चर्य है कि आप अब अभी भी ऐसे लोगों को मान्य-विद्वानों जैसे संबोधित कर रहे हैं, जब कि वे ऐसे कृत्य करके न मान्य रहे और ना ही विद्वान्। यदि वे मान्य-विद्वान् होते तो स्थितिकरण के लिए प्रयत्नशील होते। पर, होते कैसे ? शायद स्थितिकरण मे उनकी दक्षिणा और चन्दा-चिट्ठा के मार्ग की क्षति हो जाती होगी,—अवश्य ही वे अर्थी होंगे। मुनि के मुनि पद मे स्थितिकरण होने पर मुनि उनकी दक्षिणा और उनके चन्दा-चिट्ठा मे कैसे सहायी हो सकते। अस्तु ! उक्त बातें धर्म-रक्षा में कहाँ तक समर्थ हो सकती है ? जरा सोचिए !

२. विद्वानों की रक्षा और वृद्धि :

'पंडित और मसालची, ये समान जगमाँहि।
औरन को दें चाँदना, आप अँधेरे माँहि॥'

उक्त दोहा हमे किसी ने लिखा है। हमे संतोष है कि किसी ने तो वास्तविकता को समझा। वरना, इधर तो निम्न दोहे का अनुसरण करने वाले ही अधिक सख्या मे दिखते हैं—

'करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।'
और तब हम सोचते है—
'रे गन्धी मति-अध तू अतर दिखावत काहि॥'

हां, यह बिल्कुल ठीक ही तो है कि मसालची और सच्चा पंडित दोनो की उदारता की समता नही—दोनो ही स्व-लाभ न लेकर दूसरो को लाभान्वित करने मे अपना और आश्रितो का पूरा जीवन तक बेबसी और भटकन मे गुजार देते हैं और फिर भी उन्हे भर्त्सना के सिवाय कुछ नही मिलता। सच भी है, जब वे मति-अध गंधी की भांति अपनी ज्ञान-रूपी गन्ध अनाड़ियो मे बाँटते फिरें, तब नतीजा तो यही होना था।

हमने किसी से कहा था कि जिस दिन समाज के बीच से पंडित और त्यागी उठ जाएँगे (पंडित तो प्राय: उठ रहे हैं और त्यागियो को कुछ श्रावक उठाने के जबरदस्त प्रयत्न मे हैं) उस दिन समाज को कोई नही पूछेगा। आज जो लोग गर्व से अपने को जैन घोषित कर रहे हैं, उनकी आगे की पीढ़ियाँ अवश्य ही अपना मुँह छिपा अपने को जैन लिखना तक बन्द कर देंगी, ऐसी सम्भावना है। पंडितों और त्यागियों को ही यह श्रेय प्राप्त है, जिसके कारण आज धर्मक्षेत्र मे साधारण से साधारण व्यक्ति भी सरेआम सिर उठाकर 'जैन धर्म की जय' बोलता नजर आता है। वरना—

हमें वह समय भी याद है और देखा है—जब जैनियों को सरे-आम नास्तिक कहा जाता था और बात-बात मे ललकारा जाता था कि वे अपने धर्म के सिद्धान्तों की प्रमाणिकता सिद्ध करें। और जैनी थे, कि अपने को पग-पग पर सहमा-सहमा जैसा महसूस करते थे—निराश होते थे। ऐसे में पंडितो के एक सगठन की ही सूझ-बूझ और हिम्मत थी, जिसने अपने स्वार्थों को ताक में रख जगह-जगह शास्त्रार्थ करके धर्म का उद्योत किया और जैनियो को चैन की साँस लेने के योग्य बनाया। यदि सबूत लेना है तो पूछिए—परलोक मे जाकर स्व० पं० मंगलसेन जी वेद-विद्या-विशारद से, पं० राजेन्द्रकुमार जैन से, पं० अजितकुमार शास्त्री से, पं० तुलसीराम जी काव्यतीर्थ से पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ से और बीधूपुरा-इटावा के ब्र० कुंवर दिग्विजय सिंह जी आदि से और मध्यलोक में जाकर पूछिए—दि० जैन सघ मथुरा की फायलों से (यदि हों तो) कि कैसे समय पर पंडितो ने धर्म-रक्षा और प्रभावना के लिए क्या किया ? स्व० गुरुवर्य पं० गोपालदास वरैया व स्व० पं० मक्खनलाल जी मुरैना से भी जाकर पूछिए।

जब विश्वनाथ नगरी काशी मे जैन-ग्रन्थो का सरे आम अपमान होता था, तब पंडित-त्यागियो ने क्या किया, उन्होने कैसे जैन आगम की रक्षा और महत्ता-प्रकाश का मार्ग खोला ? यह पूछना हो तो स्वर्ग मे जाकर पूछिए पू० क्षु० पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी, बाबा भागीरथ जी वर्णी से और पूछिए वहाँ के बाद के कार्यकर्ता ब्र० सीतलप्रसाद जी से। कि कैसे इन सबने वहाँ विद्या के अध्ययन के लिए 'स्याद्वाद महाविद्यालय खोला ?

हम फिर लिख रहे हैं कि—अपने श्रावक पद की गरिमा रखिए, त्यागियो को परिग्रह के चक्कर मे न फँसाइए और उनके नाम पर नाजायज लाभ भी न उठाइए। फिर, वह लाभ यश-संबंधी हो या अर्थ-संबधी ही क्यों न हो ?

दोनों ही लाभों के लोभ का त्याग करिए। विद्वानो की वृद्धि और रक्षा करिए, त्यागियो का स्थितिकरण करिए और जो शुद्ध है उन्हें शुद्ध रहने दीजिए और निम्न दोहे के विषय मे गहराई से सोचिए, जरा ठण्डे दिल से—

'पंडित और मसालची ये समान जग-माँहि।
औरन को दें चाँदना आप अँधेरे माँहि॥'

३. तीर्थ-क्षेत्र रक्षा :

तीर्थ धर्म को कहते है और धर्म है वीतरागता व अपरिग्रहरूप। और क्षेत्र स्थान को कहते है जो है परिग्रह का एक भेद। कैसा बेजोड जोड़ है तीर्थ और क्षेत्र का? ऐसे बेजोड जोड़ का जोड़ बिठाना बड़ी हिम्मत का काम है और तीर्थंकरो ने इसे बिठाया—क्षेत्र को भी तीर्थ रूप कर दिया भूमि भी धर्मरूप मे पूजा को प्राप्त हुई। क्षेत्र भी लोगो को तीर्थरूप मे अनुभूत हुए—वहाँ जाकर उनके भाव भी बदलने लगे। ठीक ही है—वह चन्दन ही क्या जो अपनी बास से अन्यो को सुवासित न करे? वरना, तत्त्व-दृष्टि से तो यह कार्य अशक्य और असभव ही था—धर्म और परिग्रह (क्षेत्र) को एक साथ बिठाना, जो तीर्थंकरो ने किया।

जब अर्से से लोगो ने तीर्थक्षेत्रो की रक्षा की माँग दी है और आज यह कार्य जोरो पर है, तब उक्त स्थिति मे हमे आचार्य समन्तभद्र का 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' याद आ है। भला धर्मात्माओ के बिना धर्म कहाँ सुरक्षित रह है? धर्मरूप तीर्थंकर, क्षेत्रो को धर्मरूप बना सके, परपरित मुनि-श्रावक तीर्थ और क्षेत्रो की रक्षा म समर्थ हुए, पर, आज तो इन दोनो श्रेणियो मे ही आचार-विचार दोनो भाँति ह्रास है, तब धर्म और क्षेत्रो की रक्षा कैसे होगी? यह गम्भीर प्रश्न बन गया है। हमारा ख्याल तो ऐसा है कि—हम ससारियो के स्वभावत परिग्रही होने से हमारी दृष्टि भी मात्र परिग्रह (भूमि) पर ही केंद्रित रह गई है और उसी के लिए हम प्रभूत धन-सग्रह मे लगे हैं। फलत:—हम धर्म से मुखमोड़ मात्र क्षेत्र (भूमि-भवन) की रक्षा हेतु उद्यमशील है और येन-केन प्रकारेण उसे ही स्व-कब्जे मे रखना चाहते है और उस तीर्थ—धर्म को भूल रहे हैं जिसके कारण क्षेत्र, तीर्थ क्षेत्र कहलाए।

लिखने की आवश्यकता नही और इसे लोग जानते भी हों, शायद उनमें चिन्ता भी व्याप्त हो कि कैसे और किस प्रकार तीर्थक्षेत्र आज धर्म क्षेत्र के रूप में सुरक्षित रह सकेगे? कुछ तीर्थों पर तो पिकनिक जैसे वे सब साधन तक मिलने लगे है जो धर्म से सर्वथा दूर और राग-रंग की ओर आकर्षित करने वाले है। जैसे राग-रंग के वीडियो कैसिट, फिल्म, टी० वी० आदि। जहाँ उस काल में मुनियों ने तपस्या करके-परीषह सहकर और श्रावकों ने घर से अल्प-काल की विरति लेकर व्रत उपवास, पूजा-पाठ, धर्म ध्यान कर तीर्थ और क्षेत्र की रक्षा की वहाँ आज लोग क्षेत्र पर जाकर कूलर, हीटर, फिर एयर कण्डीशन्ड कमरे और गृहस्थी के न जाने कौन-कौन से सासारिक सुख सजोने मे लगे है? ऐसे मे कैसे होगी तीर्थ-रक्षा या कैसे होगी तीर्थ-क्षेत्र रक्षा? यह टेढा प्रश्न है। हाँ, ऐसे में यह तो हो सकता है कि हम परिग्रही लोग—परिग्रही नाम सार्थक करने के लिए येन-केन प्रकारेण क्षेत्र (भूमि) की स्व-स्वामित्व हेतु—रक्षा कर सके, पर धर्म रक्षा तो उक्त सभी परिग्रह मे ममत्व छोड़े बिना, परिग्रह परिमाण किए बिना सर्वथा असभव ही है। जबकि लोग परिग्रह छोड़ना तो दूर—परिग्रह-परिमाण (वह भी थोड़े दिन का भी) करने को भी तैयार नही। ऐसे मे हमारी दृष्टि मे तो ममत्व छोड़े बिना धर्मरक्षित नही और धर्म की अरक्षा मे धर्मक्षेत्र की सच्ची रक्षा नही—क्षेत्र रूपी,(परिग्रह) की रक्षा भले ही हो जाय—अर्थ सचय भले ही हो जाय।

सभी जानते हैं कि क्षेत्रो को तीर्थरूप प्रदान करने का मूल श्रेय वीतरागता की मूर्ति पूज्य तीर्थंकरों व मुनियों को रहा है—उन्होंने त्याग-तप से भूमि को पवित्र किया; उसे तीर्थ क्षेत्र बनाया। आज जब वीतराग देव का अभाव है तब हमारी आँखे मुनिगण की ओर ही निहार रही हैं कि जिस कार्य को आज केवल लक्ष्मी के बल पर संपन्न कराने की चेष्टाएँ की जा रही हैं, उस कार्य की संपन्नता मुनिगण द्वारा सहज-साध्य है। इन क्षेत्रो पर मुनिगण को (जैसा कि उन्हें चाहना भी चाहिए) शहरी दूषित कोलाहल से दूर—आपाधापी से दूर—निर्जन एकान्त मे स्वयं की आत्म-साधना मिलेगी और क्षेत्र भी तीर्थ बने रह सकेंगे। यत:—हमारी दृष्टि मे तीर्थ रक्षा मे प्रभूत द्रव्य की अपेक्षा वहाँ

ऐसे निःस्पृही आत्म-साधकों की सदाकाल उपस्थिति अपेक्षित है, जिनके परम-पूत चारित्र से चारों ओर धर्म तीर्थ सुरक्षित हो सकें और यात्रीगण भी उनकी वैराग्यमयी मूर्ति व दिव्य वाणी से लाभान्वित हो सकें। इस उपाय में तीर्थ और क्षेत्र को चारित्ररूपी ठोस स्रोत होंगे जबकि लक्ष्मी की प्रामाणिकता की गारण्टी नहीं। कौन जाने, कब, कहां, और किसके द्वारा, किस प्रकार से उपार्जित लक्ष्मी का उपयोग तीर्थ को उतना न उबार सके? हमारे सभी धार्मिक भावना वाले छोटे-बड़े सभी लक्ष्मीपति भी इस तथ्य को स्वीकार करते होंगे और यदा-कदा शास्त्रों मे पढ़ते-सुनते भी होंगे कि वीतराग मार्ग मे लक्ष्मी भली नही।

हमारी भावना है कि हमारे जीवित तीर्थ—मुनि-त्यागीगण घने-जनसकुल नगरों, कोठियो के दिख-दिखावे से मुख मोड़, इन क्षेत्रों की ओर बढ़ें। श्रावक उनकी तपस्या के साधन जुटाएँ और त्यागियो को अपनी ओर न खीच, उन क्षेत्रो पर जाकर उनकी वन्दना-पूजा-अर्चा करें। इस प्रकार तीर्थ और क्षेत्र दोनो सहज सुरक्षित रह सकेंगे और यह भी चरितार्थ होगा कि जैन धर्म मे भगवान नही आते अपितु भक्त ही उनके चरणों मे नत होने—दूर-दूर तक जाते है।

अब जरा आइए, केवल क्षेत्र-रक्षा की बात पर। भला, जब क्षेत्र (स्थान) ही न रहेगा तो धर्म कहा रहेगा? आखिर, स्थान तो चाहिए ही। सो हमे क्षेत्र-रक्षा करने मे इन्कार नही—किसने कहा इसे न करे? हम तो क्षेत्र की रक्षा का लोप नही कर रहे हैं। लोग जो रक्षा कर रहे हैं सूझ-बूझ से कर रहे है, अच्छा कर रहे हैं, धर्म के लिए स्थान सुरक्षित कर रहे है।

पर, यह सुरक्षा तभी सफल है जब वे स्थान तीर्थ रह सकें। उक्त विषय में आप क्या सोचते है? जरा सोचिए!

४. आविष्कारों का उपयोग कहाँ?

हम साधु को साधु मानकर चल रहे है, कुछ लोगों की भांति उन्हें प्रचारक या सांसारिक प्रलोभनो में अडिग रहने वाले तीर्थंकर मान कर नही चल रहे। हमारा लक्ष्य साधु-मर्यादा की रक्षा है—अपनी स्वार्थ-साधना मे उन्हें आधुनिक आविष्कारों की ओर खीचना नही। यदि साधु मे साधुत्व सुरक्षित होगा तो उनसे 'अवाग्वपुषा' भी धर्म का पाठ मिल सकेगा। हमने देखा—लोगों में आज आविष्कारों से लाभ लेने का मोह इतना बढ़ गया है कि—वे स्व-लाभ के लिए साधु को भी आविष्कारों की ओर खींचने में लगे हैं—कहीं माइक कहीं कैसिट और कही वीडियो, टेप आदि: सोचे, इनसे साधु को स्व-लाभ है या परायों का चक्कर?

उस दिन की घटना है, जब स्थानीय मंदिर मे एक दोपहर में एक वृद्ध आचार्यश्री प्रवचन कर रहे थे। एक सज्जन बोले - पंडित जी, महाराज जैसे वृद्ध है वैसे ही ज्ञानप्रबुद्ध है—पूरा आध्यात्मिक बोलते है, हृदय गद्गद् हो जाता है। पर, इनके दांत न होने से वाणी स्पष्ट नही निकलती (जैसा महाराज भी बार-बार कह रहे थे) जिससे लोगो के पल्ले अधिक कुछ नही पड़ता। यदि श्रोताओं के कल्याण के लिए इनके दांत बनवा दिए जायें तो वाणी स्पष्ट निकलेगी और लोगो को दन्त-आविष्कार-उपयोग के फल-स्वरूप अधिक लाभ भी हो सकेगा। उन्होंने यह भी कहा—महाराज, प्रवचन के समय माइक की भांति, दांतो का उपयोग करे और बाद मे निकाल दे। इनमें ममत्व न करने से महाराज मे परिग्रह-दोष की तो बात ही नहीं उठती, ऐसा तो वे उपकार के लिए ही करेंगे?

हमने सिर धुना कि लोगो को क्या हो रहा है? वे अपने स्वार्थ में साधु से भी कैसी-कैसी अपेक्षाएँ रखने मे लगे है। कदाचित् आविष्कारो से अधिक और त्वरित लाभ लेने के लिए ऐसे लोग साधु को T.V. और चित्रपटों के स्टेशनों तक भी खीच ले जाएँ तब भी आश्चर्य नही। क्योंकि आज के आविष्कारो मे ये दोनो सर्वाधिक आकर्षक और त्वरित प्रचार के साधन है। हमने सोचा—स्वार्थ की पूर्ति मे स्वार्थी क्या कुछ नही कर सकता? जो न करे वही थोड़ा है। ठीक ही है कि—

'स्वार्थी दोष न पश्यति।'

हमारा अब तक का अनुभव तो यह है कि आविष्कारो के प्रयोगो के कारण से ही अधिकांश साधु अपरिग्रहरूप साधुत्व की लीक से कटकर प्रचारक मात्र बनकर रह गए है—कुछ जनता के लिए और कुछ ख्याति-लाभ और यश-प्रतिष्ठा के लिए। और यह सब दोष है उन श्रावकों का, जो साधु-चर्या की उपेक्षा कर अपने लाभमात्र में साधुओं को

आधुनिक साधन जुटाते रहे हैं। अन्यथा साधु अपने कल्याण के लिए बना जाता है, या मात्र दूसरों के उद्धार में अपना सर्वस्व खोने के लिए ? जरा सोचिए !

५. सिद्धों में उपयोग : एक भ्रान्ति ?

जब जीव का लक्षण उपयोग है, तब उपयोग क्या है ? इसे सोचिए और उससे निर्णय कीजिए कि लोक परम्परा में प्रसिद्धि को प्राप्त 'जीवतत्त्व' कहने का व्यवहार ससार तक ही सीमित है या औदयिक भावजन्य उस 'जीवत्व' की पहुंच मोक्ष मे भी है ? हमारी दृष्टि से तो उपयोग के लक्षण के मोक्ष में उपलब्ध न होने से भी आचार्य ने सिद्धो को जीव-संज्ञा से बाहर रखा हो और 'सिद्धा ण जीवा' कहा हो तब भी आश्चर्य नही।

लोक मे शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-मात्र को उपयोग मानने की शायद एक भ्रान्ति रही है—साधारणत. किसी से पूछो, उपयोग क्या है ? वह तुरन्त जवाब देगा—ज्ञान-दर्शन उपयोग है। इसी भ्रान्ति के कारण ससार—प्रसिद्ध जीव-तत्त्व (चेतन की वैभाविक पर्याय) को चेतन की शुद्ध-पर्याय—सिद्ध अवस्था में बिठा दिया गया है, इसे हम लिख चुके है। हमारी दृष्टि मे मूलतः—शुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग नही हैं, अपितु ये दोनों क्षयोपशमावस्था में, निमित्तान्तरों की उपलब्धि में, चैतन्यानुविधायी परिणामरूप उपयोग की उत्पत्ति मे कारण है—'उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगः' (देखिए : इसी अंक में 'उपयोग क्या),

हमें उपयोग का एक लक्षण और भी मिला है—

'उवजोगो णाम कोहादि-कसाएहि सह जीवस्स संपजोगो,

क्रोधादि कषायो के साथ जीव के सम्प्रयोग होने को उपयोग कहते है।—जयधवला० (देखें : कसायपाहुड सुत्त, कलकत्ता, पेज ५७६) इस उक्त लक्षण के प्रकाश मे सिद्धो को उपयोगस्वभावी जीव सज्ञा मे रखने के लिए उनमें कषायो का प्रादुर्भाव माने या मान्य आचार्य वीरसेन स्वामी के तथ्यपूर्ण कथन 'सिद्धा ण जीवा' को तथ्य मानें ? जरा सोचिए !

—सम्पादक

उत्थरइ जाण जरओ रोयग्गी जा ण डहई देहउडिं।
इंदिय बलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं॥

—जब तक तेरा बुढ़ापा नही आता है और जब तक रोग रूपी अग्नि देहरूपी झोपड़ी को नहीं जलाती है तथा इन्द्रियों का बल नहीं घटता है तब तक तुम आत्मा का हित-साधन करो।

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगिभावं लिंगिषु च नारदः लिंगी॥

—जो पापमोहित बुद्धि वाला तीर्थंकरो का दिगम्बर रूप धारण करके भी लिंगिपने की हसी करता है अर्थात् खोटी क्रियाएँ करता है वह लिंगियों मे नारद के समान लिंग धारण करने वाला है।

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥

—जो श्रमण वेष धारण करके बहुत प्रयत्न से परिग्रह का संचय करता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए आर्तध्यान करता है, वह मूर्छित-(मोह) बुद्धि तिर्यंच योनि है अर्थात् पशु के समान अज्ञानी है।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : **श्री दरयावसिंह सोधिया** ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयो पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

'सिद्धा ण जीवा' : (चिंतन के आयाम) श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ... ... मनन मात्र

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्र**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० २ अप्रैल-जून १९८७

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	चिर-लग्न—डा० कु० सविता जैन	१
२.	जैन बिबिलियोग्रेफी : —डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	उद्दिष्ट आहार—श्री बाबूलाल जैन	४
४.	दो शास्त्रीय प्रसंग : —पू० मुनि श्री श्रुतसागर महाराज	५
५.	शुभोपयोग का स्वरूप —श्री नरेन्द्रकुमार जैन	७
६.	रेल की जैन प्रतिमा—डा० प्रदीप शालिग्राम	८
७.	मूलाचार और उसकी आचार-वृत्ति —श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	९
८.	आचार्य हमारे कुन्दकुन्द—श्री सुरेश सरल	१८
९.	अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ—सम्मइ-जिणचरिउ—प्रो० डा० राजाराम जैन	१९
१०.	समन्तभद्र स्वामी का आयुर्वेदग्रंथ कर्तृत्व —श्री राजकुमार जैन वैद्य आयुर्वेदाचार्य	२५
११.	जरा सोचिए : —सम्पादकीय	३१
१२.	भावनांजलि आवरण पृ०	२

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५ ००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography . Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

'सिद्धा ण जीवा' : (चिंतन के आयाम) श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ... ... मनन मात्र

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० २ अप्रैल-जून १९८७

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	चिर-लग्न—डा० कु० सविता जैन	१
२.	जैन बिबिलियोग्रेफी : —डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	उद्दिष्ट आहार—श्री बाबूलाल जैन	४
४.	दो शास्त्रीय प्रसंग : —पू० मुनि श्री श्रुतसागर महाराज	५
५.	शुभोपयोग का स्वरूप —श्री नरेन्द्रकुमार जैन	७
६.	रेल की जैन प्रतिमा—डा० प्रदीप शालिग्राम	८
७.	मूलाचार और उसकी आचार-वृत्ति —श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	९
८.	आचार्य हमारे कुन्दकुन्द—श्री सुरेश सरल	१८
९.	अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ —सम्मइ-जिणचरिउ—प्रो० डा० राजाराम जैन	१९
१०.	समन्तभद्र स्वामी का आयुर्वेदग्रंथ कर्तृत्व —श्री राजकुमार जैन वैद्य आयुर्वेदाचार्य	२५
११.	जरा सोचिए : —सम्पादकीय	३१
१२.	भावनांजलि आवरण पृ०	२

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भावनांजलि

सम्यक् श्रद्धापूर्वक दी गई अंजलि श्रद्धांजलि होती है और वह होती है गुणों में मान्यों—पूज्यों को, कुछ विशिष्ट आत्माओं को। हम नहीं जानते कि आज के श्रद्धांजलि-समर्पण समारोह किस माप में होते हैं और किनको और कैसे होते हैं ? क्या, आज श्रद्धांजलि समर्पण एक सरल, सर्वसाधारण तरीका नहीं बन चुका है ? जो हर क्षेत्र में हर साधारण व्यक्ति द्वारा हर साधारण से साधारण के लिए भी अपनाया जा रहा है—खानापूर्ति के सिवाय इसका अन्य महत्त्व नहीं।

हम सोचते हैं—परम दिगम्बर श्रमण गुरुजन साधारण हस्तियों से बहुत ऊँचे और उत्कृष्ट हैं—मोक्षमार्ग के पथिक हैं। उनकी गति—जिनके लिए उन्होंने दीक्षा ली होती है, रत्नत्रय की पूर्णता के बिना नहीं, उन्हें मोक्ष प्राप्त करना ही चाहिए और मोक्ष का सीधा सा उपाय है रत्नत्रय की पूर्णता यानी 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'

सम्यक्श्रद्धा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है और हमारी समझ से श्रमण उस पर श्रमणत्व धारण काल से ही आरूढ़ हो बैठे होते हैं। यतः—बिना श्रद्धा के ली गई दीक्षा को दीक्षा ही कैसे कहा जा सकता है ? ऐसे में श्रमण को कोरी श्रद्धांजलि भेंट कर—उनके प्रति श्रद्धा मात्र की भावना प्रकट कर, हम श्रमण को प्रथम सीढ़ी पर ही रहने की भावना भाएँ या श्रमण के ज्ञान-चारित्र की पूर्णता की भावना भी भाएँ ? हमारी समझ से तो श्रमण के प्रति रत्नत्रय भावनांजलि समर्पण की भावना ही अधिक उपयुक्त और कार्यकारी है, वही मोक्षमार्ग में प्रशस्त है।

गत दिनों दो पूज्य श्रमणाचार्यों की समाधि हुई। एक थे—आचार्य श्री शान्तिसागर पट्ट के परम्परित पट्टाचार्य पूज्य श्रीधर्मसागरजी महाराज—सरल, शान्त, निर्भीक सिंहवृत्ति आचार्य। और दूसरे थे—आज के नेतृत्व प्रमुख, विश्वधर्म-प्रचारक, एलाचार्य (अब आचार्य रत्न) श्री विद्यानन्द महाराज के परम गुरु और अनेक ग्रन्थों के व्याख्याता, धर्मप्रभावक-आचार्य श्री देशभूषण महाराज कोथली। दोनों ही वर्तमान युगीन प्रचलित श्रमण परम्परा के बेजोड़ रत्न थे—दोनों ने स्व-शक्त्यनुसार दि० परम्पराओं को जीवित रखा। फलतः—

समस्त सम्पादक मंडल 'अनेकान्त' और वीर सेवा मंदिर के अधिकारी, सदस्यगण आचार्य-द्वय को रत्नत्रय भावनांजलि समर्पण करते हुए दिवंगत आत्माओं में नतमस्तक हैं। आचार्यद्वय रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त करें ऐसी हमारी भावना है।

—सम्पादक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

ओम् अर्हम्

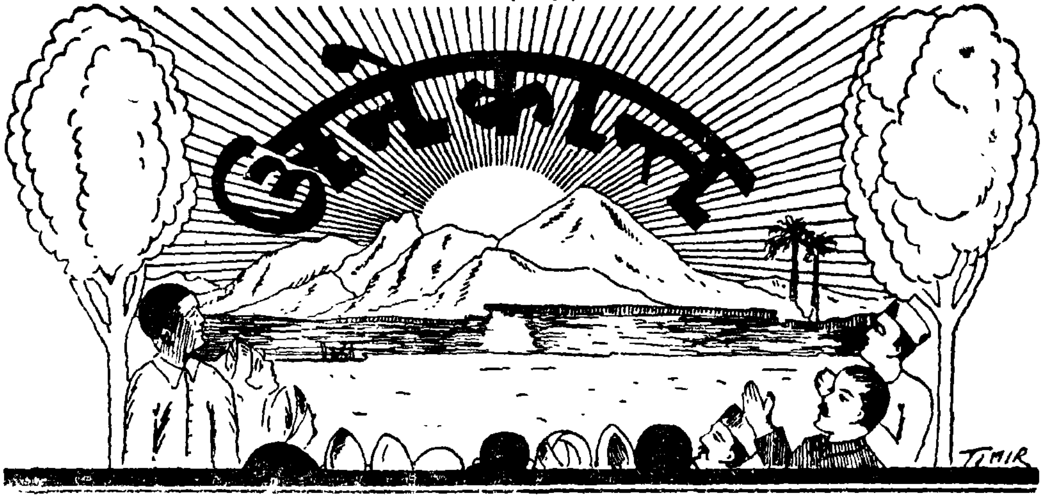

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४०
किरण २

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५१३, वि० सं० २०४४

अप्रैल-जून
१९८७

"चिर-लग्न"

आज क्यों मम प्राण बाजे, सुधियों में सम्यक्त्व साजे ।
वीतरागी बन के साजूं, आज मैं शृंगार अपना ।।
निर्वेद की मेंहदी रचाऊँ, संवेग की बिंदिया सजाऊँ ।
नमन में परमात्म से चिर लग्न का लेकर के सपना ।।
ज्ञान का काजल लगाऊँ, निर्मोह का टीका सजाऊँ ।
समदर्शिता की चूनरी से घूंघटा निकालूं आज अपना ।।
नव तत्त्व के सिन्दूर से मैं, आज अपनी माँग भर लूं ।
स्वयं को वरने का कर लूं आज मैं साकार सपना ।।
संवर का मंडप तान कर, लूं निर्जरा के साथ फेरे ।
ब्रह्मचर्य के साथ खेलूं सखि आज के दिन मै कंगना ।।
उत्तम क्षमा तप आदि के, आभूषणों को धार के ।
आकिंचन्य की डोली में चढ़कर कर चलूं प्रस्थान अपना ।।
भक्ति रस में डूब कर, पर से विदा के गीत गाऊँ ।
निज भाव के साहचर्य का देखूं सखि दिन रात सपना ।।
अष्ट सखियों से विदा लूं, चार बहनों को भुला दूं ।
शुभ कर्म का संसार तज कर शुद्धत्व को जानू मैं अपना ।।
राग के उपहार तज दूं, मिथ्यात्व को मुडकर न देखूं ।
सिद्धत्व को पाने का ही दिन रात देखूं एक सपना ।।
विरति का आसन बिछा कर, ध्यान की मैं लो जलाऊँ ।
रत्नत्रय के दीपकों से जगमगा लूं मन मैं अपना ।।

—**डा० कु० सविता जैन**, 7/35 दरियागंज, दिल्ली

जैन बिबलियोग्रेफी

☐ डा० ज्योति प्रसाद जैन

आधुनिक युग में विशेषज्ञता पर बल दिया जाने लगा है एवं शोध खोज को विश्वविद्यालयी स्तर पर पी०एच० डी०, डी० लिट्० आदि उपाधियों के लिए सुव्यवस्थित रूप से एव सुयोग्य निर्देशन में तैयार किए जाने वाले शोध प्रबन्धों ने प्रभूत विस्तार एवं व्यापकता प्रदान कर दी है। इस कार्य के लिए पुरातन प्रकाशित व अप्रकाशित साहित्य, आलेखों, शिलालेखों आदि का निरीक्षण, परीक्षण, अध्ययन तो आवश्यक है ही, किन्तु ऐसी अपेक्षित सामग्री सर्वत्र अथवा सहज सुलभ नही होती। शोधार्थी को उसकी जानकारी भी बहुधा नही हो पाती। ऐसी स्थिति मे विभिन्न प्रकार के संदर्भ ग्रन्थ बड़े सहायक होते है। शास्त्र भडारो की ग्रन्थ-सूचियाँ, प्रकाशित साहित्य की सदर्भ सूचियाँ (बिबलियो ग्रेफी), विश्वकोश, व्यक्तिकोश, भौगोलिक या स्थलकोश, शिलालेख संग्रह, विषय विशेष सम्बन्धी कोश, पारिभाषिक शब्दाथ कोश, विशेषार्थक कोश, विविध अनुक्रमणिकाएं आदि ऐसे सदर्भ ग्रन्थों का गत लगभग एक सौ वर्षों मे पर्याप्त संख्या मे निर्माणहुआ है, और हो रहा है।

गत लगभग २०० वर्षों में देशी-विदेशी प्राच्यविदो एव भारतीय विद्या विशारदों का ध्यान जैन साहित्य एवं संस्कृति की ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक आकृष्ट होता आया है। जैन शास्त्र भडारों मे संरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थो का बहुभाग भी मुद्रित-प्रकाशित हो गया है। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के तो समीक्षात्मक विस्तृत प्रस्तावनाओ सहित सुसंपादित स्तरीय संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। भारतीय भाषाओं में उन पर अलग से समीक्षात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन, गवेषणाए, विवेचनाए भी हुई है। इनके अतिरिक्त अग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी, इतावली, रूसी आदि विभिन्न पाश्चात्य भाषाओं मे भी प्रकाशित शोध निबन्धो, लेखों, सर्वेक्षणों, रिपोर्टों, पुस्तकों आदि विविध प्रकाशनों में जैन-धर्म-संस्कृति-साहित्य-कला-पुरातत्त्व-इतिहास तथा जिन धर्म के अनुयायियो के विषय में अनगिनत उल्लेख प्राप्त है। वर्तमान शती के आरम्भ से तो ऐसे प्रकाशनों एवं सदर्भों में द्रुतवेग से प्रगति हुई है। परिणामस्वरूप प्राच्यविद्या के अन्तर्गत भारतीय विद्या के एक अति महत्त्वपूर्ण अंग एवं विभाग के रूप में जैनविद्या (जैनालाजी) का स्वतन्त्र अस्तित्व सुनिश्चित हुआ, और जैन संदर्भ ग्रन्थों या कोषों की आवश्यकता भी अधिकाधिक अनुभव की जाने लगी, जिसकी पूर्ति के लिए अनेक विद्वान एवं सस्थाए सलग्न हुई।

जहां तक पाश्चात्य भाषाओ के जैन सदर्भ कोश का प्रश्न है, सर्वप्रथम फ्रान्सीसी प्राच्यविद डा० ए० गिरनाट ने १९०६-९ ई० मे अपने तीन निबन्ध जैन बिबलियो ग्रेफी एवं एपीग्रेफी पर प्रकाशित कराए। तदनन्तर दिल्ली निवासी रायबहादुर पारसदास ने 'जैन बिबलियोग्रेफी न० १ प्रकाशित की, और १९४५ ई० मे स्व० बा० छोटेलाल जैन ने अपनी 'जैन बिबलियोग्रेफी' का प्रथम सस्करण प्रकाशित किया, जिसमें गिरनाट आदि द्वारा प्रदत्त पूर्ववर्ती संदर्भ-सूचनों का समावेश करते हुए, १९२५ ई० पर्यन्त के प्रकाशनों मे प्राप्त सदर्भों को सम्मिलित किया गया था। तदुत्तरकालीन सन्दर्भों के सकलन भी वह करते-कराते रहे, और १९६६ ई० मे उन्होने १९६० ई० पर्यन्त के प्रायः समस्त सन्दर्भों का सकलन कार्य पूरा कर लिया था। दुर्भाग्य से उसी वर्ष उनका स्वर्गवास हो जाने से ग्रन्थ का प्रकाशन स्थगित सा हो गया। अन्ततः उनके परमस्नेही स्व० साहू शान्ति प्रसाद जी के आर्थिक सहयोग एव प्रेरणा से वीर सेवा मंदिर दिल्ली ने १९८२ ई० मे इसे दो जिल्दों मे विभाजित, लगभग दो हजार पृष्ठो के विशाल जैन सदर्भ कोश का समुचित प्रकाशन कर दिया। बड़ा आकार, उत्तम कागज, स्वच्छ मुद्रण एवं पुष्ट जिल्द वाली बा०

छोटेलाल जी जैन की बिबलियोग्रेफी का यह सशोधित परिवर्द्धित सस्करण जैनाध्ययन के अत्युत्साही प्रेरक एवं प्रोत्साहक स्व० बाबूजी का सजीव स्मरण है। भारतीय विद्या के किसी भी अग पर विशेषाध्ययन या शोध-खोज करने वालों के लिए जैन सदर्भों का उपयोग आज अनिवार्य सा बन गया है। जैन विद्या के अनुसधित्सुओं के लिए तो इसकी आवश्यकता, महत्त्व एव उपयोगिता असदिग्ध है। ग्रन्थ का मूल्य तीन सौ रुपये है, जो उसकी लागत एव उपादेयता को देखते हुए कुछ अधिक नहीं है। यो प्रस्तुत प्रकाशन में मुद्रण की भी कतिपय अशुद्धियाँ रह गई है, विभिन्न प्रकार की अन्य कई त्रुटियाँ, दोष एव कमियाँ भी रह गई प्रतीत हो सकती है। किन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता है उपयुक्त इडेक्स या अनुक्रमणिका की जिसके कारण ग्रन्थगत अधिकांश सदर्भों व्यक्ति, प्रकाशन आदि के विषय मे अपेक्षित सदर्भ या सदर्भों को पा लेना सहज सुगम हो सके। अभी इस बिबलियोग्रेफी के पूरे दो हजार पृष्ठों को पलटने पर ही अभीष्ट सूचन पाय या एकत्र किए जा सकते है। इस सन्दर्भ कोश का अन्वर्थ बनाने के लिए कम से कम तीन अनुक्रमणिकाओं का प्रकाशन आवश्यक है—(१) ग्रन्थानुक्रमणिका, जिसमे ग्रन्थगत समस्त पुस्तको, पत्रिकाओ, आलेखो आदि का इंडेक्स हो ; (२) लेखानुक्रमणिका, जिसमे ग्रन्थगत सन्दर्भों के लेखको, सपादकों आदि का इडेक्स हो ; और (३) सामान्य नामानुक्रमणिका, जिसमे ग्रन्थगत विभिन्न सदर्भों मे प्राप्त समस्त व्यक्तिनामो, स्थलादि नामो अन्य व्यक्तिवाचक सज्ञाओं का इडेक्स हो। वैसे ग्रन्थ की तीसरी जिल्द के रूप मे ऐसा एक इडेक्स प्रकाशित करने की योजना प्रारम्भ से ही थी, किन्तु कतिपय अपरिहार्य कारणो से वह अभी संभव नही हो सका। एक जैनविद्यारसिक जैन मनीषी की साधिक तीन दशकों की स्वान्त: सुखाय साधना एवं प्रयास द्वारा निर्मित और, और उन्ही से संरक्षित-सम्पोषित वीर सेवा मदिर दिल्ली जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक जैन संस्था द्वारा प्रकाशित इस सदर्भ ग्रन्थ का यह अधूरापन खटकने वाला है। हमे आशा है कि उक्त संस्था के पदाधिकारी गण इस अभाव की पूर्ति करने में यथासंभव शीघ्र तत्पर होंगे।

इसके अतिरिक्त, इस बिबलियोग्रेफी में १९६० ई० पर्यन्त के ही सदर्भ समाविष्ट है—कुछ एक १९६० से १९६५ तक के भी सम्मिलित कर लिए गए है, और कई एक १९६० से पूर्व के भी छूट गए लगते है। अतएव, ग्रन्थ की तीसरी जिल्द मे उपरोक्त अनुक्रमणिकाओं के अतिरिक्त एक शुद्धिपत्र भी दिया जा सकता है, और संभव हो तो १९६० से पूर्व के जो संदर्भ छूट गए है उन्हें भी एक परिशिष्ट के रूप में सम्मिलित किया जा सकता है।

१९६० के पश्चात् भी अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं मे जैन-सम्बन्धी विपुल साहित्य प्रकाशित हो चुका है। क्या ही अच्छा हो कि प्रस्तुत बिबलियोग्रेफी के दसवर्षीय (१९६१-७०, १९७१-८०, १९८१-९०) पूरकों के रूप मे इडेक्स युक्त प्रकाशनों की योजना भी यथा संभव शीघ्र कार्यान्वित की जा सके।

जैन विद्या के विभिन्न अगों से सम्बन्धित साहित्य पाश्चात्य भाषाओ मे जितना अद्यावधि प्रकाशित हो चुका है, उसका कई गुना भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिन्दी मेप्रकाशित हो चुका है। उसमे भी शोध-खोज परक विपुल स्तरीय सामग्री प्राप्त होती है अतएव तत्सबधी सदर्भकोशों के सम्यक्निर्माण एव प्रकाशनकी भी महती आवश्यकता है। वीर सेवा मदिर जैसी किसी भी प्रतिष्ठित एवं साधन सम्पन्न साहित्यिक सस्था इस अतीव उपयोगी कार्य को सुयोग्य निर्देशन मे सम्पन्न करा सकती है।

ऐसी योजनाओ मे व्यावसायिक हानि-लाभ की अपेक्षा नही की जाती, यद्यपि यदि देश-विदेश के विश्व विद्यालयों, महाविद्यालयो, शोध सस्थानों, पुस्तकालयो आदि के संचालक ऐसे उपयोगी सदर्भ कोशो को क्रय करके संग्रह करे तो उनके निर्माणकर्ताओ एव प्रकाशको को तो प्रोत्साहन मिलेगा ही, जिज्ञासु अध्येताओ को भी अतीव लाभ होगा, तथा जैनविद्या विषयक शोध-खोज एव साहित्यनिर्माण में भी द्रुतवेग से अभूतपूर्व गति होगी। □□

उद्दिष्ट आहार

□ श्री बाबूलाल जैन

समयसार तात्पर्यवृतिः गाथा ३०४-३०५ की टीका करते हुए आचार्य जयसेन स्वामि लिखते हैं कि :— अयमत्रभिप्राय ; पश्चात्पूर्वं संप्रतिकाले वा योग्याहारविषये मनोवचन कायकृत कारितानुमत रूपैर्नवभिविकल्पै- शुद्धास्तेषां परकृताहारादि विषये बधो नास्ति यदि पुन परकीय परिणामेन बंधो भवति तर्हि क्वापि काले निर्वाण नास्ति । तथा चोक्त—

णव कोडि कम्मसुद्धो पच्छापुरदो य संपडियकाले
पर सुह दुक्खणिमितं वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाण

यहां यह अभिप्राय है कि भोजन के पीछे पहले या भोजन करते समय मुनि के योग्य आहार के विषय मे मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदन रूप नौ विकल्पो से रहित शुद्ध आहार होता है। अर्थात मुनि किसी आहार के विषय में मन वचन-काय कृत कारित अनुमोदन रूप कोई भी विकल्प नही करते, इसी से उन मुनियो के दूसरे गृहस्थी के द्वारा किये हुए आहार आदि के सम्बन्ध मे कर्मों का बन्ध नही होता क्योंकि बध परिणामो के आधीन है। गृहस्थ उसके बनाने आदि के विकल्प करता है इससे बधता है। मुनि महाराज ऐसे विकल्प नही करते इससे नही बधते) यदि ऐसे माने कि दूसरे के द्वारा किए गए परिणाम से दूसरे के बध हो जाय तो कही भी किसी को भी निर्वाण का लाभ न होवे ।
ऐसा ही अन्य ग्रन्थ मे कहा है।

तीन काल में नव कोटि शुद्ध भोजन को जो मुनि लेता है सो पीछे पहले व वर्तमान मे नव कोटि शुद्ध है और यदि वह दूसरों के सुख दुख का निमित्त हो और बध को प्राप्त करें तो उसको निर्वाण का लाभ नही हो सकता ।

औद्देसिक आहार को लेकर अपने समाज मे बहुत प्रकार की ऊहापोह है। श्रावक तो गर्म पानी पीता नही, बिना नमक का, बिना चीनी का, बिना घी का भोजन करता नहीं। वह तो जो कुछ भी तैयारीं करता है पात्र के आहार दान के लिये ही करता है चाहे एक चौका लगे चाहे १० चौका लगे। श्रावक रोगी मुनि को औषध देता है वह अपने लिए नही बनाता। व्रती श्रावक भी पात्र दान के लिये ही आहार बनाता है। आज कल तो व्रती श्रावक नही के बराबर है अव्रती श्रावक शुद्ध भोजन करता नही वह जो आहार बनाता है वह पात्र दान के लिये ही बनाता है। अगर उद्देशिक आहार की यही परिभाषा की जावे कि पात्र के उद्देश्य से बनाया है वह उद्देशिक आहार है तब तो सभी मुनि आज भी और प्राचीन काल मे भी उद्देशिक आहार के दोष के भागी रहते और कर्म बध नहीं रुक सकता। मुनि को यह मालूम भी कैसे हो सकता है कि यह मेरे उद्देश्य से बनाया या बिना उद्देश्य के बनाया आहार है। यह तो श्रावक के परिणामो पर निर्भर करता है और श्रावक के परिणामों का फल मुनि को लगने लगे तो उसके कर्म बध रुक नही सकता और मोक्ष की प्राप्ति हो नही सकती। यह तो तथ्य है कि जीव अपने ही परिणामो का फल पाता है दूसरे के परिणामों का फल दूसरा नही पाता। पर जितने भी चरणानुयोग के ग्रन्थ हैं उनमें ये ही परिभाषा मिलती है कि मुनि के उद्देश्य से बनाया आहार उद्देशिक है। परन्तु ऊपर मे जो प्रमाण दिया गया है उससे यह परिभाषा निकली है कि मुनि नव कोटि शुद्ध है तो मुनि के आहार कृत आरभ का दोष नही लगेगा। यही परिभाषा ज्यादा युक्तयुक्त लगती है। श्रावक ने अपने लिये आहार बनाया अगर मुनि ने मन, वचन, काय से कृत, कारित या अनुमोदन करी तो वह उद्देशीक आहार हो गया और मुनि को कर्म बध हो गया। यदि श्रावक ने पात्र दान के लिये ही आहार बनाया और मुनि नव कोटि शुद्ध है तो कर्म बध नही हुआ कर्मबंध में मुख्यता मुनि के अपने परिणामों की है। यदि यह परिभाषा मानी जावे तभी उद्देशीक आहार का त्याग बन सकता है

(शेष पृ० ६ पर)

दो शास्त्रीय प्रसंग

☐ **आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज**

१. "दंसण भट्टा भट्टा···"

दंसण भट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण ।
सिज्झंति चरियभट्टा दसणभट्टा ण सिज्झंति ॥3॥

—दर्शनपाहुड : कुन्दकुन्दाचार्य

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन से जो भ्रष्ट हैं यानी आज तक जिन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हुई, उसको निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। (कारण जिसे एक बार भी सम्यक्त्व हो गया तो वह भ्रष्ट होकर भी अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के बाद निर्वाण को अवश्य प्राप्त होगा।) जो चारित्र से भ्रष्ट है, वह निर्वाण को प्राप्त होता है (सिज्झंति) परन्तु दर्शन से भ्रष्ट जीव निर्वाण को प्राप्त नही होता।

उपर्युक्त गाथा का टीकाकारो ने ऐसा अर्थ किया है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है यानी जिनका सम्यग्दर्शन (होकर) नष्ट हो गया है उन्हे कभी मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती तथा जो चारित्र से भ्रष्ट है और जिनका सम्यग्दर्शन बना हुआ हे, वे तो चारित्र धारण कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जैसे चारित्र से भ्रष्ट हुआ प्राणी फिर चारित्र धारण कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है वैसे ही एक द्रव्यलिंगी मुनि भी सम्यक्त्व को प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। पर गाथा का अभिप्राय ऐसा नही लगता। गाथा तो 'चारित्रधारण' का सकेत ही नही करती अपितु घोषित करती है कि 'सिज्झंति चरियभट्टा'। यही बात गम्भीरतपूर्वक विचार करने योग्य है। (क्योंकि यदि चारित्रभ्रष्ट चारित्र धारण करे तो दर्शनभ्रष्ट भी तो सम्यक्त्व धारण कर सकता है और मोक्ष जा सकता है।) तो फिर इस 'सिज्झंति चरियभट्टा' पद के प्रयोग में क्या रहस्य है?

श्री समयसार जी में कथन आता है कि प्रतिक्रमण ऊपर की श्रेणी वालों के लिए विषकुम्भ है यानी जो प्रतिक्रमण रूप चारित्र से भ्रष्ट हैं,···वे बुद्धिपूर्वक बाहरी पंच महाव्रत के पालन से भ्रष्ट हैं, वे तो ध्यानमग्न हैं, आत्मलीन हैं। नीचे की अवस्था में यानी जो बुद्धिपूर्वक पंच महाव्रतादि का पालन करते हैं उनके लिए प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है—इस सन्दर्भ मे समाधितंत्र की गाथायें (८३-८४) ध्यान देने योग्य है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

अर्थ—हिंसादि पाँच अव्रतो के अनुष्ठान से पाप का बन्ध होता है और अहिंसादिक पाँच व्रतो के पालन से पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों का जो विनाश है, वही मोक्ष है अतः मोक्ष के इच्छुक भव्य पुरुष को अव्रतो की तरह व्रतो को भी छोड़ना चाहिए।॥८३॥

हिंसादिक पाँच अव्रतों को छोड़ करके अहिंसादिक व्रतों मे निष्ठावान रहे अर्थात् उनका दृढ़ता से पालन करे, फिर आत्मा के रागद्वेषादि रहित परम वीतराग पद को प्राप्त करके उन व्रतों को भी छोड़ देवे।

क्षपक श्रेणी आरूढ़ साधु अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में व्रतों का पालन बुद्धिपूर्वक न करते हुए भी (उनके अभाव में भी) निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। यानी भेद रत्नत्रय रूप चारित्र का पालन न करते हुए चारित्रभ्रष्ट साधु 'सिज्झंति'।

पंचास्तिकाय गाथा ३७ में मोक्ष जीवों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अमृतचन्द स्वामी की टीका में आठ भाव दिए गये हैं—शाश्वत-नाश्वासत; भाव्य-अभाव्य, शून्य-अशून्य, ज्ञान-अज्ञान। अर्थात् मुक्त जीव भव्य भी है और अभव्य भी, आदि।

इसी प्रकार बुद्धिपूर्वक चारित्रपालन के अभाव की चारित्रभ्रष्ट संज्ञा है न कि भेद रत्नत्रय रूप चारित्रपालन के अभाव की। क्योंकि निर्वाण तो तभी होगा जब सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्चारित्र भी होगा पर गाथा कहती है कि 'चरियभट्टा सिज्झंति' अर्थात् चरित्रभ्रष्ट मोक्ष प्राप्त करते हैं तो वहाँ चरियभट्टा का अर्थ उपर्युक्त ही लगाना होगा।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायों के (प्रवृत्ति के) अभाव का नाम अप्रमाद है, इसी की चरिनभट्टा संज्ञा है।

—धवल पु० १४ पृष्ठ ८६

□ उपर्युक्त अभिप्राय पर विज्ञ पुरुषों से विचार करने का अनुरोध है।

२. योगे पयडि पदेसा, ठिदि अनुभागाकसायदो होदि

उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ हम सब ऐसा करते आए हैं कि योगों से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं और कषायो से स्थिति और अनुभाग बन्ध। सो ठीक भी है क्योंकि गाथा का स्थूल अर्थ तो यही निकलता है परन्तु विचार करें कि जब आचार्यों ने बन्ध के प्रत्यय मिथ्यात्व अविरति (असंयम), कषाय और योग बताये है तो इन मे से योग और कषाय को ही बन्ध का कारण मानेंगे तो मिथ्यात्व और अविरति के हिस्से मे कौन-सी बन्ध का कार्य आएगा, जबकि बन्ध में मिथ्यात्व प्रधान है और योग सभी अवस्थाओं में सबके साथ बन्ध कराने मे आगे रहता है। यदि कषाय को अन्तरदीपक मान कर विचार करे तो योग जब मिथ्यात्व के नेतृत्व मे रहता है तो वहाँ अविरति और कषाय भी है परन्तु बन्ध कराने में प्रधानता मिथ्यात्व की रही और जब योग अविरति के साथ उदय में आता है, वहाँ कषाय है पर बन्ध कराने का श्रेय अविरति को है; इस तरह जब योग मिथ्यात्व अविरति के उदयाभाव में सिर्फ कषाय के साथ उदय को प्राप्त होता है, वहाँ बंध कराने की प्रधानता कषाय की है और जब योग एकाकी उदय में आता है यानी उसके साथ किसी और का बल नही होता तब सिर्फ प्रकृति प्रदेश बन्ध होता है। इस विषय में धवला पु० १३ पृ० ४७ सूत्र २३ मे कहा है कि "ईर्या का अर्थ योग है। वह जिस कार्मण शरीर का पथ, मार्ग हेतु है, वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है। मात्र योग के कारण जो कर्म बँधता है, वह ईर्यापथ कर्म है।"

कषायसहित जीवो के ईर्यापथ कर्म नहीं होता।

(पु० १३ पृ० ६२)

जो कार्मण वर्गणा स्कन्ध अकर्म रूप मे स्थित है, वे मिथ्यात्व आदि कारणों का निमित्त पाकर अन्य परिणामों को प्राप्त न होकर अनन्तर समय मे आठ कर्म रूप, सात कर्म रूप और छह कर्मरूप परिणत होकर गृहीत होते हैं।

इस तरह सभी आचार्यों ने मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगो को बन्ध के प्रत्यय (कारण) स्थिर किये हैं; फिर मिथ्यात्व और असयम को बन्ध के कारणो से निकाल देना क्या आचार्यों के वचनो की अवहेलना करना नही है?

अत: आचार्यों के वचनो की गरिमा और सिद्धान्त की रक्षा कषाय को अन्त दीपक मानकर अर्थ करने मे है।

□ विद्वानो से इस अभिप्राय पर विचार करने का अनुरोध है।

(पृ० ४ का शेषांश)

अन्यथा तो निर्दोषी आहार बन ही नहीं सकता।

श्रावक तो अपने लिये आहार बनाता ही नही वह तो पात्र दान के लिये ही आहार बनाता है इसलिये पाप बँध न करके पुण्य बंध करता है। यदि वही आहार वह अपने लिए बनाता तो पाप बंध होता। पात्र को आहार दान देकर वह जो भी बचा सो आप भी खा लेता है। दुबारा आरंभ नहीं करता। और मुनि नव कोटि शुद्ध है इसलिए कर्म बंध नहीं होता। भोजन तो बनावे पात्र दान के लिये और यह कहवे कि आपके लिये नहीं बनाया तब तो मायाचारी आवेगी पाप का बंध होगा।

यह लेख विद्वानों और त्यागियों के विचार करने के लिये लिखा है :

२/१० अंसारी रोड
नई दिल्ली-११०२
सन्मति विहार

शुभोपयोग का स्वरूप

❀ श्री नरेन्द्रकुमार जैन, बिजनौर

जो आत्मा देव, शास्त्र, गुरु की पूजा में, दान में, गुण-व्रत, महाव्रत रूप उत्तम शीलो में और उपवास आदि शुभ कार्यो में लीन रहता है, वह शुभोपयोगी कहलाया है। जो आत्मा शुभोपयोग से सहित है वह तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने काल तक इन्द्रिय जन्य विविध सुखों को पाता है। अन्य की बात जाने दो, देवों के भी स्वभाव जन्य सुख नहीं हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान के उपदेश मे युक्तियों से सिद्ध है, वास्तव मे शरीर की वेदना से उत्पीड़ित होकर रमणीय विषयों मे रमण करते हैं। जबकि मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव चारो ही गतियों के जीव शरीर से उत्पन्न होने वाला दुःख भोगते है। तब जीवो का वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है ? इन्द्रिय जन्य दुःखों का कारण होने से शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान ही हैं, निश्चय से इनम कुछ अन्तर नही है। इन्द्र तथा चक्रवर्ती सुखियों के समान लीन हुए शुभोपयोगात्मक भोगो से शरीर आदि की ही वृद्धि करते है। शुभोपयोग का उत्तम फल दोनो मे इन्द्र को और मनुष्यों मे चक्रवर्ती को ही प्राप्त होता है परन्तु उस फल से वे अपने शरीर को ही पुष्ट करते है न कि आत्मा को भी। वे वास्तव मे दुखी रहते है, परन्तु बाह्य मे सुखियों के समान मालूम होते हैं। यह ठीक है कि शुभोपयोग रूप परिणामो से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान रहते है, परन्तु वे देवो तक समस्त जीवो की विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते है। शुभोपयोग के फलस्वरूप अनेक भोगोप-भोगों की सामग्री उपलब्ध होती है, उससे समस्त जीवों की विषयतृष्णा ही बढती है, इसलिए शुभोपयोग का अच्छा कैसे कहा जा सकता है ? फिर जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है, ऐसे समस्त ससारी जीव तृष्णाओ से दुखी और दुखों से संतप्त होते हुए विषयजन्य सुखों की इच्छा करते हैं और मरण पर्यंत उन्हीं का अनुभव करते रहते हैं। विषय जन्य सुखों से तृष्णा बढ़ती है, और तृष्णा ही दुखों का कारण है। अतः शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विषय सुख हेय है—छोड़ने योग्य है। जो सुख पांच इन्द्रियो से प्राप्त होता है, वह पराधीन है, बाधा सहित है। बीच मे नष्ट हो जाने वाला है, बन्ध का कारण है और विषम है,—हानि वृद्धि रूप है, इसलिए दुःख ही है। शुभोपयोग से पुण्य होता है और पुण्य से इन्द्रियजन्य सुख मिलता है परन्तु यथार्थ में विचार करने पर वह इन्द्रियजन्य सुख-दुःख रूप ही मालूम होता है। पुण्य और पाप मे (बन्धन की अपेक्षा) विशेषता नही है, ऐसा जो नही मानता है, वह मोह से आच्छादित होता हुआ भयानक और अन्तरहित ससार मे भटकता है।

प्रवचनसार मे अन्यत्र कहा गया है कि जो जीव जिनेन्द्रो को जानता है, सिद्धो तथा अनगारों (आचार्य, उपाध्याय, और सर्व साधुओ) की श्रद्धा करता है, जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है उसके वह शुभ उपयोग है। यदि मुनि अवस्था मे अरहन्त आदि मे भक्ति तथा परमागम से युक्त महामुनियों में वत्सलता-गोवत्स की तरह स्नेह-वृत्ति है तो वह शुभोपयोग से युक्त चर्या है। सराग-चरित्र की दशा मे अपने से पूज्य मुनिराजों की वन्दना करना, नमस्कार करना, आते हुए देख उठकर खड़ा होना, जाते समय पीछे-पीछे चलना इत्यादि प्रवृत्ति तथा उनके श्रम, थकावट को दूर करना निन्दित नहीं है, प्रशस्त है।

शुभोपयोगी मुनि की प्रवृत्तियां—दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का सग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना यह सब सरागी मुनियो की प्रवृत्ति है। जो ऋषि, मुनि यति, अनगार के भेद से चतुर्विध मुनि समूह का षटकायिक जीवों की विराधना से रहित उपकार करता है—वैयावृत्य के द्वारा उन्हें सुख पहुंचाना है वह भी सराग प्रधान अर्थात् शुभोपयोगी है। यद्यपि अल्प कर्मबन्धन होता है, तथापि

(शेष पृ० ८ पर)

रेल की जैन प्रतिमा

□ डा० प्रदीप शालिग्राम मेश्राम

महाराष्ट्र राज्य के अकोला जिले में अकोला से लगभग २० मि० मी० दूर चौहाटा के पास "रेल" नामक एक छोटा-सा कस्बा है। यहाँ उगलियो पर गिनने लायक दिगंबर जैन परिवार बसे है। अधिकांश परिवारो मे पीतल की बनी अधुनिक मूर्तियां पूजा मे है। लेकिन श्री शंकरराव फुलंबरकार के घर एक सफेद संगमरमर की बनी पार्श्वनाथ की मूर्ति बरबस ही ध्यान खीच लेती हैं। यह मूर्ति उनके मदिर प्रकोष्ट मे है तथा रोज पूजी जाती है। शोधकर्ता किसी व्यक्तिगत कार्य से रेल गया था तब यह मूर्ति देखने का सुअवसर मिला। लेखक फुलबरकारजी का कृतज्ञ है जिन्होने कुछ मिनट मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर दिया।

सफेद संगमरमर की बनी २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पद्मासन मुद्रा मे बैठी यह अत्यत आकर्षक प्रतिमा है। यह ८" लबे तथा एक इच मोटे पादपीठ पर बनी है। पादपीठ सहित मूर्ति की ऊचाई बारह इच याने एक फीट है। इसमे पार्श्वनाथ के सिर पर दो इच ऊँचे सात सर्पफणों का छत्र भी सम्मिलित है। पादपीठ का आकार त्रिकोणी है।

पार्श्वनाथ के सिर पर भगवान बुद्ध के उष्णीष की भांति तीन घुंघराले केशों की लटें मात्र है। शेष भाग केश रहित या मुण्डित है जिस पर सर्पफण अवशिष्ट है। कान कंधे पर लटक रहे हैं आंखें अधखुली हैं तथा भौहें लंबी हैं ओठ किंचित मोटे हैं तथा नासाग्र सीधा है ग्रीवा तथा पेट का हिस्सा समतल है किन्तु सीना थोड़ा बाहर निकला प्रतीत होता है जिसके मध्य मे श्रीवत्स चिह्न अकित है। स्तनों के घुंडियों की जगह बारीक छिद्र मात्र दृष्टिगोचर होते है। नाभी को अर्धचंद्रकार रूप मे प्रदर्शित किया गया है। इसके नीचे तीन चौकोर पद्मकों का अंकन है। सभवत: अधोवस्त्र को बांधने के लिए मेखला के रूप मे इसे उपयुक्त किया गया हो। लेकिन प्रतिमा में वस्त्र के कही भी लक्षण नही है। इसके सामने ही बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखा है जिनकी चारों उंगलियां स्पष्ट दिखाई देती है जो अगुष्ठ में जुडी हुई है।

मूर्ति को धोते समय जल सग्रहन की सुविधा हो इसलिए कमर के चारों ओर खांच नुमा परिघा बनाई गई है। जिससे पानी मूर्ति के पीछे न बहे इतना ही नही नाभी के नीचे जो स्थान बना है उसमें पानी बाहर निकलने के लिए एक छिद्र बनाया गया है जो सहजता से दृष्टिगोचर नही होता।

पार्श्वनाथ के सिर पर सात सर्पफण का छत्र प्रदर्शित किया गया है जिसमें वह ध्यानमुद्रा मे विराजमान है। प्रत्येक फन पर दोनों ओर दो-दो वर्तुलाकार आँखें उत्कीर्ण की गई है। सिर पर धरे सातो सर्प फन पीछे मे भी सिर पर सात खांचाओं से अकित है जो गर्दन तक पहुंच कर एक मे विलीन हो जाते हैं। इतना ही नही रीढ़ की हड्डी के साथ इसे एकाकार कर कमर के नीचे तक पहुंचाया

(शेष पृ० १६ पर)

(पृ० ७ का शेषाष)

शुभोपयोग श्रमण गृहस्थ अथवा मुनिधर्म की चर्या से युक्त श्रावक और मुनियो का निरपेक्ष हो दयाभाव से उपकार करे। शुभोपयोगी मुनि किसी अन्य मुनि को रोग से, भूख से, प्यास से अथवा श्रम-थकावट आदि से आक्रांत, देख अपनी शक्ति के अनुसार स्वीकृत करें अर्थात् वैयावृत्य द्वारा उसका खेद दूर करे। ग्लान (बीमार) गुरु बाल अथवा वृद्ध साधुओ की वैयावृत्य के निमित्त शुभ भावों सहित लौकिक जनों के साथ वार्तालाप भी निन्दित नही है।

मुनियों और श्रावकों का शुभोपयोग—शुभराग रूप प्रवृत्ति मुनियो के अल्प रूप मे और गृहस्थो क उत्कट रूप मे होती है। गृहस्थ इसी शुभ प्रवृत्ति से उत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं। □□

गतांक से आगे :

मूलाचार व उसकी आचार वृत्ति

पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

आगे मूलाचार गाथा २०२ मे निर्दिष्ट ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियो की जघन्य स्थिति को विशद करते हुए वृत्ति मे जो उनके साथ उत्तर प्रकृतियो की भी जघन्य स्थिति का निरूपण किया गया है वह षट्खण्डागम के इन सूत्रों का छायानुवाद है—

पचण्हं णाणावरणीयाण चदुण्ह दसणावरणीयाण लोभ-सजलणस्स पचण्हमतराइयाण जहण्णओ ट्ठिदिबंधो अतो-मुहुत्त। ष० ख० सूत्र १, ६-७, ३ (पु० ६, पृ० १८२) यथा—

पचज्ञानावरण—चतुर्दर्शनावरण—लोभसज्वलन-पचात-रायाणा जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्ता। (मूला० वृत्ति गा० १२-२०२)।

आगे के इस प्रसग का मिलान क्रम के बिना इन ष० ख० के सूत्रो से कर लीजिए —६, ४१, १८, २१, ६, १२, १५, २४, २७, ३१, ३५, ३८ व पुन: २४।

विशेषता :

दोनो ग्रन्थगत इस प्रसग मे अभिप्रायभेद के बिना शब्दभेद कुछ हुआ है जो इस प्रकार है—

(१) सूत्र १५ मे जहाँ ष० ख० मे 'बारह कषाय' ऐसा सामान्य से कहा गया है वहा इस वृत्ति मे विशेष रूप मे उन बारह कषायो का नामोल्लेख अनन्तानुबन्धी आदि के रूप मे किया गया है। (ज्ञा० पी० सं० २, पृ० २८०)।

(२) सूत्र २४ मे ष० ख० में जहाँ स्त्रीवेद आदि के रूप मे पृथक् पृथक् आठ नोकषायो का नामनिर्देश किया गया है वहां इस वृत्ति मे 'आठ नोकषाय' के रूप मे सामान्य से कर दिया गया है।

(३) सूत्र ३५ के समान इस वृत्ति मे वैक्रियिक अंगो-पांग के साथ 'वैक्रियिक शरीर' का भी उल्लेख किया जाना चाहिए था जो नही हुआ है। यह अशुद्धि लिपिकार या प्रूफ संशोधन के प्रमादवश हुई है। बम्बई संस्करण में यहां नरकगति के आगे 'देवगति' छूटा है, उसे ज्ञा० पी० सस्करण मे ले लिया गया है।

(४) आहार शरीर, आहार शरीरांगोपांग और तीर्थंकर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का निर्देश करते हुए वृत्ति में 'कोटी कोट्योऽन्त:कोटीकोटी' के स्थान मे मात्र 'अन्त:कोटीकोटी' ही होना चाहिए था। 'कोटीकोट्यो' का ग्रहण अशुद्ध है। यहा बम्बई सस्करण में 'आहारशरीर छूटा था, उसे ज्ञा० पी० सस्करण में 'आहार' इतने मात्र से ग्रहण कर लिया गया है।

(५) ष० ख० सूत्र में जहां स्त्रीवेद आदि आठ नोकषायो के पृथक् पृथक् नाम निर्देशपूर्वक उनके साथ तिर्यंचगति व मनुष्यगति आदि अन्य कुछ प्रकृतियों को भी ग्रहण किया गया है वहा इस वृत्ति में वृत्तिकार द्वारा आगे 'शेषाणां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ' इत्यादि कहकर उन अन्य प्रकृतियों की सूचना ही की गई है, स्पष्ट उल्लेख उनका नहीं किया गया है।

(६) एक उल्लेखनीय अशुद्धि यहां वृत्ति में यह हुई है कि 'मिथ्यात्वस्य सागरोपमस्य सप्तदश भागा:······' कहा गया है जो निश्चित ही अशुद्ध है। 'सप्तदशभागा:' के स्थान मे 'सप्त सप्तभागा:' ही होना चाहिए था। (ज्ञा० पी० स० २, पृ० ३७६-८०)। जिसका अभिप्राय एक सागरोपम (७/७) होता है।

वह ष० खं० के 'मिच्छत्तस्स जहण्णगो ट्ठिदिबंधो साग-रोवमस्स सत्त सत्तभागा पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणिया' इस सूत्र (१, ६-७, १२, पु० ६, पृ० १८६) से सुस्पष्ट है।

२ सर्वार्थसिद्धि—(१) मूलाचार गा० १-१६ की वृत्ति मे जो विभिन्न इन्द्रियो के स्वरूप आदि को स्पष्ट किया गया है उसमे अधिकांश सन्दर्भ थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रायः सर्वार्थसिद्धि (सूत्र २, १७-२०) से जसा का तैसा ले लिया गया है। यथा—

कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। सा च द्विविधा बाह्याभ्यन्तरा चेति। उत्सेधाङ्गुल्यसंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां **प्रतिनियतचक्षुःश्रोत्र-घ्राण-रसन-स्पर्श-नेन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां** वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाग् यः प्रतिनियतसंस्थान नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गल-प्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः।……एवं **श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रियाणां वक्तव्यं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यम्।** मूला० वृत्ति १-१६.

निर्वर्त्यते निष्पाद्यते इति निर्वृत्तिः। **केन निर्वर्त्यते? कर्मणा।** सा द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्। उत्सेधांगुला-सख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां **प्रतिनियतचक्षु-रादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां** वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेष्वि**न्द्रियव्यपदेशभाक्षु** यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः।……**एवं शेषेष्विन्द्रियेषु ज्ञेयम्।** स० सि० २-१७.

मूलाचार वृत्ति में यहा जो बुद्धिपुरःसरपरिवर्तन किया गया है व जिससे कुछ अभिप्राय का भेद नही हुआ है उसे दोनो मे रेखांकित कर दिया गया है।

इसी प्रकार लब्धि और उपयोग भावेन्द्रियों के स्वरूप आदि को सर्वार्थसिद्धि २-१८ और स्पर्शनादि इन्द्रियों के स्वरूप को स० सि० २-१९ से मिलाया जा सकता है।

(२) मूलाचार गा० ८-१४ की वृत्ति मे जो पाच परिवर्तनो का निरूपण किया गया है वह सब सन्दर्भ शब्दशः सर्वार्थसिद्धि २-१० से लिया गया है। यहां एक यह विशेषता रही है कि सर्वार्थसिद्धि मे पाच परिवर्तनों का नामनिर्देश किया गया है, पर यहां (मूल गाथा में) चार परिवर्तनों का नामनिर्देश किया गया है तथा वृत्ति मे 'भवपरिवर्तन' के विषय में यह कह दिया है—**भवपरि-वर्तनं चात्रैव द्रष्टव्यमन्यत्र पंचविधस्योपदेशात्।** 'अन्यत्र' के कहने से कदाचित् द्वादशानुप्रेक्षा (कुन्दकुन्द) और सर्वार्थसिद्धि का अभिप्राय हो सकता है, किन्तु उनके नाम का उल्लेख स्पष्टतया नहीं किया जा सका है। दूसरी एक विशेषता यह भी रही है कि स० सि० में जो उपर्युक्त प्रसंग में 'उक्तं च' कह कर क्रम से **"सव्वे वि पुग्गला खलु"** आदि पाच गाथाओ को उद्धृत किया है उन्हें यहां उद्धृत नही किया गया है। वे गाथायें यथा क्रम से आ० कुन्दकुन्द विरचित द्वादशानुप्रेक्षा मे २५-२९ गाथांकों मे उपलब्ध होती है। अन्यत्र कही से उद्धरण देना यह वृत्ति-कार वसुनन्दी को अभिप्रेत नहीं रहा।

(३) मूलाचार में जो "सुहुमे जोगविसेसेण" इत्यादि गाथा (१२-२०४) उपलब्ध होती है उसकी वृत्ति मे गाथा-गत पदों की सार्थकता स्पष्ट की गई है। उधर तत्त्वार्थ-सूत्र में जो "नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्" इत्यादि सूत्र (८-२४) उपलब्ध होता है वह सम्भवतः मूलाचार की इसी गाथा पर आधारित है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धि मे सभी सूत्रगत पदों की सफलता को स्पष्ट किया गया। इन दोनो मे उपयुक्त सन्दर्भ शब्द व अर्थ से बहुत कुछ अभिन्न है। यथा—

सूक्ष्मादिग्रहणं कर्मयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्तनार्थं ग्रहण-योग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति। एक क्षेत्रावगाह-वचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम्। स्थिता इति वचन क्रियान्तर-निवृत्त्यर्थं स्थिता न गच्छन्त इति। सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमाधारनिर्देशार्थं नैकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा वर्तन्ते। क्व तर्हि? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति। इत्यादि। स० सि० ८-२४.

सूक्ष्मग्रहण ग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्णनार्थं [वर्त-नार्थं] वर्ण(?) ग्रहणयोग्या पुद्गला सूक्ष्मा न स्थूलाः। एक-क्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तर निवृत्त्यर्थम्। × × × क्रियान्तर-निवृत्त्यर्थं स्थिता न गच्छन्तः। (एकैक प्रदेशे इत्यत्र वीप्सा-निर्देशेन सर्वात्मप्रदेशसंग्रह कृतस्तेन एकप्रदेशादिषु न) कर्मप्र-देशाः प्रवर्तन्ते। क्व तर्हि? ऊर्ध्वमधः स्थितास्तिर्यक् च सर्वे-ष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति। इत्यादि। मूला० वृत्ति १२-२०४. प्रस्तुत किये जा सकते हैं—जैसे मूलाचार वृत्ति

१२-१८३ व सर्वार्थसिद्धि ८-२ मे कर्मयोग्यानिति लघुनिर्दे-शात् सिद्धेः कर्मणो योग्यानिति पृथगविभक्त्युच्चारण वाक्यान्तरज्ञापनार्थम् ।... ...इत्यादि । (मूला० वृत्तिगत प्रसंग कुछ अशुद्ध भी हुआ है) । किन्तु लेख को अधिक विस्तृत करना समय के अनुरूप नही है, अत; उनको अभी स्थगित करना ही उचित होगा ।

३ जैनेन्द्र व्याकरण—वृत्तिकर्ता लक्षणशास्त्र के भी अधिकारी विद्वान रहे है । उनकी विशेष रुचि जैनेन्द्र व्याकरण की ओर रही है, यह उनकी इस वृत्ति के परिशीलन से स्पष्ट है । मूल ग्रन्थकार ने 'सामाचार' अधिकार को प्रारम्भ करते हुए जो मगल किया है उसमे '**सामाचारं समासदो वोच्छं**' इस प्रकार से मंगलपूर्वक सामाचार अधिकार के कहने की प्रतिज्ञा की है । इसमे जो 'समासदो (समासतः)' पद प्रयुक्त हुआ है उसके विषय मे वृत्तिकार ने यह स्पष्ट किया है कि यहां 'समासतः' मे जो पचमी विभक्ति का बोधक 'तस्' प्रत्यय हुआ है वह जैनेन्द्र व्याकरण के इस सूत्र के अनुसार हुआ है—

कायास्तस् (जैनेन्द्र सूत्र ४।१।११३) ।

यहा यह स्मरणीय है कि जैन व्याकरण मे '**का**' यह पंचमी विभक्ति की सज्ञा है ।

यही पर आगे गाथा ४-२ में प्रयुक्त '**सम्मान (समान)**' के स्पष्टीकरण मे उन्होने यह कहा है कि 'सह मानेन वर्तते इति समान' इस विग्रह के अनुसार यहा 'सह' के स्थान मे इस सूत्र से 'स' आदेश हो गया है—

सहस्य स. खौ (जैनेन्द्र सूत्र ४।३।२१६.) ।

४ धवला—प्रस्तुत मूलाचार वृत्ति मे षट्खण्डागम की टीका धवला के अन्तर्गत अनेक सन्दर्भो को कही शब्दश उसी रूप मे और कही पर सस्कृत छायानुवाद के रूप मे यथा प्रसग अन्तर्हित कर लिया गया है । यथा—

षट्खण्डागम मे सर्वप्रथम सूत्र १, ९-२३ (पु० १, पृ० १६१-७०) मे मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानो के नामों का निर्देश मात्र किया गया है । उधर मूलाचार मे गाथा १२-१५४-५५ द्वारा भी उक्त गुणस्थानो का नाममनिर्देश मात्र किया गया है । उनका विशेष विवरण इन दोनो ग्रन्थों की टीका मे उपलब्ध होता है । विशेषता यह रही है कि धवला में जहां उनका स्पष्टीकरण मूल ग्रन्थ के अनुसार पूर्वोक्त उन सूत्रों मे पृथक् पृथक् किया गया है वहा प्रस्तुत मूलाचार वृत्ति में उनका स्पष्टीकरण उक्त दोनों गाथाओ (१२,१५४-५५) की वृत्ति में एक साथ कर दिया गया है । जैसे प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप धवला में इस प्रकार कहा गया है—

मिथ्या वितथा व्यालीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्त-विनय-सशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषा ते मिथ्यादृष्टयः । × × × अथवा मिथ्या वितथम्, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धाप्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः' । धवला पु० १, १६२.

इसे मूलाचार वृत्ति में शब्दशः इस प्रकार आत्मसात् कर लिया गया है—

मिथ्या वितथा[व्यलीका]ऽसत्या दृष्टिर्दर्शन विपरीतैकान्त-विनय-संशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषा ते मिथ्यादृष्टयोऽथवा मिथ्या वितथा, तत्र दृष्टी रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयो[ऽनेकान्ततत्त्वपराङ्मुखाः] । मूलाचार वृत्ति बम्बई संस्करण २, पृ० २७३ व ज्ञा० पी० संस्करण २, पृ० ३१३.

इसी प्रकार सासादन आदि अन्य गुणस्थानो से सम्बन्धित सन्दर्भ को भी दोनों ग्रन्थो मे समान रूप से देखा जा सकता है (धवला पु० १—सासादन पृ० १६३, सम्यग्मि० पृ० १६६, असं० पृ० १७१, सयता० पृ० १७३-७४, प्रमत्त १७६-७७, अप्रमत्त० १७८-७९, अपूर्व० १८०-८२, अनिवृत्ति १८३-८६, सूक्ष्मसां० १८७-८८, उपशा० १८८-८९, क्षीणक० १८९-९०, सयो.ग० १९१, अयोगके० १९२ और गुणस्थानातीत सिद्ध २००.

इस प्रसंग मे धवला मे प्रसग के अनुरूप शका-समाधान पूर्वक बीच बीच मे कुछ अन्य चर्चा भी की गई है, इससे क्रमश. सन्दर्भों का मिलान करना शक्य नहीं है, इसलिए यहा धवला से लेकर कुछ सम्बद्ध वाक्यो को

१, यहां धवला मे प्रसग से सम्बद्ध दो प्राचीन गाथाओं को उद्धृत कर उनके आश्रय से अपने अभिप्राय की पुष्टि की गई है, जिन्हें आ० वसुनन्दी ने उद्धृत करना आवश्यक नही समझा ।

उद्धृत कर देते है, जिन्हें प्रस्तुत मूलाचार वृत्ति मे मिलाया जा सकता है। जैसे—

२ **सासादन**—आसादन सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेनवर्तते इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्त-मिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुख: सासादन इति भण्यते। पृ० १६३.

३ **सम्यङ्मिथ्यादृष्टि**—दृष्टि: श्रद्धा रुचि: इति यावत्, समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टि:। × × × सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्धकानां क्षयात् सतामुदयाभावलक्षणोपशमान्मिथ्यात्वकर्मण. सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च·······। पृ० १६६ व आगे पृ० १७०.

४ **असंयतसम्यग्दृष्टि** —समीचीना दृष्टि: श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टि:, असयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असयत-सम्यग्दृष्टि:। सो त्ति सम्माइट्ठी तिविहो खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि।···पृ० १७१.

५ **संयतासंयत**—सयताश्च ते असयताश्च संयता-संयता:। × × × न चात्र विरोध: सयमासयमयोरेक-द्रव्यवर्तिनोस्त्रसस्थावरनिबन्धनत्वात्। × × × अप्रत्याख्यानावरणीयस्य सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात् सता चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदयादप्रत्याख्यानोत्पत्ते.। पृ० १७३-७५.

इसी पद्धति से आगे के प्रमत्तसयतादि गुणस्थानो से सम्बद्ध सन्दर्भों को भी इन दोनो ग्रन्थों मे मिलाया जा सकता है।

धवला और मूलाचार वृत्ति मे कुछ अन्य प्रसग भी शब्दश: मिलान के योग्य है—

पर्याप्ति के छह भेद—धवला पु० १, पृ० २५४-५६ व मूला० वृत्ति १२-१९५, मा० ग्र० संस्करण २, पृ० ३०९-१० व भा० ज्ञा० पी० सस्करण २, पृ० ३६७-६८. (यहा इन दोनों सस्करणो मे आहारपर्याप्ति से सम्बद्ध प्रसंग कुछ त्रुटित भी हुआ है। जैसे—

'·······खलरसपर्यायै: परिणमनशक्तिराहारपर्याप्ति.।' इसके स्थान मे ऐसा पाठ सम्भव है—' ···खल-रसपर्यायै: परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्ति:।' आगे 'सा च ·····जायते शरीरोपादानात् प्रथम' इसके स्थान में सा च····· जायते, आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावात्। शरीरोपादानात् प्रथम'·······।

उपशमनविधि—धवला पु० १, पृ० २१०-१४ और मूला वृ० गा० १२-२०५ (मा० सस्करण २ पृ० ३२०-२२ व ज्ञा० पी० संस्करण, पु० ३८५-८७)। दोनो मे शब्दश: मिलान कीजिये—

धवला पु० १, पृ० २११—अ व्वकरणे ण एक्क पि कम्ममुवसमदि किंतु अपुव्वकर ो ···पृ० २११-१४ तक।

मूला० वृत्ति १२-२०५—अपूर्वकरणे नैकमपि कर्मोपशाम्यति। किंत्वपूर्वकरण.····· पृ० ३२०-२२ (मा० ग्र० तथा ज्ञा० पी० २, पृ० ३८५-८७) तक।

यहां कुछ वाक्य आगे-पीछे भी व्यवहृत हुए है। यथा—

अणताणुबंधिकोध - माण-माया-लोभ-सम्मत्त - सम्मा-मिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्त पयडीओ असजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसजदोत्ति ताव एदेसु जो वा सो वा उवसामेदि। × × × दंमणतियस्स उदयाभावो उपसमो, तेसिमुवसताण पि ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिस-कमाणमत्थित्तादो। धवला पृ० २१०-११

अनन्तानुबधि - क्रोध-मान-माया-लोभ-सम्यक्त्वमिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्वानीत्येता: सप्तप्रकृती: असयतसम्यग्दृष्ट - सयतासयत-प्रमत्ताप्रमत्तादीना (?) मध्ये कोऽप्येक उपशमयति। × × × दर्शनमोहत्रिकस्योदयाभाव उपशमस्तेषामुपशान्तानामप्युत्कर्षापकर्ष - परप्रकृतिसक्रमणानामस्तित्व यत: इति। मूला० वृत्ति पृ० ३२०-२१, मा० ग्र० मा० स० २ पृ० ३८५ व ३८६।

क्षपणविधि—इस प्रसग का भी दोनों ग्रन्थो मे शब्दश: मिलन किया जा सकता है—धवला० पु० १, पृ० २१५-२३ 'सजोगिजिणो होदि' तक और मूला० वृत्ति २ पृ० ३१२-१३ ज्ञा० पी० स० २, पृ० ३८८-९० **'सयोगिजिनो भवति'** तक।

इन दोनो प्रसंगों की प्ररूपणा करते हुए मूलाचार-वृत्ति मे अनेक अशुद्धियां हुई हैं।

उपशमविधि के अन्त में '**उदयोदीरणात्कर्षणापकर्षण**··· **स्थानमपि समन्नाम्नेष मोहनीयोपशमनविधि**: इति' यह अधिक जुड़ गया है जो अशुद्ध या विचारणीय है (अनुवाद भी विचारणीय है)।

यहां धवला मे **क्षपणविधि** के प्रसग मे मतभेद से सम्बद्ध एक लंबा शका-समाधान हुआ है (पृ० २१७-२२)। यह शका-समाधान मूलाचार वृत्ति (पृ० ३२३) मे भी उपलब्ध होता है, जिसे धवलागत निष्कर्ष को लेकर प्राय: उन्ही शब्दों के द्वारा २-३ पक्तियों मे समाप्त कर दिया गया है। इस प्रसंग में मूलाचार मे 'षोडशकर्माणि द्वादश या (?)' ऐसा जो कहा गया है विचारणीय है।

उपर्युक्त प्रसंगों के अतिरिक्त धवलागत अनेक प्रसगों को इस वृत्ति के अन्तर्गत किया गया है, जिन्हें प्रस्तुत करना इस लेख मे सम्भव नही है। वह एक स्वतत्र निबन्ध का विषय है। यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया तो उसे फिर कभी प्रस्तुत किया जायगा।

५ पंचसंग्रह—(१) मूलाचार गाथा १२-२०३ मे अनुभागबन्ध के स्वरूप का निर्देश किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने उस अनुभाग को स्वमुख और प्रमुख के भेद से दो प्रकार का कहा है। उस प्रसग मे उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि सब मूल प्रकृतियों के रसविशेष का अनुभव (विपाक) स्वमुख से ही होना है— उनमें परस्पर सक्रमण नही होता। किन्तु उनकी उत्तर प्रकृतियो का विपाक स्वमुख से भी होता है व परमुख मे से भी होता है। विशेष इतना है कि चार आयु प्रकृतियो में परस्पर सक्रमण नही होता, अर्थात् एक कोई आयु दूसरी आयु के रूप मे परिणत होकर विपाक को प्राप्त नही होती। इसी प्रकार दर्शन मोह और चारित्रमोह मे भी परस्पर सक्रमण नही होता।

इस स्पष्टोकरण का आधार कदाचित् पचसग्रह (दि०) की ये गाथायें हो सकती है—

पच्चंति मूलपयडी णूण समुहेण सव्वजीवाणं।
समुहेण परमुहेण य मोहाउविवज्जिया सेसा ॥४-४४९
पच्चइ णो मणुयाऊ णिरयाउमुहेण समयणिद्दिट्ठ।
तह चरियमोहणीय दंसणमोहेण सजुत्त ॥४-४५०

यहा यह स्मरणीय है कि 'पचसग्रह' यह एक गाथाबद्ध ग्रन्थ है, पर प्रस्तुत वृत्ति गद्य रूप सस्कृत में रची गई है, इसलिये वृत्ति मे उपर्युक्त गाथाओ को उसी रूप में आत्मसात् करना सम्भव नही था। हा, 'उक्त च आदि के रूप मे वृत्तिकार उनके द्वारा अपने उक्त अभिप्राय की पुष्टि कर सकते थे, पर वैसी उनकी पद्धति नही रही।

(२) इसी वृत्ति मे आगे उन्होंने कर्मप्रकृतियो मे सर्वघातिरूपता और देशघातिरूपता को भी स्पष्ट किया है। इस प्रसग में सर्वप्रथम यह वाक्य उपलब्ध होता है—

केवलज्ञानावरण- केवलदर्शनावरण[1]-निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यान-गृद्धि-प्रचला-निद्रा: चतु: सज्वलनवर्ज्या द्वादशकषाया:। **मिथ्यात्वादीनां** (?) विशति प्रकृतीनामनुभाग सर्वघाती।

यहा 'मिथ्यात्व' के आगे जो षष्ठी बहुवचन के साथ 'आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे वृत्तिकार का क्या अभिप्राय रहा है, यह ज्ञात नहीं होता। पाठ भी कदाचित् अशुद्ध हो सकता है। सख्या उनकी बीस(२०) निर्दिष्ट की गई है। हो सकता है वे 'आदि' से कदाचित् 'सम्यग्मिथ्यात्व' की सूचना कर रहे है, पर वैसा होने पर बीस के स्थान मे इक्कीस सख्या हो जाती है।

पचसग्रह मे इस प्रसग में यह एक गाथा उपलब्ध होती है—

केवलणाणावरणं दसणछक्कं च मोहबारसयं।
ता सव्वघाइसण्णा मिस्स मिच्छत्तमेयवीसदियं ॥४-४८३

यहा स्पष्टतया 'मिस्स' के साथ 'एयवीसदियं' का निर्देश किया गया है। यह संख्याविषयक भेद बन्ध व उदीरणा की अपेक्षा हो सकता है। कारण यह कि 'सम्यग्मिथ्यात्व' अबन्धनीय प्रकृति है, अत: उसका बन्ध तो नहीं होता, किन्तु उदय-उदीरणा उसकी सम्भव है।[2]

---

१. यहां भा० प्र० सस्करण में 'केवलज्ञानावरण केवल दर्शनावरण'-नही रहे है, पर ज्ञा० पी० संस्करण (पृ० ३८१) में उन्हें ग्रहण कर लिया गया है।

२. मिथ्यात्वं विंशतिर्बन्धे सम्यग्मिथ्यात्वसंयुता।
उदये ता पुनर्दक्षैरेकविंशतिरीरिता ॥
पचसंग्रह की संस्कृत टीका में उद्धृत। पृ० २७५

(३) आगे वृत्ति में सर्वघाती और देशघाती का प्रसंग इस प्रकार प्राप्त होता है—

मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावधिज्ञान-मन.पर्ययज्ञानावरण-पंचान्तराय-संज्वलनक्रोध-मानमाया - लोभ- नवनोकषाणामुत्कृष्टानुभागबन्धः सर्वघाती व जघन्यो देशघाती ।

उसका जो इस प्रकार से अनुवाद किया गया है वह मूल का अनुसरण नही करता—

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण, पाच अन्तराय, सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ और नौ नोकषाय, **चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और सम्यक्त्व** प्रकृति ; इन छब्वीस का उत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती है और जघन्य अनुभाग देशघाती है ।[1]

मूल में चक्षुदर्शनावरण आदि चार प्रकृतियों का और छब्वीस सख्या का उल्लेख नही किया गया है ।

उपर्युक्त अनुवाद सम्भवत: कर्मकाण्ड गाथा ४० के अनुसार किया गया है । पर वहा उक्त छब्वीस प्रकृतियो को देशघाती ही कहा गया है, उनके उत्कृष्ट अनुभाग को सर्वघाती और जघन्य अनुभाग को देशघाती नही कहा गया है।

पंचसंग्रह की भी यह गाथा दृष्टव्य है—

णाणावरण चउक्क दसणतिगमतराइगे पच ।
ता होंति देसघाई सम्म सजलण णोकसाया य ।।४-४८४

वृत्तिकारने सम्भवत: उपर्युक्त प्रसग के स्पष्टीकरण मे धवलाका अनुसरण किया है ।

(४) इससे आगे जो यहां वृत्ति मे साता-असाता आदि अघाति प्रकृतियों, पुण्य-पाप सज्ञाओ और चतु स्थानिक आदि अनुभागविशेष का विचार किया गया है वह पचसग्रह की ४,४८५-८७ गाथाओं से बहुत कुछ समान है :

अनुवाद

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, अभी हाल में मूलाचार का जो संस्करण भा० ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है उसमे वे सभी अशुद्धिया और विचारणीय स्थल प्राय: उसी रूप मे तदवस्थ हैं, जिस प्रकार कि मा० ग्रन्थमाला से प्रकाशित पूर्व सस्करण मे रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद सुयोग्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती जी ने अपने कृत निर्णय (आद्य उपोद्घात पृ० 26) के अनुसार शब्दश: टीकानुवाद के साथ किया है। इस महत्त्वपूर्ण अनुवादादि कार्य मे आर्यिका माता जी की योग्यता एव परिश्रम सराहनीय है। इसका आधार कदाचित् 'आ० शा० जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था, फलटण' से प्रकाशित उसका पूर्व सस्करण हो सकता है। इस सब परिस्थिति के रहते हुए भी इस अनुवाद म पाठो की अशुद्धियो और प्राचीन प्रतियो से मिलान के योग्य अनेक दुरूह स्थलो के कारण कुछ विसगति भी हुई है। इसके लिये मैं यहा लेख-विस्तार के भय से कुछ थोड़ी ही विसगतियो को उदाहरणो द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हू । यथा—

१ गाथा ३४ मे 'स्थितिभोजन मूलगुण के प्रसग मे '**मिथस्तस्य**···' इत्यादि पाठ वृत्ति(पृ० ४४) में मुद्रित है। वह निश्चित ही अशुद्ध है। उसके स्थान मे '**स्थितस्य**···' पाठ शुद्ध होना चाहिये। अनुवाद में '**मुनि खड़े होकर आहार ग्रहण करते है**' यह उसका अभिप्राय सगत ही रहा है, पर मूल मे '**मिथस्तस्य**' यही अशुद्ध पाठ तदवस्थ रहा है, जिसकी सगति अनुवाद के साथ नही रही। प्रकृत में '**मिथ: तस्य**' उस पाठ की किसी भी प्रकार से सगति नही बैठ सकती।

२ आगे गाथा ३५ की वृत्ति मे (पृ० ४५) '**अन्यथार्थत्वात् भिषक्क्रियावदिति**' ऐसा पाठ मुद्रित है। यहां '**अन्यथार्थत्वात्**' के स्थान मे '**अन्यार्थत्वात्**' ऐसा शुद्ध पाठ सम्भव है। तदनुसार अनुवाद में " वैद्य की शल्य क्रिया के समान ये दु:ख से विपरीत **अन्यथा अर्थवालेही है**' इसके स्थान मे 'उपर्युक्त महाव्रतादि के अनुष्ठान विषयक उपदेश

---

१. यह धवलाका अनुसरण है—वहां पु० १५ पृ० १७०-७१ में अनुभाग उदीरणा के प्रसग मे इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट अनुभाग से सम्बन्धित सर्वघातित्व और देशघातित्व का पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। वहां अचक्षुदर्शनावरण के उत्कृष्ट व अनुभाग को देशघाती तथा चक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण के उत्कृष्ट को सर्वघाती और अनुत्कृष्ट को सर्वघाती व देशघाती कहा गया है।

का भिन्न ही प्रयोजन या अभिप्राय रहा है' ऐसा स्पष्टीकरण होना चाहिये। आगे अनुवाद में जैसे वैद्य रोगी के फोड़े को चीरता है...' इत्यादि स्पष्टीकरण प्रसंग के अनुरूप ही रहा है।

३ यहीं पर आगे वृत्ति में (पृ० ४६) **'तदुभयोज्झनमुभयम्'** पाठ मुद्रित है, जो निश्चित ही अशुद्ध है। पर उसका **'आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय तप है'** यह अनुवाद सगत ही है। 'तप' के स्थान मे 'प्रायश्चित' शब्द का प्रयोग अधिक निकटवर्ती था। मुद्रित उस अशुद्ध पाठ के अनुसार **'उन दोनों को छोड़ देना'** यह उसका अर्थ होता है, जो प्रसग के सर्वथा विरुद्ध है।

४ इसके आगे यही पर वृत्ति मे (पृ० ४७) **'विपरीतं गतस्य मनसः निवर्तन श्रद्धानम्'** यह 'श्रद्धान' प्रायश्चित्त के प्रसंग में कहा गया है।

यहां **'विपरीतं'** के स्थान मे सम्भवतः **"विपरीततां'** पाठ रहा है। विपरीत' पाठ को देखकर ही सम्भवतः उसके अनुवाद मे 'विपरीत मिथ्यात्व' अर्थ किया गया है जो संगत नही दिखता। 'विपरीतता' पाठ के के अनुसार उसका अर्थ विपरीतता—मिथ्याभाव (अयथार्थ श्रद्धान) को प्राप्त मन को उससे लौटाना, यह अर्थ होगा जिसे असगत नहीं कहा जा सकता कारण यह है कि 'श्रद्धान' के प्रसग में मन को केवल विपरीत मिथ्यात्व की ओर से ही नही हटाना है, प्रत्युत सब ही प्रकार के मिथ्यात्व से हटाना अभिप्रेत है।

५ गाथा ११२की वृत्ति (पृ० ६६) मे गाथा मे उपयुक्त 'उपक्रम' का अर्थ उपलब्ध पाठ के अनुसार 'प्रवर्तन' होता है जो प्रसग के अनुरूप नही है। **'उपक्रम प्रवर्तन'** के स्थान मे 'उपक्रमः अपवर्तन' पाठ सम्भव है। तदनुसार अनुवाद में **'यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा'** के स्थान में **'यदि इस देश या काल में मेरे जीवन का उपक्रम—अपघात—होता है'** ऐसा अभिप्राय रहना चाहिए।

६ गाथा १८७ (पृ० १५३) में 'विभासिदव्वो-विभाषयितव्यः' पद प्रयुक्त हुआ है। अनुवाद में उसका अर्थ **'करना चाहिए'** ऐसा किया गया है, जो प्रसग के अनुरूप नही है। उसका अर्थ **'व्याख्यान करना चाहिए'** यह होना चाहिए। उस प्रसंग में जो अपवाद के रूप मे विशेष वक्तव्य रहा है उसे मूल ग्रन्थकार ने उसके आगे स्वय १८८-६५ गाथाओं में अभिव्यक्त कर दिया है।

इसी भूल से यहां **भावार्थ में जो उसका** स्पष्टीकरण किया गया है वह आगम परम्परा के विरुद्ध सिद्ध होने वाला है। उसमे यह अभिप्राय प्रगट किया गया है—

"इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए **वे ही अट्ठाईस मूलगुण** और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तरग्रहण आदि तथा वे ही औघिक पदविभागिक समाचार माने गये है जो कि यहा तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित है।"

इस प्रसग मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मूलगुणों में तो **आचेलक्य** और **स्थितिभोजन** भी हैं (यही पर पीछे गा० २-३ व प्रवचनसार गा० ३, ८-६), ऐसी परिस्थिति में क्या ये दोनो मूलगुण भी आर्यिकाओं के द्वारा अनुष्ठेय हैं। यह यहां विशेष स्मरणीय है कि **धवलाकार** आ० वीरसेन ने स्त्रियों की अचेलकता (निर्वस्त्रता) का प्रबलता से विरोध किया है (पु० १, पृ० ३३२-३३)।

आ० कुन्दकुन्द ने भी स्त्रियो के लिए प्रव्रज्या का प्रतिषेध करते हुए उन्हें एक वस्त्र की धारक कहा है। यथा –

लिंग इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि। **अज्जिय वि एकवत्था** वत्थावरणे ण भुंजेइ। **बोधप्राभृत** २२ (आगे की गाथा २३-२६ भी द्रष्टव्य है।

यह भी स्मरणीय है आ० ज्ञानमती माता जी प्रस्तुत मूलाचार का रचयिता आ० कुन्दकुन्द को ही मानती हैं।

निष्कर्ष :

जहां तक मैं समझ सका हूं प्रस्तुत गाथा मे उपयुक्त **'एसो अज्जाण पि सामाचारो'** में मूलग्रन्थकर्ता का अभिप्राय **'एसो'** से केवल प्रकृत चौथे सामाचार अधिकार का ही रहा है, न कि पूर्व चार अधिकारों का। यदि ऐसा न समझा जाय तो एक यह आपत्ति भी उपस्थित होती है कि आगे के अन्य पंचाचार, पिण्डशुद्धि और आवश्यक आदि अधिकारों में प्ररूपित अनुष्ठान आर्यिकाओं के लिए निषिद्ध ठहर सकते हैं।

७ आगे गाथा २०३ की वृत्ति (पृ० १६६) में प्रसंग-प्राप्त एक शका-समाधान में **'यावतैषामधिगताना यत् प्रधानं तत् सम्यक्त्वमित्युक्तम्'** ऐसा पाठ मुद्रित है। इसमें निश्चित ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे **'प्रधानं'** के स्थान मे **'श्रद्धानं'** पाठ उपलब्ध होना चाहिए। तदनुसार उसका यह अभिप्राय होना चाहिए कि समीचीननया जाने गये इन गाथोक्त जीवाजीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यक्त्व है, ऐसा कहा गया है। इसकी सगति आगे उस शका के समाधान में जो **'नैप दोष, श्रद्धान रूपेयमधिगतिरन्यथा परमार्थाधिगतेरभावात्'** यह जो कहा गया है, उससे भी बैठ जाती है। इस परिस्थिति में अनुवाद में जो "......सद्यार्थरूप से जाने गये इनमे से जो प्रधान हैं वह सम्यक्त्व है ऐसा सम्यक्त्व है ऐसा कहना तो युक्त हो भी सकता है?" यह स्पष्ट किया गया है वह किसी भी प्रकार (से संगत नही हो सकता पृ० ३७०)।

८ गाथा २३२ की वृत्ति पृ० १६६) में जो 'ते पुनररूपिणोऽजीवा:' ऐसा पाठ मुद्रित है वह सगत नही हैं, उसे अवग्रह चिह्न (ऽ) से रहित 'ते पुनररूपिणो जीवा.' ऐसा होना चाहिए। तदनुसार उसका यह अभिप्राय होगा कि पूर्व में जिन जीवों की प्ररूपणा की जा चुकी है (गा० २०४-२६) उन अरूपी जीवो के साथ प्रस्तुत गाथा (३३२) में निर्दिष्ट धर्म, अधर्म और आकाश तथा काल भी ये अरूपी द्रव्य है।

इस प्रकार से गाथा का अर्थ और उतने अश का वृत्ति का भी अर्थ **(वे पुन. अरूपी अजीव द्रव्य हैं)** असगत रहा है।

यह यहां विशेष ध्यातव्य है कि वृत्तिकार **'तच्छब्द. पूर्वप्रक्रान्त-(प्रकरणगत-)परामर्शी'** है, यह कह कर गाथा मे प्रयुक्त 'ते' पद के ही अभिप्राय को स्पष्ट कर रहे है।

६ यही पर आगे इसी वृत्ति मे जो 'धर्मादीना च स्कन्धादिभेदप्रतिपादनार्थं च पुनर्ग्रहणम्' यह कहा गया है उसका अनुवाद जो 'धर्म आदि का प्रतिपादन करके पुद्गल के स्कन्ध आदि के भेद बतलाने के लिए यहा उनका पुन: ग्रहण कर लिया गया है' यह स्पष्टीकरण किया गया है वह संगत नहीं है। इसके स्थान में उसका अनुवाद इस प्रकार होना चाहिए—धर्म आदि द्रव्यों के भी स्कन्ध व स्कन्धदेश आदि भेद होते हैं, इसके निरूपणार्थ भी यहां **'स्कन्ध'** आदि को पुनः ग्रहण किया गया है। इसके लिए षट्खण्डागम-बन्धन अनुयोगद्वार के अन्तर्गत ये सूत्र देखे जा सकते है—

जो सो अणादियविस्ससाबंधो सो तिविहो—धम्मत्थिया अधम्मत्थिया आगासत्थिया चेदि ॥३०॥ धम्मत्थिया धम्मत्थियदेसा धम्मत्थियपदेसा अधम्मत्थिया अधम्मत्थियदेसा अधम्मत्थियपदेसा आगासत्थिया आगासत्थियदेसा आगासत्थियपदेसा एदासि तिण्ण पि अत्थिआणमण्णोण्णपदेसबधो होदि ॥३१॥ (पु० १४ पृ० २६)।

१० गाथा २४४ की वृत्ति में (पृ० २०४) यह पाठ उपलब्ध होता है—अथवाऽयमभिसम्बन्धः कर्तव्यो **मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तानां**मेतद् व्याख्यान वेदितव्यम्।

इसका अनुवाद इस प्रकार है—अथवा ऐसा सम्बन्ध करना कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थान पर्यन्त यह (बन्ध का) व्याख्यान समझना चाहिए। इस प्रकार मूल मे जहां 'मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तानामेतत्' ऐसा कहा गया है वहा अनुवाद मे 'मिथ्यादृष्टि से लेकर **सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें** गुणस्थान पर्यन्त' ऐसा अर्थ किया गया है। इस प्रकार मूल में और अनुवाद मे एकरूपता नहीं रही है।

११ इसी प्रकार यही पर आगे वृत्ति मे 'अपरिणत' का अर्थ **'अयोगी और सिद्ध अथवा सयोगी और अयोगी'** ऐसा तथा 'उच्छिन्न' का अर्थ **'क्षीणकषाय'** ऐसा किया गया है। किन्तु अनवाद में उसके स्पष्टीकरण में **'अपरिणत' अर्थात उपशान्तमोह और 'उच्छिन्न' अर्थात क्षीणमोह आदि'** इतना मात्र कहा गया है। यह स्पष्टीकरण भी मूल से सम्बद्ध नही रहा।

वैसे तो यह मुद्रित वृत्तिगत पाठ ही कुछ अस्त-व्यस्त हुआ सा दिखता है।

अनुवाद का अभाव :

सम्भवत: व्याकरण आदि की ओर विशेष लक्ष्य न रहने से कहीं-कही अनुवाद को छोड़ भी दिया गया है या

अस्पष्ट बह रहा है। जैसे—

(१) गाथा १२२ की वृत्ति में (पृ० १०६) "समासदो—संक्षेपेण 'कायाः' तस् ['कायास्तस्']।" इतना मात्र संकेत किया गया है। उसका अनुवाद नहीं है।

'कायास्तस्' यह जैनेन्द्र व्याकरण का सूत्र (४।१।-११३) है। जैन व्याकरण के अनुसार 'का' यह पंचमी विभक्ति की संज्ञा है। तदनुसार उसका अभिप्राय यह है कि पंचमी-विभक्त्यन्त 'किम्' आदि शब्द को 'तस्' प्रत्यय हो जाता है। जैसे 'कस्मात्—कुत'। प्रकृत मे 'समासात्' यहां पंचमी विभक्ति से 'तस्' प्रत्यय हो कर 'समासतः (समासदो)' निष्पन्न हुआ है।

(२) यही पर आगे गा० १२३ की वृत्ति में (पृ० १०८) "सम्माणं—सह मानेन परिणामेन वर्तते इति समान सहस्य सः"······यह कहा गया है। उसका अनुवाद इस प्रकार हुआ है—यहां सह को स आदेश व्याकरण के नियम से सह मान समान बना है। यह अस्पष्ट है, कुछ उद्धरणक आदि चिह्न विशेष भी नहीं है, जिससे उसका कुछ अभिप्राय समझा जा सके।

'सहस्य सः खौ' यह भी उक्त जैनेन्द्र व्याकरण का ही सूत्र (४।३।२४६) है। उसका अभिप्राय है कि संज्ञा-शब्द के होने पर 'सह' के स्थान मे 'स' आदेश हो जाता है। जैसे—सह अश्वत्थेन साश्वत्थं। प्रकृत मे 'सह मानेन' यहां 'सह' के स्थान में 'स' होकर 'समान' बन गया है।

(३) गा० १२४ की वृत्ति मे (पृ० १०९) 'सम्यक् आचार एव सामाचारः प्राकृत बलाद्वा दीर्घत्वमादेः' ऐसा कहा गया है। इसका अनुवाद इस प्रकार है—यहां प्राकृत व्याकरण के निमित्त से दीर्घ हो गया है। इसमें विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रही है।

एए छच्च समाणा दोण्णि य संझक्खरा अट्ठ।
अण्णोण्णस्स परोप्परमुवेंति सव्वे समादेसं॥
धवला पु० १२, २८६ (उद्धृत)

यह एक सामान्य सूत्र है। इसका अभिप्राय यह है कि अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ये छह समान स्वर तथा ए और ओ के ये दो सन्ध्यक्षर ये आठों स्वर परस्पर में आदेश को प्राप्त होते है—बिना विरोध के एक दूसरे के स्थान मे हो जाते हैं। तदनुसार यहां 'समाचार' में सकारवर्ती अकार के स्थान मे आकार होकर 'सामाचार' निष्पन्न हुआ है।

(४) गा० १९९ की वृत्ति मे (पृ० १६३) में यह सूचना की गई है—नात्र विभक्त्यन्तरं प्राकृत लक्षणेनाकारस्यैकारः कृतोयतः। इसका अनुवाद नहीं किया गया है।

मूल गाथा में 'दंसण-णाण-चरित्ते' यह जो कहा गया है उसमे 'चरित्ते' पद को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते है कि गाथा में जो 'चरित्ते' है, इसे विभक्त्यन्तर नही समझना चाहिए, क्योंकि प्राकृत व्याकरण के अनुसार यहां तकारवर्ती एकार के स्थान में अकार हो गया है। यहां उपर्युक्त (एए छच्च समाणा) सूत्र ही लागू होता है।

इस प्रकार यहा प्रस्तुत ग्रन्थगत कुछ ही अधिकारों मे जो स्थूल दृष्टि से अशुद्धियां दिखी हैं उन्हीं के विषय में विचार किया गया है।

☐

सम्पादकीय :—'आगम की प्रामाणिकता' विषय पर हमारा कुछ लिखने का विचार है। अभी तो परमागम षट्खंडागम आदि के अनुवादक व जैन लक्षणावली आदि के सर्जक, उच्चकोटि के विद्वान् पंडित जी का उक्त लेख मूलाचार' के प्रामाणिक संस्करण के प्रकाश में लाने के संदर्भ मे है। पाठक उनकी अन्तर्वेदना को समझ, अन्य सभी आगमो को प्रामाणिक रखने की दिशा मे प्रयत्नशील हों—यह हमारा भाव है।

गत अंको मे हम जिनवाणी के अक्षुण्ण निर्मल रखने और उक्त लेख के लेखक—विचारक, ज्ञानसमृद्ध जैसे विद्वानों के उत्पादन और संरक्षण करने की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करते रहे हैं। उक्त लेख के परमोपयोगी होने पर भी विवश—हम उसे एक अक मे पूरा न द सके इसके लिए क्षमाप्रार्थी है।

—सम्पादक

दो हजारवीं जयंती हेतु विशेष प्रेरणा

आचार्य हमारे कुन्दकुन्द

□ सुरेश सरल, जबलपुर

जैनों के वह आचार्य जो नीति, न्याय और बुद्धि के धरातल पर आध्यात्मिक के ग्रन्थ, ग्रन्थ नही ग्रन्थावली, अब से सैकडों साल पूर्व रचकर हमे विश्व के विद्वानो के समक्ष बराबरी से खड़े हो जाने लायक स्थान दे गए, जिनके कारण विश्व के किसी भी महान् ग्रन्थ और उसके रचयिता की चर्चा सुनकर हमें हीनता का आभास नही होता। जब जिस किसी भी विशिष्ट धर्मधारा, नीति-धारा, की खुली चर्चा की जाती है वह पूर्व से ही उन ग्रन्थों में, ग्रन्थकार के दर्शन में, भरी पड़ी है। मानें कि अकेले ग्रन्थराज 'समयसार' में वह सब है जिसके कारण संसार में कोई ग्रन्थ 'आदर्श' कहलाता है। किसकी देन है यह? महापडित महामुनि, महाचार्य प्रात: स्मरणीय कुन्दकुन्द जी की। उनने एक ग्रन्थ नही चौरासी पाहुड़ें दी हैं। उनके सात ग्रन्थों मे समूचे विश्व का मर्म—जैन धर्म आध्यात्म, सस्कृति नीति और न्याय के आदर्श सूत्र है जिनके बल पर हम विश्व का पांडित्य करने लायक हो गए है। समयसार के बाद प्रवचनसार, पचास्तिकाय अष्टपाहुड, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा और रयणसार जैसे ग्रन्थ जहां उनकी बौद्धिक तपस्या के प्रतीक है वही वे उनके वैचारिक क्षितिज की उच्चतर के मानक स्तम्भ भी हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म, जो किसी 'अवतार' से कम नही है, सत ईसा से तेरह वर्ष पूर्व हुआ था। कहे हमारे देश के महाराजा, श्री विक्रम के ४४ वर्ष बाद वे जन्मे। भगवान महावीर के ५१३ वर्ष बाद कुन्दकुन्द ने जन्म लेकर महावीर दर्शन एक मायने मे पुनर्स्थापित किया था। महावीर की वाणी और वैचारिकता के जीवन चित्र है उनके ग्रन्थ। ब्राह्मणराज गौतम गणधर को जो करना था उनसे कही ज्यादा कुन्दकुन्द ने किया महावीर का कार्य लेखनी चला कर। अब से करीब दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम संवत् ४४ अथवा वीर नि० स० ५१३ में जन्मने वाले कुन्दकुन्द विचारक्रान्ति और चरित्र-उपासना के उदाहरण-महाकवि बनकर जग की अगुवाई करने तत्कालीन समाज के सामने आए थे और तब से अब तक वे आगे हैं अपने हर परावर्ती से।

विश्व-विद्वत्ता के भडारो अथवा प्रतीको-श्रेष्ठ शकराचार्यों और महामहोपाध्यायों—की हर पीढ़ी पर अपने दर्शन का हिमालयी-प्रभाव बनाये रखने वाले यदि कोई जैन आचार्य हुए हैं तो वे कुन्दकुन्द ही हैं। प्राचीन-वेदो से लेकर गीता, रामायण, बाइबिल, कुरान और 'शबद' तक के दर्शन के समक्ष कुन्दकुन्द जी अपनी मौलिकता और मनोवैज्ञानिकता अलग ही चमकाते मिलते हैं। उनके धर्म-सूत्र अखिल-विश्व एवं समग्र-प्राणी जन के लिए हैं। पुद्गल से ऊपर आत्मा का सौन्दर्य-शास्त्र है उनका—सुलेखन। ऐसे महान् परोपकारी, धर्म-सुधारक, धर्म प्रवर्तक संत की जयन्ती प्रतिवर्ष, उनके जन्म दिन पर आषाढ शुक्ल पूर्णिमा को राष्ट्र स्तर पर मनाए तो हम अपने पूर्वजों के प्रति एक ईमानदार परम्परा को प्रारभ कर स्वयं ही उपकृत हो सकेंगे और हो सकेंगे कृतज्ञ।

जयती क्यों मनाए? कैसे मनाए? दो प्रश्न सामने उछाले जा सकते हैं। पहले प्रश्न का समीचीन उत्तर उक्त पक्तियो मे आ पा चुके है। समाधान चाहिए अब द्वितीय का कैसे मनाए? उनके कार्यकाज के विषय पर मनीषियों से लिखाकर। उनके लिखे हुए पर शोध कार्य कर उनके उपलब्ध ग्रन्थो को सरल हिन्दी व अन्य भाषाओं मे प्रकाशित-सम्पादित करा कर। समयसार के 'सरल-संस्करण' को लाखो की सख्या मे तैयार कर आम-जन के हाथों मे पहुंचाकर उनके ग्रन्थों पर शिक्षण-प्रशिक्षण की सुविधाएं नव-विद्वानों को प्रदान कर। पाक्षिक मासिक

शिविरो का सयोजन-सचालन कर उनके विचारो पर टीका पढ़ाकर। अधिकारी-विद्वानो और विज्ञ मुनि आचार्यगणो की विचार गोष्ठि । आयोजित कर। विद्वान और मुनि सभा मे सामान्य-जैन को बतलाएगे कि आचार्य श्रेष्ठ कुन्दकुन्द के विचारो का सामाजिक योगदान क्या रहा है, क्या हो सकता है।

परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी ने समयसार ग्रन्थ को 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' कहा है। वह कुन्दन अब घर-घर पहुच सकेगा। सुनरहाई या सराफा से लिया जाने वाला स्वर्ण आपके देह तत्व को कुछ समय तक ही सजा-सवार सकता है पर कुन्दकुन्द का कुन्दन आपके आत्मतत्व को, फिर समूचे परिवार और समाज को सुशोभित कर देगा। आपका ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी कुन्दन की नाई रश्मियां बिखेरता रहेगा। अपने कुन्दकुन्द के कुन्दन की भव्याभा से आखे, मन-प्राण, कर्ण पवित्र करें और आत्मा को अपने स्वभाव में रमने का अवसर दें।

पहले आप पा ले तो फिर आपके बेटे-बेटी कुन्दकुन्द के इस प्रसाद को जतन से प्राप्त करते रहेगे और अपने मगलमय-विशाल-प्रासादो के कक्ष सदा कुन्दकुन्द से परिपूर्ण रखेगे।

(पृ० ८ का शेषाश)

गया है मूर्ती का पिछला हिस्सा नाग शरीर के सिवा समतल है। इस प्रतिमा मे शासन देवी तथा यक्ष आदि की अनुपस्थिति महत्वपूर्ण है।

पादपीठ की विशेषता यह है कि इस पर दो पक्तियो मे लेख विद्यमान है जो अधिकाश घिस गया है। लेखक को अधिक समय तक मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर नही दिया जिससे उसे आसानी से पढ़ा जा सकता। फिर भी लिपी नागरी मिश्रित अक्षरो की है और १८वीं शताब्दी की तो निश्चित ही है और यही इस प्रतिमा का समय भी है। प्रथम पक्ति मे कुछ शब्दो के बाद "मूलसघे" शब्द स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है। निचली पक्ति मे एक त्रिकोण आकार का चिह्न बना है जिसके बाद लेखकी द्वितीय पक्ति आरभ होती है।

प्रस्तुत मूर्ति का पिछला हिस्सा कुछ लाल-पीला पड गया है। पता चला कि लगभग ५० वर्षों पहले घर मे लगी आग की वजह से ऐसा है। इसके सिवाय कोई क्षति नही पहुची शेष प्रतिमा का पालिश अब भी जैसे का वैसा है।

प्रस्तुत मूर्ति सभवत: गुजरात या राजस्थानी कला का प्रतिनिधित्व करती है क्योकि इसी क्षेत्र मे सात सर्पफणों के छत्र के साथ ही लेखों मे पार्श्वनाथ नामोल्लेख की परम्परा लोकप्रिय थी। संभव है यह शब्द भी उक्त मूर्ति लेख मे आया हो। वैसे ही यहां के जैन परिवारों की पिछली पीढी कही बाहर से आकर बसी है। आसपास के इलाके मे विरले ही जैन लोग मिलते है।

वर्तमान युग मे २४ तीर्थकरो मे से अंतिम दो तीर्थंकरों पार्श्वनाथ एव महावीर की ही ऐतिहासिकता सर्वमान्य है। पार्श्वनाथ की यह मूर्ति विदर्भ के जैन धर्म के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है इसमे सदेह नही।

बेझनबाग, नागपुर-४४०००४

स्वच्छन्दो यो गणं त्यक्त्वा चरत्येकाक्यसंवृतः।
मृगचारीत्यसौ जैनधर्माऽकीर्तिकरः नरः॥ आचा० ६/५२

—जो स्वच्छन्द होकर मृग के समान एकाकी भ्रमण करता है और इन्द्रिय दास होता है वह जैनधर्म को निन्दा कराने वाला होता है।

अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ—सम्मइजिणचरिउ

□ प्रो० (डा०) राजाराम जैन

अपभ्रंश के महावीर-चरितों की परम्परा

"सम्मइजिणचरिउ"[1] अपभ्रंश का एक पौराणिक काव्य है, जिसमें सन्मति अथवा वर्धमान अथवा तीर्थंकर महावीर का जीवन चरित वर्णित है। प्राच्य-शास्त्र-भण्डारों से अभी तक अपभ्रंश के स्वतन्त्र रूप से लिखित एतद्विषयक चार रचनाओ की जानकारी मिल सकी है—विबुध श्रीधर (१३वी सदी) कृत वड्ढमाणचरिउ[2], कवि नरसेन (१४वी सदी) कृत वड्ढमाणकहा।[3] कवि जयमित्र हल्ल (अपरनाम हरिचद, १५वी सदी) कृत वड्ढमाण कव्व[4] एव महाकवि रइधू कृत सम्मइजिणचरिउ। इनमें से प्रथम दो ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है। चतुर्थ रचना की अभी तक ६ प्रतियो का जानकारी मिल चुकी है, किन्तु दुर्भाग्य से उन सभी मे प्रथम पांच सन्धियाँ अनुपलब्ध हैं। इन पाँचो सन्धियो मे मगध सम्राट श्रेणिक का चरित वर्णित है और छठवीं सन्धि से महावीर-चरित का वर्णन प्रारम्भ होता है। यदि श्रेणिक चरित को जयमित्र की एक पृथक् स्वतन्त्र-रचना भी मान ले, जो कि कभी भ्रमवश महावीर चरित के साथ किसी प्रतिलिपिक की भूल से एक ही लेखक की रचना होने के कारण सयुक्त कर दी गई होगी, तो भी, वह (श्रेणिक चरित) भी वर्तमान मे अनुपलब्ध ही है। तृतीय उक्त रचना—सम्मइ-जिणचरिउ सम्पादित होकर प्रेस मे जा चुकी है।[5] बहुत सम्भव है कि इस वर्ष के अन्त तक वह प्रकाशित होकर पाठको के हाथ मे पहुंच जाय।

उक्त सभी रचनाओं मे मूल कथानक दिगम्बर-परम्परानुमोदित ही है, किन्तु भाषा एव वर्णन-शैली कवियो की अपनी-अपनी है। घटनाओ मे भी कवियों ने हीनाधिक मात्रा मे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सकोच अथवा विस्तार किया हैं।

रइधूकृत सम्मइजिणचरिउ : ग्रन्थ-विस्तार एवं कार्य-विषय-संक्षेप

प्रस्तुतसम्मइजिणचरिउ मे १० सन्धियाँ और कुल मिलाकर २४५ कडवक।

पहली सन्धि के १९ कडवको मे मगलाचरण के बाद कवि द्वारा अपने प्रेरक गुरु यश कीर्ति भट्टारक तथा उनकी पूर्व-परम्परा के गुरुओं का स्मरण, अपने आश्रयदाता का परिचय, अपभ्रंश के चउमुह, दोणु आदि पूर्ववर्ती कवियो का स्मरण तथा सज्जन-दुर्जन वर्णन के बाद मूलकथा का प्रारम्भ मगध देश एव राजगृही नगर-वर्णन तथा उसके सम्राट श्रेणिक के परिचय और विपुलाचल पर महावीर के समवशरण के आगमन से प्रारम्भ होता है।

दूसरी सन्धि के १६ कडवको मे तीनों लोको का सक्षिप्त वर्णन किया गया है।

तीसरी सन्धि के ३८ कडवको तथा सन्धि के १३वे कडवक तक महावीर के पूर्वभवो का वर्णन और चौथी सन्धि के ही १४वे कडवक से अन्तिम २१वे कडवक तक महावीर के जन्म स्थल कुण्डलपुर आदि का वर्णन किया गया है। इसमें, तथा पाँचवी ३८ कडवक), सातवी (१४ कडवक तथा आठवी सन्धि (२७ कडवक) में महावीर के प्रथम ४ कल्याणकों का साहित्यिक शैली मे वर्णन किया गया है। इन सन्धियो मे कवि ने कुछ विशिष्ट प्रसग उपस्थित कर उनमे सम्यक्त्व, जीवादि सप्तत्त्व, षड्द्रव्य, द्वादशानुप्रेक्षा, द्वादशतप, द्वादशव्रत, ध्यान एव योग आदि के भी सक्षिप्त वर्णन किए हैं, जिनका आधार उमास्वतिकृत तत्त्वार्थसूत्र है।

नवमी सन्धि के २१ कडवको मे से प्रथम १५ कडवकों मे तीर्थकर महावीर के प्रधान शिष्य-गणधर—इन्द्रभूति गौतम का जीवन-चरित्र तथा उसके बाद महावीर-निर्वाण तथा उसके स्मृति चिह्न के रूप मे दीपावली-पर्व के प्रारम्भ

किए जाने की सूचना देकर, कवि ने अन्तिम एक कड़वक में महावीर के बाद के होने वाले श्रुतधाराचार्यों की काल-गणना का विवरण दिया है।

अन्तिम दसवी सन्धि के ६४ कडवकों मे से प्रथम २४ कड़वको में कवि ने अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया है और इसी प्रसग में कवि ने आचार्य गोवर्धन, पाटलिपुत्र नरेश राजानन्द, महामन्त्री शकटाल प्रत्यन्तवासी राजा पुरु, ब्राह्मण-चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) बिन्दुसार, अशोक, नकुल (कुणाल), सम्प्रति चन्द्रगुप्त के सक्षिप्त परिचयों के साथ पाटलिपुत्र के द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल का वर्णन किया है। इस प्रसग मे कवि ने राजा चन्द्रगुप्त द्वारा जैन दीक्षा-ग्रहण तथा आचार्य भद्रबाहु के साथ उनके १२००० साधुओं के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान तथा वहाँ चन्द्रगुप्त मुनि की कान्तार-चर्या आदि का बडा ही मार्मिक वर्णन किया है। इसी क्रम मे आचार्य विशाखनन्दी की चोल देश यात्रा, तथा वहाँ से पाटलिपुत्र में उनकी वापिसी, पाटलिपुत्र से स्थूलिभद्र धम्मिल्ल तथा स्थूलाचार्य से भेट आदि का वर्णन और विशाखनन्दी क शिष्यों द्वारा श्रुताङ्ग-लेखन एव श्रुतपञ्चमी पर्व के आरम्भ किए जाने का वर्णन है। इसके बाद पाटलिपुत्र के कल्कि राजाओ की दुष्टता का वर्णन है।

इस वर्णन के बाद के कड़वको मे गोपाचल एव हिसार नगर वर्णन तोमरवशी राजा डूंगरसिंह का वर्णन भट्टारक-परम्परा एवं आश्रयदाता का विस्तृत परिचय दिया गया है।

ग्रन्थकार-परिचय

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, "सम्मइजिणचरिउ" महाकवि रइधू द्वारा प्रणीत है। कवि ने ग्रन्थ-प्रशस्ति मे अपना परिचय देते हुए अपने पितामह का नाम सघपति देवराय तथा पिता का नाम हरिसिंह बतलाया है।[६] अग्र-पुरुष की संघपति उपाधि से विदित होता है कि कवि के पूर्वज लब्धप्रतिष्ठ सार्थवाह एवं लक्ष्मीपति रहे होगे, किन्तु रइधू ने कवि बनकर अपनी कुल परम्परा बदल दी। कवि ने स्वयं लिखा है कि उसे श्रुतदेवी ने स्वप्न देकर कहा[७]— "मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अपने मन की समस्त चिन्ताएँ छोड़, हे भव्य तू निरन्तर काव्य-रचना किया कर। दुर्जनों से मत डर, क्योंकि, भय समस्त बुद्धि का अपहरण कर लेता है।"

रइधू ने अपना समस्त जीवन-वृत एक स्थान पर नही लिखा, यह दुर्भाग्य का विषय है। हाँ, उसने अपनी अनेक ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे अपने विषय मे कुछ न कुछ सूचनाएँ अवश्य दी हैं और उनका सग्रह करने से कवि के जीवन-वृत की एक रूपरेखा तैयार हो जाती है, फिर भी उसकी जन्मतिथि एव जन्म स्थान की जानकारी के संकेत नही मिल सके हैं। इस विषय पर हमने अन्यत्र चर्चा की है।[८] अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर रइधू का समय वि० सं० १४४० से १५३० के मध्य स्थिर होता है।

रइधू-साहित्य में सम्मइजिणचरिउ का क्रम-निर्धारण

कवि रइधू की अद्यावधि २९ रचनाएँ ज्ञात हो सकी है, जो सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एव प्राचीन हिन्दी मे लिखित है। इनमे से २२ रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं, बाकी की ७ रचनाएँ अनुपलब्ध है,[९] कवि की यह विशेषता है कि उसने अपनी अधिकाश कृतियों मे स्वरचित अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं के उल्लेख कर दिए है। "सम्मइजिणचरिउ" में भी उसने लिखा है कि इस रचना के पूर्व वह पासणाहचरिउ, मेहेसर सेणावइचरिउ, तिसट्ठिमहापुराणपुरिसगुणालकारु, सिरिवालचरिउ, पउमचरिउ सुदसणचरिउ एवं धण्णकुमार चरिउ का प्रणयन कर चुका है।[१०] इस दृष्टि से कवि की रचनाओं मे प्रस्तुत रचना का क्रम आठवाँ सिद्ध होता हैं।

गुरु स्मरण एवं भट्टारकीय परम्परा

प्रस्तुत रचना मे कवि ने काष्ठासघ, माथुरगच्छ पुष्करगण शाखा के भट्टारक यशःकीर्ति को अपने प्रेरक गुरु के रूप मे स्मरण किया है।[११] यशःकीर्ति ने उसे किसी काव्य की रचना के लिए प्रेरित किया था। सयोग से यशःकीर्ति का परमभक्त ब्रह्म० खेल्हा अपनी माता (आजाही) कीस्मृति को स्थायी बनाना चाहता था अतः यशःकीर्ति से एक कोई नवीन ग्रन्थ लिखने की प्रार्थना करता है। इस कार्य के लिए यशःकीर्ति उसे कवि रइधू का नाम सुझाते हैं। खेल्हा के बारम्बार निवेदन करने पर

रइधू खेल्हा के हिसार निवासी तोसड साहू का आश्रय पाकर सम्मइ जिणचरिउ की रचना प्रारम्भ कर देते है।[१९] कवि ने इस परिवार की ५ पीढ़ियों के कार्यकलापो का विवरण दिया है, जिसमे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति की झाँकी मिलती है।

अपने गुरु-स्मरण के प्रसग में कवि ने यश.कीर्ति के पूर्ववर्ती एवं समकालीन निम्न भट्टारको के उल्लेख किऐ हैं[११]—देवसेन गणि, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्र-कीर्ति गुणकीर्ति यशःकीर्ति (गुरु) एव मलयकीर्ति। कठोर संयम एवं तपश्चरण के साधक होने के साथ-साथ ये भट्टारक पारंगत विद्वान् एव लेखक तो थे ही, उत्साही युवकों को कवि एव लेखक बनने की प्रेरणा एव प्रशिक्षण भी प्रदान करते थे। मध्यकालीन विविध विषयक साहित्य-लेखन एव कला-कृतियो के निर्माण मे इनके अभूतपूर्व ऐतिहासिक कार्यों को विस्मृत नही किया जा सकता। समाज को साहित्य-सरक्षण, साहित्यरसिक तथा साहित्य-स्वाध्याय की प्रेरणा प्रदान करते थे। इनका समय विभिन्न प्रमाणों के आधार पर वि० स० १४०० से १४९८ के मध्य स्थिर होता है। इस विषय पर मैंने अन्यत्र चर्चा की है।[१४]

रचना स्थल

कवि ने लिखा है कि उसने तोमरवशी राजा डूगरसिह के राज्य मे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है।[१५] उसने यह भी लिखा है कि उसने गोपाचल दुर्ग मे अपने भट्टारक गुरु यशःकीर्ति के सान्निध्य मे जैनविद्या का अध्ययन किया है।[१६] इन उल्लेखो से विदित होता है कि अधिकाश मूर्तियो की प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य रइधू ने सम्पन्न किया था।[१७] सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० हेमचन्द्र राय चौधुरी महोदय के अनुसार राजा डूगरसिह एव उनके पुत्र राजा कीर्तिसिह के राज्यकाल मे लगभग ३३ वर्षो तक इन जैन मूर्तियो का निर्माण एवं प्रतिष्ठा कार्य होता रहा।[१८] इन उल्लेखों से उक्त राजाओ का जैन धर्म के प्रति प्रेम स्पष्ट विदित होता है।

समकालीन राजा

गोपाचल के राजा डूंगर सिह का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कवि ने उसके व्यक्तित्व, पराक्रम एव उदारता एव सहिष्णुता का अच्छा वर्णन किया है।[१९] इसमें सन्देह नही कि डूंगरसिह का समय राजनैतिक दृष्टि से बड़ा ही सघर्षपूर्ण था। गोपाचल के उत्तर में सैयदवश, दक्षिण में मांडो के सुल्तान तथा पूर्व में जौनपुर के शर्कियों ने डूगरसिह को घोर यातनाएँ दी किन्तु डूंगरसिह ने अपनी चतुराई तथा पुरुषार्थ-पराक्रम से सबके छक्के छुड़ा दिए और सभी दृष्टियों से गोपाचाल को सुखी-समृद्ध बनाया।[२०]

अपभ्रंश के पूर्ववर्ती कवियों के उल्लेख

कवि ने पूर्ववर्ती कवियो के स्मरण-प्रसग मे अपभ्रंश के ५ कवियो का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है जिनके नाम है[२१]—चउमुह दोणु सयभु, पुप्फयंतु एव वीरु। इनमें से सयभु,[२२] पुप्फयतु[२२] एवं वीरु कवियो की रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है बाकी के चउमुह एव दोणु की रचनाएँ अज्ञात एव अनुपलब्ध है।[२३] बहुत सम्भव है कि रइधू को उनकी रचनाएँ देखने का अवसर मिला हो। इरधू ने इन कवियो की प्रशसा मे लिखा है कि वे कवि सूर्य के प्रकाश के समान ही ज्ञान के प्रकाशक है। मैं तो उनके आगे टिम-टिमाते हुए दीपक के समान हीनगुण वाला हू।"[२४]

आश्रयदाता परिचय

जैसा कि पूर्व म कहा जा चुका है सम्मइजिणचरिउ की रचना हिसार-निवासी साहू तोसड के आश्रय मे की गई थी।[२५] साहू तोसड की धर्मपत्नी आजाही ने गोपाचल-दुर्ग मे एक विशाल चन्द्रप्रभ की मूर्ति भी स्थापित कराई थी।[२६] कवि ने इस वश की भूरि-भूरि प्रशसा की है। उसने लिखा है कि तोसड के बडे भाई सहदेव ने अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा कराई थी।[२७] इस वश के वील्हा साहू का सम्राट फिरोजशाह द्वारा सम्मान किया गया था।[२८] धर्मा नाम पुत्र सघपति था क्योंकि उसने गिरनार-पर्वत की यात्रा के लिए एक विशाल सघ निकाला था।[२९] इसी वश का छीतम अपने समय के सभी व्यापारियों के सघ का अध्यक्ष था,[३०] जिसकी देखरेख मे ६६ प्रकार के व्यापार चलते थे।[३१] जालपु भी व्यापारिक नीतियो के जानकार के रूप मे प्रसिद्ध था। सत्यता पवित्रता एवं विश्वसनीयता ही इस परिवार के व्यापार की नीति थी।[३२]

ग्रन्थ की विशेषताएँ

सम्मइजिणचरिउ का कथानक परम्परानुमोदित है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु कवि ने उसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य जोडकर उसे महत्वपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। गौतमचरित एवं भद्रबाहुचरित तथा चाणक्य-चन्द्रगुप्त, नन्द-शकटाल आदि के वर्णन इसी कोटि मे आते हैं। महावीर-निर्वाण के बाद ६८३ वर्षों की आचार्य-काल-गणना जैन इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। कवि के अनुसार वीर-निर्वाण (ई० पू० ५२७) के बाद ६२ वर्षों मे गौतम सुधर्मा एव जम्बू स्वामी ये तीन केवल-ज्ञानी हुए। उनके बाद अगले १०० वर्षों मे ५ श्रुतिकेवली हुए, जो १४ पूर्वों के ज्ञाता थे। उनके बाद अगले १८३ वर्षों में १० पूर्वों के धारी हुए। तत्पश्चात् अगले २२० वर्षों में ११ श्रुतांगों के धारी हुए और उनके बाद ११८ वर्षों में ४ मुनि १ अंग के धारी हुए। इस प्रकार (६२+१००+१८३+२२०+११८) ६८३ वर्षों तक श्रुतज्ञान की परम्परा चलती रही और उसके बाद वह लुप्त होती गई।"

सम्मइजिणचरिउ की प्रशस्ति का अध्ययन करने से विदित होता है कि उसका लेखक साहित्यकार तो है ही किन्तु समकालीन भूगोल एवं इतिहास का भी जानकार है। वह लिखता है कि हिसार नगर योगिनीपुर (अर्थात् वर्तमान दिल्ली की पश्चिम दिशा मे स्थित है।" वह नगर हिसार-पिरोजा के नाम से भी प्रसिद्ध है[३५] क्योंकि उसे पेरोसाहि अर्थात् फीरोजशाह ने बसाया था।[३६] वर्तमान इतिहास से भी इस तथ्य का समर्थन होता है। कवि ने इस नगर को चित्रांग नदी के किनारे पर स्थित बताया है।[१७] बहुत सम्भव है कि चिनाव नदी का यह तत्कालीन नाम हो और उस समय वह हिसार के समीप ही बहती हो?

भाषा की दृष्टि से भी "सम्मइजिणचरिउ" विशेष महत्वपूर्ण रचना है। रइधू ने यद्यपि व्याकरण-सम्मत अपभ्रंश के प्रयोग किए हैं किन्तु समकालीन स्थानीय अथवा लोकप्रचलित जनभाषा के अनेक प्रयोग सहज रूप मे ही उपलब्ध हो जाते हैं। यथा—डाल (१।२।६)=वृक्षशाखा, चडाव (१।८।१४)=चढ़ाना, चंग (३।२८।८) ठीक, स्वस्थ, देखण (१०।५।६) देखना, सत्तू (१०।५।१४) =सत्तू, फाडिउ (१०।१७।२०) फाड़ना, किवाड (१०।१६।१) किवाड, गया (१०-२-०५)=गया, एकक बार (१०।२१।६)=एक बार, ८।३।१३ (१०।२३।१६)= चौथा, घर (१०।२८)=घर, हट्ट (१।५।१) हटना, डर (१।४।३) डरना आदि।

उक्त शब्द-प्रयोगों का मूल कारण यह है कि रइधू-काल अपभ्रंश एवं हिन्दी का सन्धिकाल था। अवधी, ब्रज, राजस्थानी, मालवी एवं हरियाणवी मे साहित्य लिखा जाने लगा था। चन्दवरदाई के पृथिवीराज रासो का पठन-पाठन भी प्रचुर मात्रा में होने लगा था। अपभ्रंश के रूपों में पर्याप्त विकास होने लगा था। अतः रइधू के साहित्य भी उसका प्रभाव स्वाभाविक था। डा० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये एवं प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रइधू-साहित्य मे सन्धिकालीन उक्त प्रवृत्तियों को देखकर ही उसे Neo-Indo-Aryan Lauguages के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण बताकर उसके तत्काल प्रकाशन पर जोर दिया था।[१८]

पौराणिक तथ्य

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, सम्मइजिणचरिउ एक पौराणिक काव्य है उसमे विविध स्थलों पर अनेक पौराणिक तथ्य उपलब्ध है। ऐसे तथ्यो मे महावीर के समवशरण में उनके प्रभाव से सर्वदा वसन्त ऋतु का रहना, शीतल मन्द सुगन्ध समीर का बहना चतुर्निकाय देवो द्वारा अतिशयो को प्रकट करना आदि बातों का सम्बन्ध पुराण के साथ है। कवि रइधू ने उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

सो विउलइ रितु सपत्तउ–समवसरण भूइहि सजुत्तउ।
तह आयमि अयालि वणराई–जायस अकुर फल-दल राई।
सुक्क-तलाय-कूव जलपुण्णा–कइलकलरव लवइ पसण्णा।
पिउ-पिउ बव्वीहा उल्लावइ–ण जिणजत्त भव्व बोल्लवाइ।
बहइ सुयधु पवणु सुक्खायरु–मदु मदु दाहिण मलयायरु।
हयउ अयालि वसतु णरेसर–अणु त्रि हुउ अच्छरिउ सुसकर।
हरिहु सयासि गइदु वइट्ठउ–अहिसिहिड कलितउ दिट्ठउ।
मज्जारहु तलु साणु लिहतउ–हरिणहु वग्गु जिणेहु चहतउ।
एवमाइ आजम्म विरुद्धा–सयलजीव जाया जेहद्धा।
सम्मइ० ११६।१-६

कवि की बहुज्ञता

महाकवि रइधू काव्य, दर्शन, सिद्धान्त आचार, अध्यात्म इतिहास आदिवामियों के साथ-साथ समुद्रिक शास्त्र से भी सुपरिचितप्रतीत होते हैं। उन्होंने सम्मइजिण-चरिउ मे राजा कुमार नन्द के ३२ लक्षणों का विवेचन करते हुए बताया है कि कुमार के नख, हस्ततल, चरणाग्र, नेत्र के प्रान्तभाग, तालु, जिह्वा एवं अधरोष्ठ ये रक्तवर्ण के थे नाभि स्वर एव सत्व ये तीनों गम्भीर एव प्रशस्त थे। वक्षस्थल, नितम्ब एव मुख चौड़े थे। उनकी देह उत्तम, स्निग्ध एव काञ्चनवर्ण की थी, लिंग, गर्दन, पीठ और जंघा ह्रस्व थे। अगुष्ठो के पर्व, दांत, केश नख और त्वक् सूक्ष्म थे। कक्ष, कुक्षि, वक्ष, नासिका, स्कन्ध और ललाट उन्नत थे। इस प्रकार कवि ने सामुद्रिक-शास्त्र मे निरूपित नियमो के अनुसार कुमार के लक्षणो का वर्णन किया है।

सम्मइ० ३।३।६-१५

वर्णन चमत्कार

वर्णनो के चमत्कार कई स्थलों पर सुन्दर छन्द मे आविर्भूत हुए है: महारानी चेलना का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मक सौन्दर्य एक ही साथ कवि ने दिखलाया है। यथा :—

सुरिंदुपीलु गामिणी—कुरंगडिम लोयणी।
पहुल्लकजवत्तिया—ससामिणेहरत्तिया।
जिणेसु सुत्तणिच्छया—सदूरिमुक्कमिक्कया।
सुदंसणेण सोहिया—सुदुग्ग णिरोहिया।
सुवारिसेण मायरी—पणाहसिक्खदायरी।
अखंडसीलमंडिया—महावणग पंडिया।
तयासमाणु राणउ—गुणाणभूरि राणउ ॥
करेइ राजु सुंदरे—अकपुणाइ मंदिरे।
सुहेण काल गच्छइ—जरेसु जाम अच्छइ।
सहा हरम्मि संठिउ—पिया जुत्तु उक्कठिउ।

सम्मइ० १।१५।१-१०

महावीर शैशवावस्था में है। माता-पिता ने अत्यन्त स्नेहवश उन्हें विविध आभूषण पहिना दिए, जिससे उनका सौन्दर्य और अधिक निखर उठा। कवि ने उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है :—

सिरि सेहरु णिरुवमु जडिउ—कुडलजुउ सवणि मुरेण घडिउ।
भालयलि तिलउगलि कुसुममाला—ककणहि हत्थु अगिणखाल
किंकिणिहि मोहिय कुरंग—कडिमेहलडिकडिदेसहिं अभंग।
तह कट्टारुवि मणि छुरियवतु—उरुहार अद्धहारिहिं सहंतु।
णेवर सज्जिय पायहिं पहट्ठ—अगुलिय समुद्दा दयगुणट्ठ।

सम्मइ०।५।२३।५-६

उक्त तथ्यो के आलोक मे कोई भी निष्पक्ष आलोचक महाकवि रइधू का सहज मे ही मूल्याकन कर सकता है। कवि ने चरित, आख्यान, काव्य, सिद्धान्त, दर्शन, आचार अध्यात्म एवं इतिहास आदि विषयों पर अपभ्रंश-साहित्य के क्षेत्र में २६ बहुमूल्य रचनाएँ प्रदान की है अतः भाषा और साहित्य दोनो ही दृष्टियो से रइधू एक महाकवि सिद्ध होते है।

युनिवर्सिटी प्रोफेसर (प्राकृत)
एवं अध्यक्ष—सस्कृत-प्राकृत विभाग,
ह० दा० जैन कालेज, आरा, बिहार-८०२३०१

सन्दर्भ-सूची

१. आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर के प्रति के आधार पर।
२. डा० राजाराम जैन द्वारा सम्पादित एवं भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वारा १९७४ ई० मे प्रकाशित।
३. डा० देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा सम्पादित एव भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९७४ मे प्रकाशित।
४. आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर मे सुरक्षित।
५. डा० राजाराम जैन द्वारा रइधू ग्रन्थावली भाग २ के अन्तर्गत सम्पादित एव जीवराजग्रन्थमाला शोलापुर द्वारा प्रकाश्यमान।
६. सम्मइ० १०।२८।१३-१५।
७. सम्मइ० १।४।२-४।
८. रइधू ग्रन्थावली, प्रथम भाग (भूमिका)
९. मेहेसरचरिउ, हरिवंशपुराण पासणाहचरिउ, सम्मइजिण-चरिउ, तिसट्ठि, पउम०, सिखाल, वित्तसारु, सिद्धतत्थसारु, जीवधरचरिउ, दहलक्खणजयमाल, अप्पसंबोहकव्व पुण्णासवकहा, सम्मत्तगुणणिहाणकव्व, बारहभावना, संबोह पचासिका, धण्णकुमारचरिउ, सुकोसलचरिउ, जसहरचरिउ, अणथमिउकहा, सतिणाहचरिउ, तथा पज्जुण, रत्नत्रयी, छपकम्मोवस्स, मविस्सदत्त० करकड, उवएसरयणमाल, एव सुदसणचरिउ।
१०. सम्मइ० १।९।१-६।

(शेष पृ० २६ पर)

समन्तभद्र स्वामी का आयुर्वेद ग्रंथ कर्तृत्व

□ श्री राजकुमार जैन आयुर्वेदाचार्य

जैन वाङ्मय के रचयिताओ तथा जैन सस्कृति के प्रभावक आचार्यों में श्री समन्तभद्र स्वामी का नाम अत्यन्त श्रद्धा एव आदर के साथ लिया जाता है। आप एक ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली आचार्य रहे है जिन्होंने वीरशासन के रहस्य को हृदयगम कर दिग्-दिगन्त में उसे व्याप्त किया। आपके वैदुष्य का एक वैशिष्ट्य यह था कि आपने समस्त दर्शन शास्त्रो का गहन अध्ययन किया था और उनके गूढतम रहस्यो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। अपने धर्मशास्त्र के मर्म को हृदयगम कर उसके आचरण-व्यवहार मे विशेष रूप से तत्परता प्रकट की आपकी पूजनीयता एव महनीयता के कारण ही परवर्ती अनेक आचार्यों एवं मनीषियो ने अत्यन्त श्रद्धा एव बहुमान पूर्वक आपको स्मरण किया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने युक्त्यानुशासन टीका के अन्त मे आपको 'परीक्षेक्षण'—परीक्षा नेत्र से सबको देखने वाले लिखा है। इसी प्रकार अष्टसहस्री मे आपके वचन महात्म्य का गौरव ख्यापित करते हुए आपको बहुमान दिया गया है। श्री अकलक देव ने अपने ग्रथ 'अष्टशती' मे आपको' भव्यैकलोकनयन' कहते हुए आपकी महनीयता प्रकट की है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण मे कवियो, गमको, वादियों और वाग्मियों में समन्तभद्र का यश चूडामणि की भांति सर्वोपरि निरूपित किया है। इसी भांति जिनसेन सूरि ने हरिवंश पुराण में, वादिराज सूरि ने न्याय विनिश्चय-विवरण तथा पार्श्वनाथ चरित मे, वीरनन्दि ने चन्द्रप्रभ चरित्र मे, हस्तिमल्ल ने विक्रान्त कौरव नाटक मे तथा अन्य अनेक ग्रंथकारो ने भी अपने-अपने ग्रंथ के प्रारम्भ मे इनका बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे समन्तभद्र स्वामी का वैदुष्य, ज्ञान गरिमा, पूजनीयता और परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव भली भांति ज्ञात होता है।

जैनाचार्यों की परम्परा में स्वामी समन्तभद्र की ख्याति एक तार्किक विद्वान के रूप में थी और वे आचारांग में प्रतिपादित मूलाचार के अन्तर्गत श्रमणचर्या के परिपालन में ही निरन्तर तत्पर रहते थे। मुनिचर्या का निर्दोष पालन करना उनके जीवनकी प्रमुख विशेषता थी। वे असाधारण प्रतिभा के धनी, अध्यात्म विद्या के पारगत और जिन धर्म धारक निर्ग्रन्थवादी महान् व्यक्तित्व के धनी थे। उनके जीवन क्रम, जीवन की असाधारण अन्यान्य घटनाओं तथा उनके द्वारा रचित ग्रथों को देखने से ज्ञात होता है कि उनके द्वारा जैनधर्म का प्रभूत प्रचार एवं अपूर्व प्रभावना हुई। इसका एक मुख्य कारण यह है कि आप श्रद्धा, भक्ति और गुणज्ञता के साथ एक बहुत बड़े अर्हद्भक्त और अर्हद गुण प्रतिपादक थे जिसकी पुष्टि आपके द्वारा रचित स्वयम्भू स्तोत्र, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्तुतिविद्या (जिनशतक) नामक स्तुति ग्रंथो से होती है। इन ग्रन्थों से आपकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है।

स्वामी समन्तभद्र एक क्षत्रियवशोद्भव राजपुत्र थे। उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे। जैसा कि उनकी 'आप्तमीमासा' नामक कृति की एक प्राचीन प्रति उल्लिखित पुष्पिका-वाक्य से ज्ञात होता है जो श्रवणबेलगोल के श्री दौर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है—

"इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः
स्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।"

एक ओर आप जहां क्षत्रियोचित तेज से देदीप्यमान अपूर्व व्यक्तित्वशाली पुरुष थे वहां आत्महित चिन्तन में तत्पर रहते हुए लोकहित की उत्कृष्ट भावना से परिपूरित थे। यही कारण है कि राज्य-वैभव के आधारभूत भौतिक सुख और गृहस्थ जीवन के भोग विलास के मोह में न फसकर आपने त्यागमय जीवन को अंगीकार किया और साधुवेश धारण कर देशाटन करते हुए सम्पूर्ण देश में जैनधर्म की दुन्दुभिबजाई। लगता है कि आपने अत्यन्त अल्प समय में ही जैन धर्म-दर्शन-न्याय और समस्त

सैद्धान्तिक विषयों में अगाध पाण्डित्य अर्जित कर लिया था। क्योंकि देशाटन करते हुए वे प्रायः वहीं पहुंच जाते थे जहां उन्हें किसी महावादी या किसी वादशाला के होने का पता चलता था। वहां पहुंचकर वे अपने वाद का डंका बजाकर स्वतः ही वाद के लिए विद्वानों का आह्वान करते थे। यह तथ्य निम्न पद्य से उद्घटित होता है जो उन्होंने किसी राजा के सम्मुख आत्म परिचय देते हुए प्रस्तुत किया था—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

यह आत्मपरिचयात्मक पद्य उनके द्वारा किसी राजसभा में अपना परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा गया है जिसमें स्वयं को कांची का 'नग्नाटक' बतलाते हुए 'जैननिर्ग्रंथवादी' निरूपित किया है। संभव है कुछ परिस्थितियोंवश किसी स्थान पर उन्हें कोई अन्य वेष धारण करना पड़ा हो, किन्तु वह सब अस्थायी था। प्रस्तुत पद्य में वाद के लिए विद्वानों को ललकारा गया है और कहा गया है कि हे राजन्! मैं तो वस्तुतः जैन निर्ग्रन्थवादी हूं, जिस किसी में वाद करने की शक्ति हो वह मेरे सामने आकर मुझसे वाद करे।

एक बार आप विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए 'करहाटक' नगर में पहुंचे थे जो उस समय विद्या का उत्कट स्थान था और अनेक भटों से युक्त था। वहां के राजा के सम्मुख आपने अपना जो परिचय प्रस्तुत किया था वह श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकार से उत्कीर्ण है—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चन्मालव-सिंधु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

अर्थात् हे राजन्! पहले मेरे द्वारा पाटलिपुत्र नगर के मध्य और तत्पश्चात् मालव (मालवा), सिंधु देश, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (विदिशा) देश में भेरी बजाई गई थी। अब मैं अनेक भटो से युक्त तथा विद्या की उत्कृष्ट स्थली करहाटक में आया हूं। वाद का अभिलाषी मैं सिंह विचरण की भांति विचरण करता हूं।

आयुर्वेदज्ञता—

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि श्री समन्तभद्र स्वामी जैन सिद्धान्त, धर्म, दर्शन और न्याय शास्त्र के अगाध पाण्डित्य से परिपूर्ण महान् तार्किक एवं उद्भट विद्वान् थे। उनके ज्ञान रवि ने चारों ओर ऐसा प्रकाश पुंज फैला रखा था जिसमें जैनधर्म का माहात्म्य निरन्तर उद्भासित था। इस सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इनके साथ ही वे आयुर्वेद शास्त्र में निष्णात् कुशल वैद्य भी थे। क्योंकि एक पद्य में जहां उन्होंने अपने आचार्य, कविवर वादिराट, पण्डित (गमक), दैवज्ञ (ज्योतिर्विद), मान्त्रिक (मंत्र विशेषज्ञ) तांत्रिक (तन्त्र विशेषज्ञ), आज्ञासिद्ध, सिद्ध सारस्वत आदि विशेषण बतलाए हैं वहां आयुर्वेद शास्त्र में पारंगत कुशल वैद्य होने के कारण उन्होंने स्वयं के लिए 'भिषग्' विशेषण भी उल्लिखित किया है जो उनकी आयुर्वेदज्ञता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यथा—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

इस श्लोक मे आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने जो विशेषण बतलाए हैं उनसे उनके असाधारण व्यक्तित्व, बहुशास्त्रज्ञता एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य का आभास सहज ही मिल जाता है। इनमें अन्त के दो विशेषण विशेष महत्वपूर्ण है जो उनकी विलक्षणता के द्योतक हैं। वे राजा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं - हे राजन् समुद्र वलय वाली इस पृथ्वी पर मैं 'आज्ञासिद्ध' हूं अर्थात् जो आज्ञा देता हूं वह अवश्य पूरा होता है। और अधिक क्या कहूं? मैं 'सिद्ध सारस्वत' हूं अर्थात् सरस्वती मुझे सिद्ध है। इन्हीं इन्हीं विशेषणों के साथ उन्होने स्वयं को राजा के सम्मुख 'भिषग्' भी निरूपित किया है। सामान्यतः भिषग् वही होता है जिसने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कर उसमें निपुणता प्राप्त की हो। असाधारण व्यक्तित्व के धनी

और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न आचार्य समन्तभद्र के लिए आयुर्वेद शास्त्र में निष्णात होना कोई कठिन बात नही थी। अतः उन्होंने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर अपने आयुर्वे.ीय ज्ञान के आधार पर जैन सिद्धान्तानुसारी लोकोपयोगी किसी आयुर्वेद ग्रंथ का प्रणयन किया हो—यह असम्भव प्रतीत नही होता।

इस पद्य का अध्ययन करने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि इस पद्य में श्री समन्तभद्र स्वामी ने अपने जिन विशेषणों का उल्लेख किया है वह आत्म श्लाघावश नही किया है अपितु किसी राज दरबार में राजा के सम्मुख आत्म परिचय प्रस्तुत करते हुए किया है। उस काल में किसी राजा के सम्मुख आत्म परिचय मे अपने मुख से इस प्रकार के विशेषण प्रयुक्त करना साधारण बात नही थी। क्योंकि उन्हें उसकी सार्थकता भी सिद्ध करनी होती थी।

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य के असाधारण व्यक्तित्व सदर्भ में यह पद्य निश्चय ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि इससे उनकी अन्यान्य विशेषताओं के साथ-साथ उनका भिषगत्व (आयुर्वेदज्ञता) भी प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रमाण और मिलते है जिनसे प्रतीत होता है कि वे वैद्यक विद्या के पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होने अपने स्तोत्र ग्रथों में भगवान का जो स्तुतिगान किया है उसमे उन्होने भगवान को वैद्य की भांति सांसारिक तृष्णा-रोगो का नाशक बतलाया है। श्री सभव जिन का स्तवन करते हुए वे कहते हैं—

त्वं शम्भव: सम्भवतर्ष रोगै. सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै॥
—स्वयंभू स्तोत्र, श्लोक ११

अर्थात् हे शम्भव जिन ! सांसारिक तृष्णा रोगो से पीड़ित जन के लिए आप इस लोक में उसी भांति आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार अनाथ (धन आदि से विहीन असहाय जन) के रोगोपशमन के लिए कोई चतुर वैद्य होता है।

इसी प्रकार भगवान शीतलनाथ की स्तुति करते हुए उन्हें भिषगोपम निरूपित किया है। यथा—

सुखाभिलाषा नलदाहमूर्च्छितं मनो
निजं ज्ञानमयाऽमृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विष-दाहमोहितं यथा
भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम्॥
—स्वयम्भू स्तोत्र, श्लोक ४७

अर्थात् जिस प्रकार वैद्य विष-दाह से मूर्च्छित स्वशरीर को विषापहार मंत्र के गुणों से (उसकी अमोघ शक्ति के प्रभाव से) निर्विष एवं मूर्च्छा रहित कर देता है उसी प्रकार (हे शीतल जिन !) अपने सांसारिक सुखों की अभिलाषा रूप अग्नि के दाह से (चतुर्गति सम्बन्धी दु:ख सन्ताप से) मूर्च्छित हुए (हेयोपादेय विवेक से शून्य हुए) अपने मन (आत्मा) को ज्ञानरूपी अमृतजल के सिंचन से मूर्च्छारहित शान्त किया है।

ये दोनो ही उद्धरण इस बात का सकेत करते हैं कि श्री समन्तभद्र स्वामी वैद्योचित गुणों और वैद्य द्वारा विहित की जाने वाली क्रिया—चिकित्सा विधि के पूर्ण ज्ञाता थे। इसीलिए उन्होने श्री शम्भव जिन और श्री शीतल जिन को वैद्य-भिषग् की उपमा देकर वैद्य का महत्व बढ़ाया है। वैद्यक विद्या का ज्ञान होने के कारण ही सम्भवतः उन्हें वैद्य और जिनेन्द्र देव के कतिपय कार्यों में समानता की प्रतीति हुई है। इस कथन का मेरा आशय मात्र इतना ही है कि श्री समन्तभद्र स्वामी अन्य विषयों की भांति ही आयुर्वेद के ज्ञान से भी अन्वित थे। साथ ही यह तो सुविदित है कि जब वे भस्मक महाव्याधि से पीड़ित हुए तो स्वय ही उसके उपचार मे तत्पर हुए और कुछ काल पश्चात् उस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। अत: उनका भिषग् होना सार्थक है जो उनकी आयुर्वेदज्ञता की पुष्टि करता है।

आयुर्वेद ग्रंथ कर्तृत्व—

स्वामी समन्तभद्र की वर्तमान में कोई भी आयुर्वेद कृति उपलब्ध नही है। अत: कुछ विद्वान उनका आयुर्वेद कर्तृत्व संदिग्ध मानते हैं। वर्तमान में स्वामी समन्तभद्र की पाँच कृतियां उपलब्ध है—देवागम (आप्त मीमांसा), स्वयम्भू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिन शतक (स्तुति विद्या) और रत्नकरण्ड श्रावकाचार। इनके अतिरिक्त 'जीवसिद्धि' नामक उनकी एक कृति का उल्लेख तो मिलता है किन्तु वह अभी तक कही से उपलब्ध नहीं हुई है। ऊपर उनकी जिनकृतियों का उल्लेख किया गया है उनमे से किसी भी कृति

का सम्बन्ध आयुर्वेद से नही है सभी कृतियां जैन दर्शन, जैनाचार, स्तुतिविद्या आदि से सम्बन्धित है। अतः वर्तमान मे उपलब्ध उनके ग्रथो के आधार पर यह कह सकना कठिन है कि उन्होने आयुर्वेद के किसी ग्रथ की रचना की होगी।

इस संदर्भ मे एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नवम शताब्दी के विद्वान श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रथ कल्याणकारक मे स्पष्टता पूर्वक इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि आचार्य समन्तभद्र ने आयुर्वेद विषय को अधिकृत कर किसी ग्रथ की रचना की थी जिसमे विस्तारपूर्वक अष्टाग का प्रतिपादन किया गया है। उन्होने आगे यह भी स्पष्ट किया कि समन्तभद्र के उस 'अष्टांग संग्रह' ग्रथ का अनुसरण करते हुए मैने सक्षेप मे इस 'कल्याणकारक' ग्रथ की रचना की है।[1] श्री उग्रादित्याचार्य के इस उल्लेख से से यह असदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि उन काल मे श्री समन्तभद्र स्वामी का अष्टाग वैद्यक विषयक कोई महत्वपूर्ण ग्रथ अवश्य ही विद्यमान एव उपलब्ध रहा होगा।

सिद्धान्त रसायन कल्प—

इसी सदर्भ मे एक यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि 'कल्याणकारक ग्रथ की प्रस्तावना मे श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने आचार्य समन्तभद्र स्वामी की अद्वितीय विद्वत्ता का निरूपण करते हुए उनके द्वारा 'सिद्धान्तरसायन कल्प' नामक वैद्यक ग्रथ की रचना किए जाने का उल्लेख किया है। वे लिखते है कि पूज्यपाद के पहले महर्षि समन्तभद्र हर एक विषय मे अद्वितीय विद्वता को धारण करने वाले हुए। आपने न्याय, सिद्धान्त के विषय मे जिस प्रकार प्रौढ़ प्रभुत्व प्राप्त किया था उसी प्रकार आयुर्वेद के विषय मे भी अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त की थी। आपके द्वारा **सिद्धान्त रसायन कल्प** नामक एक वैद्यक ग्रथ की रचना की गई थी जो अठारह हजार श्लोक परिमित थी। परन्तु आज वह उपलब्ध नही है और हमारी उदासीनता के कारण सम्भवतः अब वह कीटों का भक्ष्य बन गई है और कहीं-कहीं उसके कुछ श्लोक मिलते है जिनको यदि सग्रह किया जाय तो २-३ हजार श्लोक सहज हो सकते हैं। इस ग्रथ की मुख्य विशेषता यह है कि अहिंसा धर्म प्रेमी आचार्य ने अपने ग्रंथ मे औषध योगो में पूर्ण अहिंसा धर्म का ही समर्थन किया है। इसके अलावा इस ग्रथ मे जैन पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग एव सकेत भी तदनुकूल दिए गए है। इसलिए अर्थ करते समय जैनमत की प्रक्रियाओ को ध्यान मे रखकर अर्थ करना ही अभीष्ट है। उदाहरणार्थ 'रत्नत्रयोषध" का उल्लेख ग्रथ मे आया है, सर्व-सामान्य दृष्टि से इसका अर्थ होगा—'वज्रादि रत्नत्रयों के द्वारा निर्मित औषधि—परन्तु वैसा नही है। जैन सिद्धान्त में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को रत्नत्रय के नाम से जाना जाता है। यह रत्नत्रय जिस प्रकार मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चरित्र रूपी दोत्रय के निराकरण मे समर्थ है उसी प्रकार आयुर्वेदीय रसशास्त्रोक्त पारद, गन्धक और धातूपधातु आदि तीन द्रव्यों के सम्मिश्रण से निर्मित तथा अमृतीकरण पूर्वक तैयार किया गया रसायन वात-पित्त कफ दोषत्रय का नाश करता है। अतएव इस रसायन का नाम 'रत्नत्रयौषध' रखा गया है।[2]

आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'सिद्धान्त रसायन कल्प' नामक उक्त ग्रथ मे विभिन्न औषध योगो के निर्माण में घटक द्रव्यों का जो प्रमाण (मात्रा) निर्दिष्ट किया है उसमे भी जैन धर्म सम्मत सख्या प्रक्रिया का अनुसरण किया है जो अन्यत्र नही मिलता है। इस ग्रथ मे कथित सख्या-सकेत को केवल वह समझ सकता है जिसे जैनमत की जानकारी है। जैसे—'रससिन्दूर नामक रस औषधि की निर्माण प्रक्रिया मे कथित निम्न सख्या सकेत दृष्टव्य है— **"सूत केसरि गंधकं मृगनवासारद्रुमान"**। यहाँ पर द्रव्य के प्रमाण के लिए जिस सख्या का सकेत किया गया है वह सहज और सर्व ज्ञात नही है। जैसे—'सूत केसरि' यहा सूत शब्द से पारद और केसरि शब्द से सिंह अभिप्रेत है जिससे पारद सिंह प्रमाण में लिया जाय—यह अर्थ ध्वनि

---

१. अष्टागमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः
प्रोक्तं, सविस्तरमथो विभवैः विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या
कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम्॥ कल्याणकारक २०/८६

२. कल्याणकारक की प्रस्तावना, पृष्ठ ३६

होता है। 'केसरि' शब्द यहां संख्या विशेष की ओर इंगित करता है। जैन धर्म मे २४ तीर्थंकर होते है। प्रत्येक तीर्थंकर का एक चिह्न होता है जिसे लाछन कहते है। जैसे ऋषभ देव का लांछन बैल है 'अजितनाथ का लांछन'''है इत्यादि। चौबीसवे तीर्थंकर का चिह्न सिंह (केसरि) है। अत: यहा फलितार्थ यह हुआ कि सूत (पारद) केसरि अर्थात् २४ भाग प्रमाण लिया जाय। इसी प्रकार 'गधक मृ'' अर्थात् गन्धक 'मृग' प्रमाण मे लिया जाय। मृग चिह्न सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान का है। अत. गन्धक का प्रमाण १६ भाग लेने का निर्देश है। समन्तभद्र स्वामी के सम्पूर्ण ग्रथ मे सर्वत्र इसी प्रकार के साकेतिक व पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग हुआ है जो ग्रथ की मौलिक विशेषता है।[1]

स्वामी समन्तभद्र के उक्त ग्रंथ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनसे पहले भी जैनेन्द्र मत सम्मत वैद्यक ग्रन्थो का निर्माण उनके पूर्ववर्ती मुनियो ने किया था। क्योकि उन्होने परिपक्व शैली मे रचित अपने ग्रथ मे पूर्वाचार्यों की परम्परागतता को 'रसेन्द्र जैनागमसूत्रबद्ध' इत्यादि शब्दो द्वारा उल्लिखित किया है। इसके अतिरिक्त 'सिद्धान्तरसायनकल्प' म श्री समन्तभद्राचार्य ने स्वय उल्लेख किया है— **श्रीमद्भवल्लातकाद्रौ बसति जिनमुनि. सूतवादे रसाब्ज**" इत्यादि। यह कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि आचार्य समन्तभद्र से पूर्व भी वैद्यक ग्रथो की रचना करने वाले जैनमुनि हुए है जो सभवत: ईसा पूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दी म रहे होगे और वे कारवाल जिला होन्नावर तालुका के गेरसप्पा के पास हाडल्लि[2] मे रहते थे। हाडिल्ल मे इन्द्रगिरि और चन्द्रगिरि नाम के दो पर्वत है। वहा पर वे तपश्चर्या करते थे। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार अभी भी इन दोनो पर्वतो पर पुरातत्वीय अवशेष विद्यमान है।

पुष्पायुर्वेद—

श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार श्री समन्तभद्र स्वामी ने किसी पुष्पायुर्वेद नामक ग्रथ का भी निर्माण किया था। क्योंकि जैन धर्म मे व्यवहार में अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक अहिंसा को प्रधानता दी गई है। धर्माचरणरत व्रतधारी मुनियो ने आयुर्वेद के सन्दर्भ मे इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि औषध निर्माण के कार्य में भी किसी प्राणि को कष्ट या उसका घात नहीं होना चाहिये। इस पर इतनी सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया कि एकेन्द्रिय जीवो का भी सहार नही होना चाहिये। इस अहिंसा दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए पुष्पायुर्वेद का निर्माण किया गया था। उस पुष्पायुर्वेद मे ग्रथकार ने अठारह हजार जाति के कुसुम (पराग) रहित पुष्पो से ही रसायन औषधियो की निर्माण विधि और प्रयोग को उल्लिखित किया है। इस पुष्पायुर्वेद ग्रथ मे ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी की कर्नाटक लिपि उपलब्ध होती है जो अत्यन्त कठिनता पूर्वक पढ़ी जाती है। यह एक चिन्तनीय विषय है कि जिस ग्रथ मे औषध निर्माण एव प्रयोग के लिए अठारह हजार जाति के केवल पुष्पो का उपयोग उल्लिखित हो, वह भी ई०-सन् द्वितीय-तृतीय शताब्दी मे; तो उस ग्रथ का कितना महत्व नही होगा? अत: ऐसे महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और ऐतिहासिक ग्रंथ की छानबीन, परिसस्कार एव प्रकाशन के लिए समाज के विद्वज्जनो, शोध सस्थानो तथा श्रेष्ठ वर्ग को समुचित ध्यान देना चाहिये।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि न केवल आयुर्वेद जगत् मे अपितु वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र मे भी पुष्पो की इतनी जातियों पर प्रकाश डालने वाला कोई भी ग्रथ किसी अन्य ग्रंथकार द्वारा अभी तक नही रचा गया है। अत: पुष्पायुर्वेद जैसे विषय पर ग्रथ रचना का श्रेय मात्र जैनाचार्यों को ही है। यद्यपि वैदिक दृष्टि से रचित आयुर्वेद के ग्रथो मे चरक-सुश्रुत आदि महनीय ग्रथकारो ने औषध योगो मे वानस्पतिक द्रव्यो को प्रधानता दी है, जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। किन्तु साथ मे मासादि भक्ष्य द्रव्यो का औषधि के रूप मे उल्लेख किया जाने से उसमे अहिंसा तत्व की प्रतिष्ठा नही हो सकी। इसके विपरीत जैनाचार्यों ने अहिंसा धर्म के पालन का लक्ष्य रखते हुए पुष्पायुर्वेद जैसे ग्रथो की रचना कर जो

१. उपर्युक्त

२. भट्टारकीय प्रशस्ति मे इस हडल्लि का उल्लेख सगीतपुर के नाम से मिलता है। क्योकि कन्नड़ भाषा मे हाडु शब्द का अर्थ सगीत है और हल्लि शब्द का अर्थ ग्राम है। अत: यह निश्चित है कि हाडल्लि का ही संस्कृत नाम संगीत पुर है।

लोकपयोगी श्रेयस्करी कार्य किया है वह अद्वितीय और बेमिसाल है।

उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार श्री समन्तभद्राचार्य का पीठ गेरसप्पा (कर्नाटक) मे विद्यमान था। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार जिस अरण्य प्रदेश में स्वामी समन्तभद्र निवास करते थे वहाँ अभी तक विशाल शिलामय चतुर्मुख मन्दिर, ज्वालामालिनी मन्दिर और पार्श्वनाथ जिन चैत्यालय विद्यमान है जो दर्शनीय तो हैं ही, पुरातत्वीय और ऐतिहासिक दृष्टि से आज उनका विशेष महत्व है। जगल मे यत्र तत्र अनेक मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं जिससे उस स्थान का धार्मिक महत्व परिज्ञात होता है। इस क्षेत्र में व्याप्त परंपरागत किंवदन्ती से ज्ञात होता है कि इस जंगल में एक सिद्धरसकूप है। कलियुग में जब धर्म संकट उत्पन्न होगा उस समय इसरसकूप का उपयोग करने का निर्देश दिया गया है। इस रसकूप को सर्वांजन नामक अंजन नेत्र मे लगाकर देखा जा सकता है। सर्वांजन के निर्माण एवं प्रयोग विधि का उल्लेख 'पुष्पायुर्वेद' में वर्णित है। साथ में यह भी उल्लिखित है कि 'सर्वांजन' के निर्माण में प्रयोग किए जाने वाले पुष्प उसी प्रदेश मे मिलते हैं। इसलिए उस प्रदेश की भूमि को 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' के नाम से उल्लिखित किया गया है।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि स्वामी समन्तभद्र का निवास जिस क्षेत्र या अरण्य प्रदेश में था उस क्षेत्र में कतिपय विशिष्ट प्रकार की पुष्प जातियां उपलब्ध रही होंगी जो सम्भवतः अब न हों। श्री सन्तभद्र स्वामी को उस क्षेत्र की समस्त प्रकार की वनस्पतियों एवं पुष्पों का सर्वांगीण परिज्ञान था और वे उनके औषधीय गुण धर्मों त उपयोग से हस्तामलकवत् परिचित थे। उनका अगाध ज्ञान ही उनकी कृतियों एवं ग्रंथों मे अवतरित हुआ है जो लोकोपयोगी होने के साथ-साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व का भी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र स्वामी द्वारा आयुर्वेद के ग्रंथों की भी रचना की गई थी जिनमें आयुर्वेदीय ज्ञान और चिकित्सा विधि के अतिरिक्त अन्य अनेक मौलिक विशेषताएँ विद्यमान थी। इस दिशा मे पर्याप्त प्रयास एवं अनुसंधान अपेक्षित है। आशा है समाज के मनीषी विद्वज्जन एवं शोध संस्थाएं इस दिशा में अपेक्षित ध्यान देंगी।

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्
१ ई/६, स्वामी रामतीर्थ नगर
नई दिल्ली-५५

१. कल्याणकारक, सम्पादकीय, पुष्ठ ३८।

(शेषांश पृ० २४)

११. सम्मइ० १।३-८।

१२. वही। १३. वही १०।२६-३०।

१४. रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन (डा० राजाराम जैन) १७७४।

१५. सम्मइ०-आद्यप्रशस्ति। १६. सम्मइ० १।३।११-१२।

१७. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० १३०-१४२।

१८. Romance of the Fort of Gwalior (1931). Pages 19-20.

१९. सम्मइ० १०।२६।

२०. दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्यक परिशीलन पृ० ६५-१०४।

२१. सम्मइ० १।१०।२३-२४।

२२-२४. भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से इनके ग्रन्थों क प्रकाशन हो चुका है।

२५. विशेष के लिए दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक-परिशीलन—पृ० ११-१५।

२६. सम्मइ० १।६ घत्ता।

२७. सम्मइ० की सन्धिके अन्त में लिखित पुष्पिकाएँ देखें।

२८. सम्मइ० १।४।१५। २९. वही—१०।३२।१-५।

३०. वही—१०।३३।६-१०। ३१. वही—१०।३३।६-१०।

३२. वही—१०।३३।४-५। ३३. वही—१।७।१६-२०।

३४. वही—१०।३३।११। ३५. वही—१।६।१६।

३६. वही—६।२१। ३७. सम्मइ०—१।६।४।

३८. सम्मइ०—१।६।५। ३९. सम्मइ०—१।६।६।

४०. रइधू साहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन पृ०८१६।

जरा सोचिए !

१. कितनी दूर कितनी पास ?

चौबीसों तीर्थंकरों के चरित्र पढने वाले स्वाध्यायी इन प्रश्नो के सहज उत्तर खोजें कि कौन-कौन से तीर्थंकर ऐसे हैं जिन्होंने साधु-पद अंगीकार कर केवलज्ञानी होने की अवस्था के पूर्वक्षणपर्यन्त साधु-पद मात्र का निर्वाह किया और आचार्य-उपाध्याय पद नही लिया ? और कौन से ऐसे हैं जिन्होंने बीच के काल में आचार्य और उपाध्याय पद स्वीकार किए ? यह भी देखे कि किन तीर्थंकरों ने किन्हें-किन्हें स्वयं दीक्षित कर उन्हें स्व-शिष्य घोषित किया ? हमारी दृष्टि से तो सभी तीर्थंकर न तो आचार्य उपाध्याय जैसे पदों से जुड़े और ना ही उन्होने स्वयं के लिए चेला-चेली बनाए। जिसने भी दीक्षा ली उनके चरणों की साक्षी-पूर्वक स्वयं ही ली। ऐसा क्यों ?

हम समझते हैं—पंच परमेष्ठियों मे सिद्ध परमेष्ठी सर्वोत्कृष्ट, आत्मा के शुद्ध रूप हैं और अर्हन्त दूसरे नम्बर पर है। तथा आचार्य-उपाध्याय और साधु इन तीनो पदों में—मोक्षमार्ग की दृष्टि से—साधु सर्वोच्च और उत्तम हैं। प्रश्न होता है यदि उपर्युक्त क्रम सही है तो णमोकार मंत्र में जो क्रम है वह क्यों ? वहां अर्हन्तों को प्रथम और साधुओं को अन्त में क्यों रखा गया ?

तत्त्व-दृष्टि से देखा जाय तो हम व्यवहारी हैं और व्यवहार में हमारा उपकार अर्हन्तों से होता है तथा आचार्य व उपाध्याय साधु-पद मे दृढ़ता के लिए मार्ग दर्शक होते हैं, इस दृष्टि से ऐसा क्रम रख दिया गया है। अन्यथा यदि आचार्य पद—मोक्षमार्ग में, श्रेष्ठ होता तो किसी आचार्य को सल्लेखना करने के लिए भी अपने आचार्य पद का त्याग करना न पड़ता। यह निश्चय है कि 'पर' के उत्तरदायित्व के निर्वाह का त्याग किए बिना स्व की साधना नहीं हो सकती। फलतः स्व-साधना मे आचार्य पद त्यागना अनिवार्य है—निश्चय ही आचार्य पद मुक्ति-बाधक है। यही कारण है कि तीर्थंकरों ने मुक्ति से दूरस्थ ये पद ग्रहण नहीं किए। फिर ये पद स्व-हेतु मंगलोत्तम-शरणभूत भी नही है। कहा भी है—

"चत्तारि मंगल। अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल। चत्तारिलोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा सिद्धालोगुत्तमा, साहू-लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पवज्जामि। अरहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्त धम्मं सरणं पवज्जामि।"—

उक्त प्रसग में आचार्य और उपाध्याय पदों को छोड़ दिया गया है। क्योंकि परमार्थ दृष्टि से आचार्य और उपाध्याय दोनों ही पद—स्व के लिए न तो मंगलरूप हैं, ना ही उत्तम हैं और ना ही ये परमार्थ में शरणभूत हैं। आचार्य पद तो मजबूरी मे गुरुआज्ञापालनार्थ और संघ सचालनार्थ लेना पड़ता है, कोई खुशी का त्योहार नहीं है, जो लोग इसमे लाखो-लाखों का द्रव्य व्यय कर लोक दिखावा करें और जय-जयकार करें। ये पद तो साधु की स्वसाधना में शिथिलता लाने और पर की देखभाल करने जैसी उलझनों में फँसाने वाला है। इस पद पर बैठने वाला कांटों का ताज जैसा पहिनता है—उत्तरदायित्व निर्वाह के प्रति उसकी जिम्मेदारी बढ जाती है। वास्तव में तो 'शेषाः—वहिर्भवाभावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः' और 'अहमेव मयोपास्यः' ही तथ्य है। उक्त स्थिति मे कौन सा पद मोक्षमार्ग से दूर और कौन-सा पद मोक्षमार्ग के निकट है तथा कौन-सा पद छोड़ना और किसकी ओर दौड़ना इष्ट है और आज क्या हो रहा है ? जरा सोचिए !

२. कौन-सी परम्परा सही ?

आज परम्परा शब्द भी परम्परित (गलत या सही) रूप धारण करता जा रहा है और इस शब्द का संबंध वास्तविकता से न रहकर कोरी परम्परा (Direct या Indirect) से रहने लगा है। जैसे तीर्थंकर महावीर की परम्परा का वास्तविक रूप हमारी दृष्टि से ओझल हो

गया है और आज दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, व तेरापंथी सभी अपने को भगवान महावीर की परम्परा का घोषित कर बैठे हैं। वैसे ही आचार्यों की परम्परा भी विविध रूपों को धारण किए जा रही है।

आचार्य शान्तिसागर जी ने अपना आचार्यत्व अपने द्वारा, आर्ष अनुरूपतपस्वी, निर्ग्रथ, निर्दोष आचारपालक मुनि श्री वीरसागर जी को सौपा और उसका समर्थन सघ के समस्त साधुगण ने किया। श्री वीरसागर के बाद उनके आचार्यपट्ट पर क्रमशः श्री शिवसागर जी और श्री धर्मसागर जी विराजमान हुए—लोग कहते है कि श्री आचार्य शान्तिसागर जी ने अपना पट्टाचार्यत्व श्री पायसागर जी को नही दिया अपितु उन्होंने कुन्थलगिरि मे अपनी सल्लेखना के अवसर पर अपना आचार्य पद वहाँ उपस्थित विशाल जन समुदाय के बीच श्री वीर सागर महाराज को प्रदान करने की घोषणा की और आचार्य श्री द्वारा प्रदत्त पीछी कमण्डलु श्री वीरसागर को जयपुर मे एक विशाल आयोजन मे विशाल चातुर्विध सघ के समक्ष विधिपूर्वक अर्पित किए गए। यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष है—आ० शान्तिसागर से मुनिरूप मे दीक्षित मुनि श्री पायसागर जी थे और उनसे दीक्षित मुनि श्री जयकीर्ति थे और उनके शिष्य आचार्य श्री देशभूषण जी थे—जो श्री पायसागर जी की परम्परा के पट्टाचार्य थे।

उक्त दोनों परम्पराओ मे आचार्य शान्ति सागर जी की पट्टाचार्य परम्परा कौन-सी मानी जाय? आ० धर्मसागर जी वाली या आचार्य देशभूषण जी वाली? हाला कि श्रावको के लिए दोनो ही पूज्य है। पर पूज्य होते हुए भी भ्रम-निवारणार्थ वस्तुस्थिति तो समझनी ही होगी और यह भी समझना—सोचना होगा कि क्या अन्य पूर्वाचार्यों की परम्पराएँ भी, कभी ऐसी विवादास्पद स्थितियों मे ही निश्चित हुई होंगी। जरा सोचिए।

३. देखते-देखते धांधला?

एक कथा है—एक दिन वज्रदन्तचक्रवर्ती अपनी सभा मे विराजमान थे। एक माली ने उन्हें एक सुन्दर मुकुलित कमल लाकर भेंट किया। उसमें एक मरे हुए भौंरे को देखकर महाराज विचारने लगे—देखो, एक नासिका इन्द्रिय के वशीभूत होने से इस भ्रमर की जान चली गई तो फिर मैं तो रात्रि-दिवस पचेन्द्रिय के भोगोपभोग में लीन हो रहा हूं, कभी तृप्ति ही नही होती। यदि मैं इनको स्वय नही छोड़ दूंगा, तो एक दिन मेरा भी यही हाल होगा। ऐसा विचार कर ससार से उदास हो वे अपने पुत्र अमिततेज को राज्य देने लगे, परन्तु उसने कहा—**पिता जी, जिस कारण आप इस राज्य को छोड़ते हैं, मैं भी इसे छोड़कर आपके साथ क्यों न चलूं?** वज्रदन्त के बहुत समझाने पर भी राज्य को जूठन समान जानकर उसने स्वीकार नहीं किया। अन्य पुत्रो को कहा तब वे भी अमिततेज के ही अनुयायी निकले। जो उत्तर अमिततेज से मिला था वही सबपुत्रो से मिला। निदान अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को राज्य देकर······यशोधर तीर्थंकर के चरणो के निकट महाराज वज्रदन्त ने दीक्षा धारण की।'

हमने पू० आचार्य देशभूषण जी के आचार्य पट्ट ग्राहकत्व के लिए प्रचारित (दो मुनियो के प्रति) विभिन्न दो प्रकार की सूचनाएँ प्रकाशित देखी और दोनो सकल (समस्त) दि० जैन समाज के नाम से प्रसारित देखी। समझ मे नही आया कि सकल (एक) ने दो-रूप कैसे धारण कर लिए? सकल शब्द एकत्व का सूचक है—द्वित्व का नही। ऐसे सकल के नेतापन का दावेदार कौन? जो भेदवाद पर अकुश न लगा सका हो? स्पष्ट तो यही होता है कि समाज पर किसी का अकुश नही—सकल के भी कई भेद और कई नायक जैसे मालुम देते है—'नश्यन्ति बहुनायकाः।'

हमारी दृष्टि से तो सच्चे दिगम्बर मुनि ऐसे विवादो मे सदा तटस्थ और उदासीन ही रहते है—वे अमिततेज आदि भ्राताओ की भाति—और उससे भी कही अधिक विरक्ति का भाव दर्शाते है। यदि कही कोई विसगति होती है तो भ्रमोत्पादक नेताओ की प्रेरणा से ही होती है—सच्चे साधु की ओर से नही। स्मरण रहे—साधुपद, ज्ञाता-साधु की मर्यादाएँ, साधुकी क्रियाएँ बहुत उच्च है—वे साधु के अध्यक्षत्व की ही अपेक्षा रखती है। फलत. उनके

वैराग्यमयी मुद्रा संबंधी विधान, अधिकारों और पद-आदि संबंधी क्रियाओं में अगुआ—मुखिया बनने या पर-प्रेरणा-वश उनमें विघ्न या भेद-परक सूचनाएँ प्रसारित करने का अधिकार श्रावकों को नहीं—जैसा कि किया गया है। हाँ, श्रावकों का कर्तव्य है कि वे ऐसे अवसरों पर साधु को दिख-दिखावे, जयकारों या विरुदावली—गानों आदि मे न भरमाएं बल्कि उन्हें उनके कर्तव्य-निर्वाह हेतु—आत्म-बलवर्धक दशभक्त्यादि जैसे धर्मानुष्ठानों के विशदरीति से करने का अवसर ही प्रदान करें—उन्हें जय-जयकार में घेरें नहीं—जैसा कि वर्तमान में चल पड़ा है। जरा निम्न पंक्तियां भी देखिए, कि इनमें कैसे सामंजस्य बैठेगा ?

1. 'आचार्य श्री (शान्तिसागर ने सन् १९५२ में २६ अगस्त शुक्रवार को वीरसागर महाराज को पट्टाचार्य-पद प्रदान किया, उन्होंने कहा—हम स्वयं के संतोष से अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य वीरसागर को आचार्यपद देते हैं···।' दि० 'जैन साधु परिचय' पृ० ५८

२. 'चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी, तच्छिष्य आचार्य श्री जयकीर्ति जी उनके पट्टशिष्य आचार्य देशभूषण जी महाराज···।' —एक पोस्टर

३. जैन परम्परा में आचार्य शान्तिसागर से आरम्भ हुई आचार्य श्रृंखला में मुनि श्री विद्यानंद पांचवें आचार्य हैं—।' —नवभारत २६ जून ८७

४. दिगम्बर आ० १०८ अजीतसागर जी महाराज को···श्री शान्तिसागर जी महाराज के चतुर्थ पट्टाधीश के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।'

—जैन गजट ३० जून ८७

५. 'आ० रत्नदेशभूषण मुनिमहाराज के करकमलों द्वारा ही···अपने पदस्थान पर···आचार्यरत्न पद नियोजित ···किये हैं। परमपूज्य १०८ बाहुबली जी बालाचार्य ही आचार्यरत्न।'— —'एक पोस्टर'

भविष्य में दिगम्बर गुरुओं को लेकर पुन: कभी कोई दूषित व भ्रामक वातावरण न बने, इसके लिए आप कैसा, क्या उपाय सोचते हैं ? जरा-सोचिए।

५. 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च' :

मोक्ष में जिन भावों का अभाव होता है, तत्संबंधी यह सूत्र है। इसका अर्थ ऐसा किया जा रहा है कि वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावों का और पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का अभाव हो जाता है। हम यहाँ क्षायिक भावों को इसलिए छोड़ रहे हैं कि—लोग वहाँ क्षायिक भावों का रहना कहते हैं और पारिणामिक में से जीवत्व को भी स्वीकार करते हैं भव्यत्व तो वहाँ है ही नहीं।

विचारणीय यह है कि उक्त सूत्र में 'आदि' शब्द का भाव किस मर्यादा में है ? न्यायसंगत तो यही है कि 'आदि' शब्द सदा ही प्रसंगगत शेष सभी के लक्ष्य में होता है—वह किसी को छोड़ता नहीं। यहाँ भावों का प्रसंग है। और सूत्र में प्रथमभाव के बाद आदि शब्द होने से पाँचों ही भावों का ग्रहण होना चाहिए और तदनुसार मोक्ष में पाँचों ही भावों का अभाव स्वीकार करना चाहिए। पाठक सोचें कि—क्षायिकभाव और पारिणामिक भावों में जीवत्व के रह जाने जैसा अर्थ सूत्र के किस भाग से फलित किया गया है ?

हमारी दृष्टि में उक्त सूत्र से ऐसा फलित करना सभी भांति न्याय-सगत होना चाहिए कि—मोक्ष में सभी भांति, सभी प्रकार के सभी भाव—जो जीव—(संसारी) अवस्था के हैं—नहीं रहते। मोक्ष होने पर शुद्धचेतना मात्र ही शेष रहता है जिसका उक्त भावों से स्वाभाविक कोई संबंध नहीं। विकारी (कर्म-सापेक्ष) अवस्था का नाम जीव है, जो कर्माधार पर जीता-मरता है।—कर्म-सापेक्षता के कारण उसी के पाँच भाव हैं और शुद्ध-चेतना इन सभी भावों से अछूता—'चिदेकरस-निर्भर' है। इसी भाव में श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है 'सिद्धा ण जीवा:' और तथ्य भी यही है। जरा सोचिए ! सूत्र में 'भव्यत्वानां च' क्यों कहा ? इसे हम फिर लिखेंगे।

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८७

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	"मैं" और "तू"—डा० कु० सविता जैन	१
२.	दिवंगत हिन्दी-सेवी—डा० ज्योति प्रसाद जैन	२
३.	१०वीं शताब्दी के जैन काव्यों में बौद्धदर्शन की समीक्षा—श्री जिनेन्द्रकुमार जैन	४
४.	ऋषभ, भरत और बाहुबलि का चारित्रिक विश्लेषण—श्रीमती डा० ज्योति जैन	९
५.	सम्यक्त्व प्राप्ति यत्न साध्य है या सहज साध्य है —श्री बाबूलाल जैन	१४
६.	एक अप्रकाशित कृति अमरसेन चरिउ —डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'	१५
७.	क्या मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है —डा० कुसुम पटोरिया	१९
८.	जैन समाज किधर जा रहा है —श्री भंवरलाल जैन न्यायतीर्थ	२२
९.	श्वेताम्बर तेरापंथ द्वारा दिगम्बर समाज पर खुला प्रहार—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२३
१०.	'सिद्धा ण जीवा'—धवला—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२५
११.	जरा सोचिए : —सम्पादकीय	३०

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

शत-शत बार सादर नमन

हम नेताओं को राजा मानते हैं—सन्मान के साथ। किसी को छोटा, किसी को बड़ा। सभी का अपना शासन है—कई भागों में विभक्त—भारतीय, प्रादेशिक, नागरिक और स्थानीय संस्थाओं आदि के रूप में। सभी मोर्चे संभालने और विवाद-विजयी—स्व-दृष्टि मनवाने में निपुण। पुराने राजा लड़ते थे शासन के लिए। और गणतंत्र में इनकी लड़ाई है सेवा के नाम पर, सेवक बन-कर सेवा में आने के लिए। वे द्रव्य और भूमि को आत्मसात् करते थे और इनको मिलते हैं उपहार—यश, प्रतिष्ठा, मान और सन्मान, बुराई-भलाई भी। आज कम राजा होंगे ऐसे—जो इन सम्पदाओं में से किसी एक से महरूम रहे हों। कइयों को तो इनमें से बहुत कुछ मिल चुका होगा—कई कई बार—ग्रामों, नगरों, जंगलों तक में। इनको बहुत कुछ मिल चुका होगा—त्यागियों, विद्वानों, सेठों और साधारण जनता के बीच। फिर भी इन्हें संकोच नहीं होता बार-बार इनके ग्रहण करने से। आखिर, संकोच हो भी तो क्यों? इनकी तो आदत अनादि से पर को ग्रहण करने की रही है। जैनी नाम धरा कर भी ये जैन के सिद्धान्त 'अपरिग्रह' को नहीं जान पाए हैं। फलतः--स्वयं परिगह में डूबे हैं, त्यागियों को परिग्रह के चक्कर में फँसाते हैं—संस्थाओं के उत्सवों में घेरकर, उनकी जय बोलकर और अपने मन्तव्यों पर उनकी मोहरें लगवाकर। ये सब जैन हैं—जैनत्व की अभ्यास दशा में। कभी इनका ये परिग्रह छूट जायगा और कल्याण होगा इनका और समाज का। विरले ही संकोची और सच्चे त्यागी आदि होंगे जो इनके चक्कर से बच पाए हों। धन्य हैं चक्करों से बचने वाले—नग्न दिगम्बर मुनि, व्रती—श्रावक और निःस्पृह नेताओं को। सबको हमारा सादर नमन। बार-बार नमन, सौ बार नमन।

कर्म परवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता॥

कर्मों के आधीन, नश्वर, दुखों से मिश्रित और पाप के कारणभूत सांसारिक सुख की चाहना नहीं करना, निःकांक्षित अंग है।

ओम् अर्हम्

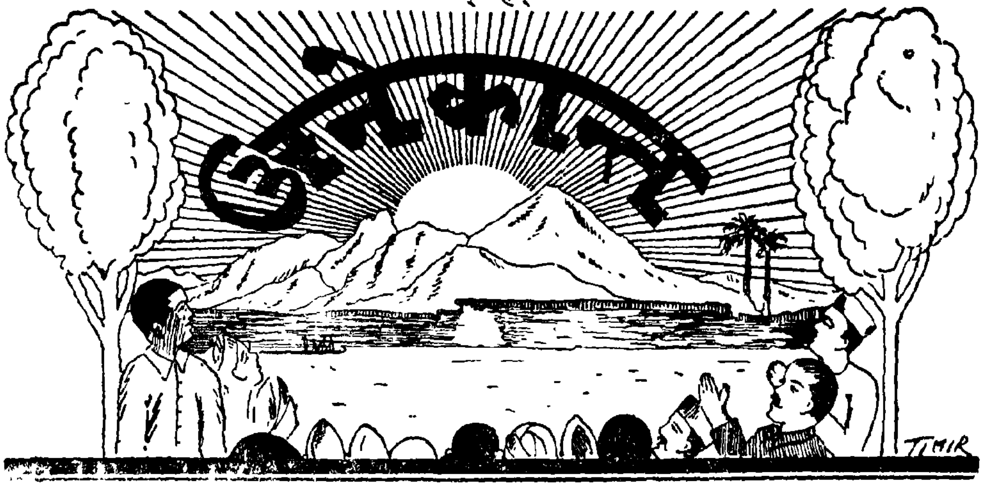

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४०
किरण ३
वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१३, वि० स० २०४४
जुलाई-सितम्बर
१९८७

"मैं" और "तू"

मैं शुद्ध बुद्ध चैतन्य रूप, तू जड़ पुद्गल का रागी।
मैं शुभ्र स्फटिक सम उज्जवल, तू कलुषित भावों का धारी ॥
मैं शीतल अमृत जलधार सदृश, तू तप्तायमान लौह-सा दग्ध ।
मैं आनन्द महोदधि का वासी, तू राग-द्वेष भावों से तप्त ॥
मैं मोह-अरि का हन्ता, तू मोह-रिपु का दीन दास ।
मैं ध्रुव अचल और अनुपम, तू हर क्षण काल का ग्रास ॥
मैं ज्ञान ज्योति की दीपशिखा, तू अज्ञान तिमिर का वासी ।
मैं वीतराग बन कर डोलूं, तू शलभ सदृश अनुरागी ॥
मैं निज स्वभाव में लीन हुआ, तू पर भावों के साथ बहा ।
मैं एक अकेला आकिंचन, तू प्रिय जनों से रहा घिरा ॥
मैं हर क्षण ज्ञाता-दृष्टा, तू हर क्षण कर्ता-भोक्ता ।
मैं हर क्षण कर्म काटता, तू हर क्षण कर्म जोड़ता ॥
मैं शुद्धोपयोग में रमण करूँ, तू पुण्य-बंध का अभिलाषी ।
मैं मुक्ति रमा का सहचर, तू चंचला लक्ष्मी का साथी ॥
मैं 'सविता' सम आलोक पुंज, तू निशा सदृश दिग्भ्रमित रहा ।
मैं मोक्ष मार्ग का पथिक बना, तू स्वर्ण महल में रमा रहा ॥
मैं जरा-मरण से मुक्त हुआ, तू रोग-शोक से व्यथित सदा ।
"मैं" ने पाया सिद्धों का स्वरूप, "तू" ने पाया संसार सदा ॥

—डॉ० सविता जैन
२/३५ दरियागंज, नई दिल्ली

दिवंगत हिन्दी-सेवी

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

चार वर्ष पूर्व दश खंडों में पूरी की जाने वाली महत् योजना के अन्तर्गत 'दिवंगत हिन्दी-सेवी' शीर्षक बृहदकाय कोष के प्रथम एवं द्वितीय खंड प्रकाशित हुए थे। सन् १८०० ई० से लेकर वर्तमान पर्यन्त के दिवंगत हिन्दी-सेवियों के अकारादिक्रम से निर्मित इस परिचयात्मक कोष जैसी श्रम एवं समय साध्य योजना के कार्यान्वयन का भार समर्पित हिन्दीसेवी श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' वहन कर रहे हैं। और उनके सुष्ठु मुद्रण-प्रकाशन का श्रेय शकुन प्रकाशन दिल्ली के संचालक श्री सुभाष जैन को है। अद्यावधि प्रकाशित प्रथम खंड की पृष्ठ संख्या ७८० है और उसमे कुल ८८६ प्रविष्टियाँ हैं। द्वितीय खंड मे ८५० पृष्ठ और ८६३ प्रविष्टियां हैं। अधिकांश परिचय सचित्र है। उल्लिखित हिन्दी-सेवियो मे अनेक ऐसे भी हैं जो हिन्दी जगत के लिए प्राय: अज्ञात या अपरिचित थे, और जिन्हें संकलक सम्पादक श्री सुमन जी ने हिन्दी भाषी क्षेत्रों का ग्रामानुग्राम भ्रमण करके खोज निकाला है। जिसका जो न्यूनाधिक परिचय प्राप्त हुआ, संक्षेप मे दे दिया है। प्रत्येक खंड अ-ह तक स्वय में पूर्ण है—जैसे-जैसे सामग्री एकत्रित होती गई या होती जा रही है, प्रकाशन की सुविधानुसार आगामी खंड निकालते रहने की योजना है। शायद यह विवशता रही, किन्तु इससे कालक्रमिक, सुव्यवस्थित अथवा वर्गीकृत चित्र उभर कर नही आता। बहुधा अति प्रसिद्ध, अथवा १६वीं शती के पूर्वार्ध के, और नितान्त अपरिचित अथवा २०वीं शती के उत्तरार्ध के साहित्यसेवी, साथ-साथ मिल गए है। व्यक्तिशः परिचय भी कहीं-कही अपर्याप्त, असन्तोष-जनक, सदोष या भ्रान्त प्रतीत होते हैं। आकार-प्रकार, कागज, मुद्रण, साज-सज्जा, जैकेट आदि से समन्वित प्रत्येक खंड का मूल्य ३०० रु० है। ग्रन्थ के निर्माता एवं प्रकाशक बधाई एवं धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशन पठनीय, प्रेरक एव संग्रहणीय है।

एक बात अवश्य खटकती है कि ग्रन्थ के प्रथम खंड में दिवंगत जैन हिन्दी-सेवियों की मात्र २७ प्रविष्टियाँ हैं, और द्वितीय खंड मे मात्र ३४—इस प्रकार दोनो खडो की लगभग १८०० प्रविष्टियों में केवल ६१ जैन सम्मिलित हो पाए हैं। इतना ही नही, प्रथम खड के अन्त में सहायक सामग्री की जो सूची दी है, उसमें लगभग ३०० पुस्तकों और लगभग १५० पत्र-पत्रिकाओं के अंकों आदि का उल्लेख है—उक्त सूची में भी मात्र तीन-चार जैन प्रकाशनों का समावेश किया गया है। हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास, लेखकों एव कृतियों का परिचय प्रदान करने वाले दर्जनों प्रकाशन उपलब्ध है, जिनके अतिरिक्त अनेकान्त, जैन सिद्धान्त भास्कर, शोधाक, शोधादर्श, वीरवाणी जैसी प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं की फाइलो में प्रभूत सामग्री बिखरी पडी है। अनेक अभिनन्दन ग्रन्थ, स्मृति ग्रन्थ, स्मारिकाओं, विशेषाको आदि मे भी अच्छी सामग्री मिल जाती हैं। आज सामग्री का अभाव नहीं है, अतएव ऐसे कोशो के सम्पादक यदि अनभिज्ञता, अपरिचय या साधना-भाव को इस कमी का कारण बतायें तो वह गले उतरने वाली बात नही है। प्रथम खण्ड के अन्त मे आगामी खडो में प्रकाशनार्थ प्रस्तावित साधिक अढाई हजार परिचयो में भी जैनो की सख्या मात्र ७५ ही है, जिनमे से भी ३४ तो द्वितीय खंड मे आ गए है, अवशिष्ट आठ खण्डो के लिए लगभग ४० बचते है। जबकि १८०० से वर्तमान पर्यन्त के ही दिवंगत जैन हिन्दी-सेवियो की सख्या लगभग ५०० अनुमानित है इसके अतिरिक्त, अद्यावधि प्रकाशित दोनो खंडो मे समाविष्ट दिवगत जैन हिन्दी-सेवियो के कई परिचय सदोष अथवा भ्रान्त हैं—वीर सेवा मन्दिर एव 'अनेकान्त' शोध पत्रिका के सस्थापक, साहित्यकार, समीक्षक, कवि, सम्पादक, पत्रकार स्व० आचार्य जुगल-किशोर मुख्तार 'युगवीर' की स्वर्गवास तिथि १६५४ ई०

दी है, जबकि सही तिथि १६६६ ई० है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी अपर्याप्त व आंशिक ही परिचय है, उनका फोटो चित्र भी बहुत पुराना, लगा १६२०-२५ का है, जबकि उनके अनेको चित्र १६५०-६६ के बीच के वीर सेवा मंदिर में ही उपलब्ध होगे। पं० नाथूराम जी प्रेमी के परिचय के साथ जो चित्र दिया है, वह उनका प्रतीत नही होता—हमने कई बार उनके दर्शन किए है, उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में तथा तदुपरान्त भी उनके फोटो चित्र प्रकाशित हुए हैं। कवि फूलचन्द जैन 'पुष्पेन्दु' की प्रविष्टि में दो तन्नाम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को—एक लखनऊ निवासी और दूसरे खुरई निवासी को व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही अपेक्षाओं से अभिन्न बना दिया—खुरई निवासी 'पुष्पेन्दु' का तो अभी दो-तीन वर्ष पूर्व निधन हुआ है। डा० गुलाबचन्द चौधरी के शोध प्रबन्ध का शीर्षक या विषय गलत दिया है—वह शोध प्रबन्ध अंग्रेजी में लिखा गया एवं प्रकाशित हुआ है—'पालिटिकल हिस्टरी आफ नर्दन इंडिया फ्राम जैना सोर्सेज। प० गणेशप्रसाद जी वर्णी, या क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी, जो बड़े वर्णी जी नाम से भी प्रसिद्ध रहे, न्यायाचार्य थे तथा अनेक पुस्तको के लेखक भी थे, उनका परिचय 'आचार्य गणेशकीर्ति महाराज' के रूप में दिया है जो ठीक नही है उन्होने न कभी मुनिदीक्षा ली और न आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए - कुछ अति भक्तों ने उनके अन्त समय मे इनका समाधिकरण कराते हुए उन्हे मुनि संज्ञा दे दी थी और शायद 'गणेशकीर्ति' नाम भी। इस प्रकार कई परिचय सदोष हैं। कोई परिचय कुछ अधिक संक्षिप्त या अपर्याप्त सा रहे तो उतनी हानि नही जितना कि यथार्थ या भ्रान्त परिचय से है।

अच्छा तो यह होता कि एक स्वतन्त्र खंड मे ही समस्त दिवंगत जैन हिन्दी-सेवियो का परिचय दे दिया जाता। अवश्य ही इस परिचय-कोष के विद्वान सकलन-सम्पादक जैन नहीं हैं, किसी जैन संस्था, सस्थान या जैन दातार का इसके निर्माण या प्रकाशन में आर्थिक या अन्य योगदान भी नहीं है—इसके उत्साही प्रकाशक सयोग से जैन अवश्य हैं, किन्तु जैन के नाते इस ग्रन्थ का प्रकाशन उन्होंने नहीं किया, वरन् एक व्यवसायी के नाते किया है। अतएव ऐसे प्रकाशन से वे अपेक्षाएं तो नही की जानी चाहिएँ जो एक जैन साहिय प्रेमी को हो सकती है। तथापि जैसी गौणता या उपेक्षा हिन्दी साहित्य, या समग्र भारतीय साहित्य के आधुनिक इतिहास ग्रन्थों में जैन साहित्य एवं साहित्यकारों के साथ प्रायः बरती जाती रही है, इस सन्दर्भ में कोष से उसकी अपेक्षा कुछ अधिक न्याय होने की आशा थी। हमें विश्वास है कि इस कोष के आगामी खंडों मे उसके यशस्वी सम्पादक एवं प्रकाशक उक्त कमी की पूर्ति करने का प्रयास करने की कृपा करेंगे।

चार बाग, लखनऊ

सम्पादकीय—ग्रन्थ के संपादक श्री क्षमचन्द्र 'सुमन' से हमने बात की तो उन्होंने कहा—"यद्यपि हिन्दी साहित्य-सेवी मे अंकित जैनों के परिचयादि में जैनियों का सहयोग रहा है? जैसी सूचनाएँ मिली, संकलित की गई हैं। तथापि यदि तथ्यों में कुछ खामियां रह गई हों तो सपादक के नाते हमें खेद है। हमे संशोधन के जैसे-जैसे सुझाव मिलते जाएँगे उनको विधिवत् अगले संस्करण या परिशिष्ट मे देने का ध्यान रखेगे। जैन विद्वानों और जानकारों से निवेदन है कि वे हमारा अधिक-से-अधिक सही रूप में सहयोग करे। हमें खुशी है कि डा० ज्योतिप्रसाद जी का इधर ध्यान गया। धन्यवाद।"

—जानकारो से आशा की जाती है कि जिन जैन दिवंगत हिन्दी-सेवियों का परिचय इन दो खण्डों मे नहीं गया है, उनका प्रामाणिक परिचय सुमन जी को यथा शीघ्र भेजें ताकि आगामी खण्डों में उन विद्वानों के परिचय का समावेश किया जा सके।

"१०वीं शताब्दी के जैन काव्यों में बौद्धदर्शन की समीक्षा"

☐ जिनेन्द्र कुमार जैन

साहित्य समाज का दर्पण है। इसलिए समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के लिए तत्कालीन साहित्य का अध्ययन अपेक्षित है। कवि अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए किसी कथा के माध्यम से उस समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि परिस्थितियों अथवा मान्यताओं की झांकी प्रस्तुत करता है।

जैन संस्कृति एवं साहित्य के विकास मे मध्ययुगीन जैनाचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि इस युग के साहित्य से साम्प्रदायिक विरोध एव वैमनस्य की परम्परा परिलक्षित होती है, फिर भी जैनाचार्यों ने सहिष्णुता, समभाव, उदारता अहिंसा एव अनेकान्त आदि सिद्धान्तो के माध्यम से उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है।

मध्ययुग, जैनसाहित्य में वर्णित धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के मन्थन की दृष्टि से १०वी शताब्दी मे लिखा गया जैन साहित्य विशेष महत्व का है। इस शताब्दी के जैन साहित्य में प्राकृत भाषा मे निबद्ध विजय सिंह सूरि कृत 'भुवनसुन्दरीकहा' धार्मिक एवं दार्शनिक सामग्री की दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। अपभ्रंश साहित्य मे पुष्पदन्त कृत महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, वीर कवि कृत जम्बू सामिचरिउ, हरिषेण कृत धम्मपरिक्खा, मुनि राम-सिंह कृत करकड चरिउ तथा संस्कृत साहित्य में सोमदेव सूरि कृत 'यशस्तिलकचम्पू' नीतिवाक्यामृत, वादीभ सिंह सूरि कृत गद्यचिंतामणिवीरनन्दि कृत चन्द्रप्रभचरितं,सिद्धर्षि कृत उपमितिभवप्रपच कथा हरिसेणकुत वृहत्कथा, कोश एव अमितगति कृत धर्म परीक्षा आदि प्रमुख कृतियाँ हैं, जिनमें तत्कालोन धर्म एव दर्शन की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

उन ग्रन्थों मे जैन धर्म एव दर्शन के साथ-साथ वैदिक, चार्वाक, बौद्ध, सांख्य न्याय, वैशेषिक, शैव, वेदान्त आदि भारतीय दर्शनो का तुलनात्मक वर्णन किया गया है।

१०वीं शताब्दी के जैन काव्य ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध दर्शन की समीक्षा को निबन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। जिसमें बौद्ध दर्शन के निम्न बिंदुओं पर चर्चा की गई है।—

१. अनात्मवाद (नैरात्मवाद) :
२. क्षणिकवाद :
३. प्रतीत्य समुत्पादवाद (कारण-कार्यवाद) :
४. शून्यवाद :
५. निर्वाण (मोक्ष) :

अनात्मवाद :—जगत को नश्वर, क्षणविध्वंशी एव अनित्य मानने वाला बौद्ध दर्शन आत्मा (जीव) की भी नित्यसता को स्वीकार नही करता। प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, अतः यदि पचस्कन्ध[१] को आत्मा मान भी लिया जाय, तो उसे क्षणिक (अनित्य) माना जायेगा, नित्य नही। इसलिए आत्मवादी मतो द्वारा आत्मा को नित्य मानना उचित नही है।[२] बौद्ध दर्शन शरीरपर्यन्त ही जीव की सत्ता स्वीकार करता है अर्थात शरीर के नष्ट होते ही जीव पच स्कन्ध-समुच्चय (रूप, विज्ञान वेदना, सज्ञा और सस्कार) का समूह होने के कारण अन्य रूप धारण कर लेता है।

आ० वीरनन्दि ने आत्मा को नित्य और ज्ञानधारा रूप ही माना है।[३] समस्त क्रियाओं का मूल आत्मा को मानते हुए भी जगत को क्षणिक मानने के कारण बौद्ध दर्शन में आत्मा की पृथक एवं नित्यसत्ता स्वीकार नही की गई।[४] सोमदेव सूरि ने बौद्ध दर्शन की जीव सम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है, कि—जो बौद्ध मरे हुए प्राणी का जन्म स्वीकार करते हैं और जो ऐसे धर्म को देखते हैं जिसका फल प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है। ऐसी उनकी मान्यता युक्तियुक्त नही है, मात्र भ्रामक है।[५]

बौद्ध दर्शन के उपर्युक्त आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं की

कवियों ने समीक्षा करते हुए कहा है कि—"केवलचित्त-संतानज्ञानधारा ही आत्मा है" ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि सन्तानी (सन्तानवान) द्रव्य के बिना कोई भी सन्तान-गुण पर्याय—सम्भव नहीं है। गुण द्रव्य को आश्रय बनाकर उसी में रहते हैं। अतः ज्ञान की धारा तो गुण है, इसलिए गुणी आत्मा के बिना गुण-ज्ञानधारा की सत्ता कैसे रह सकती है।[६] इसी प्रकार यदि क्षणिकवाद के सिद्धान्त के कारण आत्मा की नित्य सत्ता स्वीकार न करते हुए, उसे क्षण-क्षण में परिवर्तनशील माना जाये तो छः मास तक की व्याधि (रोग) की वेदना (दुःख) कौन सहन करता है?[७] बौद्ध धर्म में आत्मा को पंच-स्कन्ध (रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का समुच्चय मात्र (संघात समूह) माना गया है। किन्तु ये स्कंध भी क्षणमात्र ही स्थायी रहते हैं, तब उन्हें उक्त सिद्धान्तानुसार कैसे बाँधा जा सकता है।[८]

"शरीर पर्यन्त ही आत्मा की सत्ता है" बौद्ध दर्शन के इस मत की समीक्षा कवियों ने कस्तूरी एवं चम्पक पुष्प की गंध के उद्धरण देकर की है। कहा है कि—जिस प्रकार कस्तूरी के समाप्त हो जाने पर भी उसकी गंध बनी रहती है, उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है।[९] अथवा जिस प्रकार चम्पक पुष्प को तेल में डालने से मात्र गंध नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का और शरीर का पृथक अस्तित्व है।[१०]

क्षणिकवाद :—क्षणिकवाद के नियमानुसार जगत की समस्त वस्तुओं का अस्तित्व क्षणमात्र ही रहता है : किसी भी वस्तु की शाश्वत व नित्य सत्ता नहीं होती। प्रत्येक वस्तु का क्षणमात्र ही अस्तित्व रहता है और अगले ही (दूसरे ही) क्षण वह बहुत नष्ट हो जाती है। जो नित्य अथवा स्थायी प्रतीत होता है, वह भी अनित्य है। वस्तु की नित्य-प्रतीति मात्र भ्रम है।

क्षणिकवाद के समर्थन में बौद्ध दार्शनिक अर्थ क्रिया-कारित्व का तर्क प्रस्तुत करते हैं। जिसका अर्थ है—किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति। इस सिद्धांतानुसार जिस क्षण वस्तु (कारण) से कार्य उत्पन्न होता है, उसी क्षणमात्र तक उस वस्तु (कारण) से कार्य उत्पन्न होता है, उसी क्षणमात्र तक उस वस्तु कारण का अस्तित्व रहता है। और अगले क्षण उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जैसे :—एक बीज किन्हीं दो कार्यों का कारण नहीं बन सकता अतः एक बीज (कारण) से एक पौधा (कार्य) ही उत्पन्न होता है। चूंकि पौधा परिवर्तनशील (क्रमिक विकासशील) होता है, इसलिए पौधे के विकास का कारण (बीज) भी परिवर्तनशील होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रथम क्षण जिस बीज का अस्तित्व था, दूसरे ही क्षण उस बीज की सत्ता समाप्त हो गई। इसलिए एक बीज से (कारण से) एक ही पौधा (कार्य) उत्पन्न होता है।

महापुराण[११] में पूर्व पक्ष उठाते हुए कहा गया है कि यदि जिस क्षण में जीव उत्पन्न होता है, वह क्षण विनश्वर है। और जीव के जो संस्कार दिखाई देते हैं, वे क्षणवर्ती स्कन्ध हैं। इसलिए न तो आत्मा की ही नित्य सत्ता है और न पूर्वकृत कर्मों की ही।

उक्त अंश के निराकरण में महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण में मंत्री स्वयबुद्ध द्वारा उक्त कथन की समीक्षा करते हुए लिखा है कि—यदि जगत को क्षणभंगुर माना जाये तो किसी व्यक्ति द्वारा रखी वस्तु उसी व्यक्ति को प्राप्त न होकर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। अथवा द्रव्य को क्षणस्थायी मानने से वासना का (जिसके द्वारा पूर्व में रखी हुई वस्तु का स्मरण होता है) भी अस्तित्व नहीं रह जाता है।[१२] यदि क्षण-क्षण में नये अन्य जीव उत्पन्न होते रहते है, तो प्रश्न उठता है कि जीव घर से बाहर जाता है, वही घर कैसे लौटता है? अतः जो वस्तु एक रखो उसे दूसरा नहीं जान सकता।[१३] जीव की क्षणिक सत्ता मानने वाले बौद्ध दर्शन के इस सिद्धान्त की (क्षणिकवाद की) समीक्षा करते हुए वीरनन्दि कहते हैं कि—यदि जीव की क्षणिक सत्ता मानी गई है तो जो जीव एक क्षण में अच्छे-बुरे कर्म करेगा वह दूसरे ही क्षण नष्ट हो जायेगा। फलतः जो जीव दूसरे क्षण में उत्पन्न होगा वही पूर्वकृत कर्मों का फल भोगेगा। इस दृष्टि से क्षणिक जीव को कृत व आकृताभ्यागम् दोष लगेगा। जिससे बौद्ध दर्शन का क्षणिक वाद खण्डित हो जाता है।[१४] एक ओर

वस्तु को क्षणिक मानना, और दूसरी ओर—"जो मैं बाल्यावस्था में था, वही मैं युवावस्था में हूँ" इस प्रकार के एकत्व मानने से भी क्षणिकवाद खण्डित हो जाता है।[१५]

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि वासना के नष्ट होने पर ज्ञान प्रकट होता है। इसलिए उनकी यह उक्ति क्षणिकवाद के सिद्धान्त को भंग कर देती है।[१६]

प्रतीत्य समुत्पाद की समीक्षा :—(कारण-कार्य-वाद) :—

बौद्धदर्शन में चार आर्यसत्यो के विवेचन के साथ-साथ द्वादशनिदान की भी चर्चा की गई। अर्थात् दुःखो के १२ कारणों को स्पष्ट किया गया है। जिसे प्रतीत्य-समुत्पाद (कारण-कार्यवाद) कहा जाता है। इस सिद्धान्तानुसार बुद्ध यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि दुःख के कारण को जानकर ही उसका विनाश किया जा सकता है। क्योंकि कार्य (दुःख) की उत्पत्ति एवं विनाश, कारण (अवधि—अज्ञान) पर ही निर्भर है।

संसार में प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य है। "अस्मिन सति इद भवति" अर्थात "इसके होने से यह होगा" इस प्रकार का भाव ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। श्चेरबत्स्की[१७] के मत मे हीनयान शाखाएँ प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ इस प्रकार मानती है— 'प्रति प्रति इत्यनाम् विनाशिनां समुत्पादः" अर्थात् प्रत्येक धर्म या वस्तु का उत्पाद उसके विनाश से बधा है। अतः क्षणिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। अतः क्षणिक वस्तुओं का अविच्छिन्न प्रवाह ही प्रतीत्य-समुत्पाद है।

प्रस्तुत सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है कि—यदि क्षण विनाशी पदार्थों मे कारण-कार्यरूप धाराप्रवाह माना जाये, जैसे—गाय (कारण) से दूध (कार्य) एवं दीपक (कारण) से अजन (कार्य) की प्राप्ति माना जाये, तो प्रतिक्षण गौ और दीपक (कारण) के विनष्ट हो जाने पर दूध एवं अंजन (कार्य) की प्राप्ति कैसे हो सकती है।[१८]

शून्यवाद :—शून्यवाद की भावना को जन्म देने का श्रेय दूसरी शताब्दी के आचार्य नागार्जुन को है। जिन्होंने शून्यवाद के माध्यम से माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने अपनी माध्यमिककारिका मे शून्यवाद की विस्तृत व्याख्या की है। आर्य देव (दूसरी शताब्दी) बुद्धपालित (वी शता०), चन्द्रकीर्ति (६वीं शता०) शान्तिदेव (७वीं शता०) तथा शान्तिरक्षित (८वी शता०) आदि प्रमुख शून्यवादी आचार्य हैं, जिन्होंने माध्यमिककारिका की व्याख्याओं के साथ-साथ अन्य कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

माध्वाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में शून्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि—"तत्व (दर्शन का मूल पदार्थ) शून्य ही है, जो इन चार कोटियों से नितांत मुक्त है—(१) सत् (२) असत् (३) उभयात्मक (४) अनुभयात्मक।" अर्थात शून्य उसे कहते हैं, जो सत् भी न हो, न असत् हो, न सदसत् हो और न सद्सत् से भिन्न ही हो। अतः शून्य एक अनिर्वचनीय तत्व है, जिसका केवल ज्ञान ही है।[१९]

हीनयान आचार्य तथा ब्राह्मण और विद्वानों ने भी बौद्ध दर्शन के इस शून्य का अर्थ सकल सत्ता का निषेध या अभाव ही किया है।[२०] अर्थात शून्यवाद को ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों का ही अभाव मानने वाले मत के रूप मे प्रस्तुत किया है।

१०वी शताब्दी के आचार्यों ने भी बौद्धदर्शन सिद्धात की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य अमितगति[२१] ने कहा है कि "सर्वशून्यता की कल्पना करने पर जगत में कुछ भी वास्तविक नही प्रतीत होता। यह जो दृष्टिगोचर होता है, वह अविद्या के कारण सत् प्रतीत होता है।" कवि ने इस सिद्धान्त की आलोचना इस प्रकार की है कि—"जो वस्तुतः स्वप्न में देखी गई वस्तुओं के समान भ्रान्ति से परिपूर्ण है।" ऐसा स्वीकार करने पर जहाँ उसके उपदेष्टा बुद्ध का ही अस्तित्व नहीं रह सकता, वहाँ बन्ध और मोक्ष आदि तत्वों की सत्ता/व्यवस्था कैसे हो सकती है? अर्थात नही हो सकती। पुष्पदन्त कहते हैं—यदि शून्यवादी जगत में शून्य का ही विधान करते हैं तो बौद्धों के इस इन्द्रियों के दमन, वस्त्रों को धारण करना, व्रत पालन, रात्रि से पूर्व भोजन करना और सिर मुंडन से क्या प्रयोजन।[२२]

महान नीतिकारक एवं दार्शनिक आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू में समस्त भारतीय दर्शनों पर प्रकाश डालते हुए उनकी समीक्षात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। बौद्ध दर्शन के शून्यवाद के सम्बन्ध में वे कहते हैं—इस लोक में निश्चय से न तो कोई अन्तरंग तत्व (आत्मा आदि पदार्थ) है, और न ही बाह्यतत्व (घट-पट आदि) है। क्योंकि प्रस्तुत दोनों तत्व विचार रहित हैं। अतः शून्यता ही कल्याण करने वाली है।[13] "वही मैं हू, वही (पूर्वदृष्ट) पात्र है, वे ही दाताओ के गृह है" इस मान्यता के समर्थक बौद्धों को आत्मा की शून्यता को नही मानना चाहिए।[14]

सोमदेव सूरि आगे कहते है कि जब बौद्ध दर्शन समस्त ससार में शून्य का विधान मानता है तो उसके तपश्चरण करने एवं मूर्ति को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन? वास्तव में इससे उनकी मूर्खता ही प्रकट होती है।[15]

"ससार में कुछ भी नित्य नही है, सब कुछ शून्य है, इसे मैं प्रमाण से सिद्ध कर सकता हूँ ऐसी प्रतिज्ञा यदि आपके द्वारा (माध्यमिक बौद्ध) की जाती है तो आपका सर्वशून्यतावाद का सिद्धान्त स्वतः ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि प्रमाण तत्व के सिद्ध हो जाने पर शून्यवाद का विधान नही किया जा सकता।[16] चूकि 'मैं' शून्य तत्व को सिद्ध करता है, इसलिए 'मैं' की सत्ता स्वयसिद्ध है। अतः बौद्धो का शून्यवाद उनके द्वारा ही खण्डित हो जाता है।

निर्वाण मोक्ष :—भगवान बुद्ध ने अपनी शिक्षाएँ चार आर्यसत्यों मे समाहित करते हुए ससार को दुःखमय कहा है। दुःख, दुःख का कारण, दुःख-निरोध, एव दुःख निरोध के उपाय। इन चार आर्यसत्यों को मानव, जीवन में मूर्त रूप देकर जन्म-मरण के भवचक्र से छुटकारा पा सकता है। तृतीय आर्यसत्य (दुःख-निरोध) के अन्तर्गत बुद्ध ने निब्बाण (निर्वाण) का उल्लेख किया है।

निर्वाण शब्द भगवतगीता एव उपनिषदो में भी मिलता है। जहाँ पर उसका अर्थ, 'आत्मसाक्षात्कार' अर्थात, 'ब्रह्म से मिलन' लिया गया है। जबकि बौद्ध दर्शन में इसका शाब्दिक अर्थ है, "बुझा हुआ।" कुछ लोग उसे जीव का अन्त समझते हैं, जो उचित नही है। बौद्ध ग्रन्थों मे जलने और बुझने का जिक्र बहुत आया है। अतः निर्वाण का अर्थ वासना की अग्नि का बुझ जाना है। जिसमें लोभ, क्रोध, घृणा व भ्रम रूपी अग्नि बुझकर कामासव, भावासव एवं अविद्यासव आदि मन की विशुद्ध प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती है।[17] निर्वाण को 'सितिभाव' या शीतलता की अवस्था कहा गया है।[18] इसमें कर्मों का नहीं बल्कि राग-द्वेष रूपी मलो का क्षय हो जाता है। शरीर के रहने पर भी जिसमे तृष्णा का अभाव हो निर्वाण कहलाता है। रतनसुत्त मे कहा गया है कि निर्वाण के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। यह (निर्वाण) मानव-शरीर का दीपक के बुझ जाने के समान है।[19] जिसमें जीव लोभ, क्रोध, भ्रम आदि विकारो से मुक्त हो परमानन्द या पूर्ण शान्ति की अवस्था को प्राप्त होता है।[20]

सोमदेव सूरि ने भी बौद्धों की इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—जिस प्रकार बुझता हुआ दीपक किसी भी दिशा को नही जाता, बल्कि तेल के समाप्त होते ही नष्ट (शांत) हो जाता, है, वैसे ही समस्त दुःखों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो केवल शान्ति का लाभ पाता है।[21] बौद्ध दर्शन आत्म शून्यता आदि तत्वो की भावना से मुक्ति मानता है।[22] अर्थात समस्त जगत क्षणिक, दुःखरूप, स्वलक्षणात्मक एव शून्य रूप है, इस तरह से चार प्रकार की भावना से मुक्ति होती है।[23]

बौद्धों की उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए कवि कहता है कि—भावना मात्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि भावना से सभी शुभ-शुभ वस्तु चित्त में स्पष्ट रूप से झलकने लगती है। अर्थात वस्तु का मात्र चिन्तन होता है। प्राप्ति नही। यदि भावना मात्र से मुक्ति की प्राप्ति माना जावे तो बचको अथवा वियोगियों की भी मुक्ति होनी चाहिए।[24]

बौद्ध दर्शन मे वस्तु को प्रतिक्षण विनाशशील माना गया है। इस सिद्धात को मानने से बन्ध व मोक्ष का अभाव हो जायेगा। क्योंकि यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही माना जाये, तो प्रत्येक वस्तु अगले क्षण में समूल नष्ट हो जायेगी एसी अवस्था में जो आत्मा बंधा है (कर्म से बद्ध है), वह दूसरे क्षण नष्ट हो जायेगा, तब मुक्ति किसे होगी।[25] इसलिए राग-द्वेष रूप आभ्यन्तर मल के क्षय हो जाने से जीव के आत्म स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं

अत: बौद्ध जो दीपक के बुझने-सरीखी आत्मशून्यता से मुक्ति मानते हैं, वह असम्भव है।"

इस प्रकार १०वीं शताब्दी का समूचा जैन साहित्य इस तरह की दार्शनिक मान्यताओं एवं उसके खण्डन-मण्डन की सामग्री से भरा पड़ा है। प्रस्तुत निबन्ध मे मात्र बौद्ध दर्शन की मान्यताओं एवं खण्डन की परम्परा को स्पष्ट किया गया है। किन्तु इस युग के कवियों ने अपनी रचनाओ में तत्कालीन अन्य दर्शनो पर भी लेखनी चलायी है।

—सुखाडिया वि० वि० उदयपुर

सन्दर्भ-सूची

१. मिलिन्द प्रश्न

२ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—१।२।८

३. चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि)
—सोलापुर संस्करण, २।८४।५३

४ णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त)—६।५।२

५. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य (सोमदेवसूरि), दीपिका—पं० सुन्दरलाल शास्त्री—५।११६।१६४

६. चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि)—२।८४।५३

७. जसहरचरिउ (पुष्पदन्त)—३।२६।५

८ शर्मा रामनाथ—भारतीयदर्शन के मूल तत्व—पृ० १५१

९ यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य (सोमदेव)—५।११०।१६२

१०. जसहरचरिउ (पुष्पदन्त)—३।२१।११६

११. महापुराण (पुष्पदन्त), सम्पादक—डा० वैद्य भा० ज्ञा० पीठ प्रकाशन २०।१६।३५

१२. महापुराण—२०।२०।८-५

१३. खनि-खनि अण्ण जीउ जइ जायउ,
तो वहिरेणउ किहघड आयउ।
अण्णे थवियउ अण्णुण यागइ,
सुण्णुवि वाइ काइ वक्खाणइ॥
—णायकुमारचरिउ, ६।५।१०-११

१४. क्षणिकत्वेऽपसतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणम्।
कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यते॥
चन्द्रप्रभचरित, २।८६।५४११

१५ यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य—दीपिक, प० सुन्दरलाल शास्त्री—८।१२६।४०६

१६. जसहरचरिउ—३।२६।५

१७. Stcherbatsky — Conception of Buddhist Nirvan — Page 9

१८. णायकुमारचरिउ—६।५।८-६

१९ (क) "अतस्तत्त्वंसदसदुभयानुभयात्मक चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्यमेव"— सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य) हिन्दी भाष्यकार—प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पृ० ६३-६४

(ख) माध्यमिक कारिका (नागार्जुन), १-७

२०. उपाध्याय, बलदेव : बौद्ध दर्शन मीमांसा—पृ० २६६

२१. धर्म परीक्षा (अमितगति)
—सोलापुर संस्करण—१८।७४।२८८

२२. सुण्णु असेसु वि जइ कहिउ
तो किं तहो पंचिन्दियदण्डणु।
चीवरवणिवसणु वयधरणु सत्तहडीभोयणु सिरमुण्डणु॥
—(णायकुमारचरिउ ६।११३)

२३. यशस्तिलकचम्पू महाकाव्यं (सोमदेव) दीपिका प० सुन्दरलाल शास्त्री—६।११।१८६

२४. वही—५।१०६।१६२   २५. वही—५।११२।१६३

२६. यशस्तिलक चम्पू महाकाव्यं (सोमदेव)—६।३४।१६१

२७. संयुत्त निकाय, III, २५१, २६१, २७१ II

२८. सयेत्त निकाय, Encyclopedia of Religion & Ethics I.

२९. रजत-सुत—७, १३

३०. धम्मपद—२०२, २०३

३१ यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य
(सोमदेव)—६।१३, १४।१८६ ८७

३२. वही—अश्वास ६, पृ० १८४

३३. सर्वदर्शनसंग्रह (मध्वाचार्य) पृ० ३५, ३६

३४. यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यं (सोमदेव)—६।२६।१८६

३५. वही—६।१०६।२०५

३६. यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्य (सोमदेव)—६।२१६।२०७

—सुखाडिया वि० वि० उदयपुर

ऋषभ, भरत और बाहुबलि का चारित्रिक विश्लेषण

अपभ्रंश महापुराण के आधार पर

□ (श्रीमती) डा० ज्योति जैन

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रथम चक्रवर्ती भरत और आद्य कामदेव बाहुबलि का चरित्र समग्र भारतीय साहित्य के आकर्षण का केन्द्र रहा है। जैन साहित्य तो इनकी अमर गाथाओं से भरा पड़ा है। इनके प्रजापतित्व वीरत्व और अप्रतिम व्यक्तित्व की छाप इतनी गहरी है कि सभी संस्कृतियों ने इन्हें अपनाया और अपने-अपने अनुरूप आकलन किया।

साहित्यकारो और शिल्पियो के लिए इनके चरित्र आदर्शमय हैं। आगम और लौकिक दोनों प्रकार के साहित्य में उल्लिखित हैं। पुराण, काव्य, कथाचरित, आदि इनके गुणानुवाद से भरे पड़े है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओ के अतिरिक्त दक्षिण भारतीय भाषाओ में भी इन महापुरुषों का चरित्र उपलब्ध है। अपभ्रंश भाषा मे महाकवि पुष्पदन्त विरचित 'महा पुराण' या त्रिषष्ठि महापुरुष गुणालंकार' पुराण एतद्विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ६३ शलाकापुरुषो का चरित्र निबद्ध है।

महापुराण के आदिपुराण और उत्तरपुराण ये दो भाग हैं। आदि पुराण के पूर्वार्ध मे उक्त तीनों महापुरुषों का चरित्र विस्तार से चित्रित है। इसमे कुल ३७ सन्धियां या परिच्छेद है।

इसमे पूर्व ८-९वी शती के आचार्य जिनसेन का संस्कृत भाषा मे निबद्ध 'महापुराण' उपलब्ध है। जिसमे भी ६३ शलाकापुरुषों का चरित्र चित्रित है। अत: इस अनुमान को पर्याप्त अवकाश मिलता है कि पुष्पदन्त ने जिनसेन का अनुकरण किया है, पर नही, पुष्पदन्त ने चरित्रो का चित्रण तो जिनसेन या जैन परम्परानुसार ही किया है पर उनकी शैली अपनी है, यथा जिनसेन ने तीर्थङ्करों के पूर्वभवो का चित्रण पहले किया है।[1] पर पुष्पदन्त ने बाद (ऋषभदेव के जन्मादि के) मे किया है।[2] हम क्रम से तीनों का चारित्रिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे है।

ऋषभदेव—

ती० ऋषभदेव को जैन परम्परा में आद्य तीर्थङ्कर, कर्मभूमि के आदि प्रवर्तनकर्ता तथा प्रजापति के रूप में पूजित किया गया है स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा है—

"प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविष,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।"[3]

जैन साहित्य के आगमग्रन्थों, पुराणों, कथाओं एवं काव्यग्रन्थों में उनका स्मरण किया गया है। भागवत् में उन्हें आठवां अवतार कहा गया है[4] ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि मिष्ट भाषी, ज्ञानी, स्तुति योग्य ऋषभ को साधक मन्त्र द्वारा वर्धित करो[5] एक अन्य मन्त्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्तिसम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यो और देवों मे पूर्वयाया कहा गया है।[6] यजुर्वेद[7] तथा अथर्ववेद[8] मे बुद्धि एव बल के लिए उनका आह्वान किया गया है।

लिङ्ग, मार्कण्डेय, कर्म, नारद, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों के अनुसार स्वयम्भुव मनु से प्रियव्रत उनके आग्नीध्र नाभि और नाभि के ऋषभ हुए। भागवत् के अनुसार वे योगी थे।[9] बौद्ध साहित्य में ऋषभ महावीर के साथ उल्लिखित हैं।[10] शिव और ऋषभ के ऐक्य-सन्दर्भ में अनेकों लेख पत्र-पत्रिकाओ मे समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। मुनि श्री विद्यानन्द महाराज ने बाबा आदम को भी ऋषभदेव माना है। मुनि श्री की दृष्टि मे आदम आदिनाथ का अपभ्रंश है।[11]

यह सब लिखने का प्रयोजन यही है कि पाठक यह समझ सकें कि ती० ऋषभदेव जैन परम्परा में ही नहीं,

वैदिक या अन्य परम्पराओं में भी उल्लिखित हैं। पुष्पदन्त कृत महापुराण और जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर थे। वे अन्तिम कुलकर नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र थे। गर्भ में आने से ६ माह पूर्व ही नाभिराय के आंगन में रत्नों की वृष्टि हुई। मरुदेवी ने १६ स्वप्न देखे। आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वे गर्भ मे अवतरित हुए।[१२]

चैत्र कृष्ण नवमी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में मरुदेवी ने एक ओजस्वी पुत्र को जन्म दिया।[१३] विभिन्न देवपुत्रों के साथ क्रीडाएं करते हुए उनका बचपन बीता। युवा होने पर यशस्वी और सुनन्दा के साथ उनका विवाह हुआ।[१४]

ऋषभदेव का सम्भवत: पहला चरित्र है जिसने वैवाहिक जीवन का आरम्भ किया। इससे पूर्व भोग भूमि में युगल सन्तान होती थी और वही युवा होने पर पति-पत्नी हो जाते थे। नाभिराय ने उनका बड़ी धूमधाम से पट्टबन्ध किया और ऋषभदेव राजकाज चलाने लगे।[१५] उनकी महारानी यशस्वती से भरत, ९९ अन्य पुत्र तथा ब्राह्मी नाम की पुत्री और सुनन्दा से बाहुबलि पुत्र तथा सुन्दरी नाम की पुत्री इस प्रकार १०३ सन्तानें हुई।[१६]

ऋषभदेव जी का जीवन लोक कल्याण के लिए था उनसे पहले कल्प वृक्षों से सभी की आवश्यकताएं पूरी होती रहती थीं अत: आजीविकार्थ भ्रमण का प्रश्न ही नहीं था, पर उनके काल में कल्पवृक्षो की शक्ति क्षीण होने लगी, अत: उन्होंने असिमसि, कृषि, वाणिज्य आदि का उपदेश सर्वप्रथम दिया। उन्होंने पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को वर्णमाला और अंकों का उपदेश दिया। ब्राह्मी गोद में दाहिनी ओर बैठी थी, और सुन्दरी बायीं ओर। इसी कारण वर्णमाला दायी ओर अंक बायी ओर को लिखे जाते हैं। पुत्र को भी यथायोग्य शास्त्रो का ज्ञान उन्होंने कराया। इस प्रकार उन्होंने सन्तानों को सुशिक्षित बनाकर अपने कर्म से यह उपदेश दिया कि माता-पिता का कर्त्तव्य केवल जन्म दे देना ही नहीं है किन्तु उन्हें सुशिक्षित बनाना भी है, तथा पुत्रों से भी पहले पुत्रियों को सुशिक्षित करना आवश्यक है।

राज्य व्यवस्था का सूत्रपात तीर्थंकर ऋषभदेव ने ही किया उन्होंने विभिन्न जनपदों, खेट-खर्बट तथा ग्रामों की स्थापना की और साम्-दाम-दण्ड-भेद आदि की व्यवस्था की।

वर्ण व्यवस्था की सर्वप्रथम स्थापना भी तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने की उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण बनाये यद्यपि मनुष्य जाति एक है, अत: ऊँच-नीच का प्रश्न नही। मात्र वृत्ति और आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए ही उन्होंने यह वर्ण भेद किया। वैदिक सस्कृति जहाँ यह विभाजन जन्म से स्वीकारती है वहाँ जैन संस्कृति कर्म से। कहा गया है—

'कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो ॥
वइसो कम्मुणा होई सुद्दो हवई कम्मुणा।[१७]

महापुराण की छठी और सातवी सन्धियों मे ऋषभदेव की प्रव्रज्या का सुन्दर वर्णन है। सर्वविदित है कि ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक राज्य का सुन्दर सचालन किया और नीलांजना का विनाश देखकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी। यह प्रतीक इस बात का है कि मनुष्य को राज्य और सत्ता से सदा चिपके नही रहना चाहिए, जीवन को क्षणिक मानते हुए आत्मचिन्तन में भी रत होना चाहिए।

ऋषभदेव ने शरीर से ममत्व छोड़कर कठोर तपश्चरण किया। आहारार्थ निकलने पर कही आहार नही मिला, लोग उपहार में बहुमूल्य वस्तुएं लाते पर सन्यासी को इनसे क्या मोह? यह उनकी इस वृत्ति का परिचायक है कि कठिन से कठिन आपद आने पर भी धर्म और धैर्य न छोड़ो। अन्त में हस्तिनापुर के सोमप्रभ के लघु भ्राता श्रेयांस ने उन्हें इक्षु रस का आहार दिया। तभी से यह दिन इक्षु तृतीया (अक्षय तृतीया) के नाम से प्रचलित हुआ। उन्हें फाल्गुन कृष्ण एकादशी को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।[१८]

इन्द्राज्ञा से कुबेर ने समशरण का निर्माण किया, जिसमें देव, मनुष्य, पशुओं आदि के बैठने के लिए अलग-अलग स्थान था। तीर्थंकर की दिव्यध्वनि को सभी जीव अपनी-अपनी भाषा मे सुनते थे। किसी समय यह विवाद का विषय था किन्तु विज्ञान ने आज ऐसे यन्त्रों का निर्माण

कर डाला है, जो स्वयं एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करते चलते हैं। तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सात तत्त्वों, छह द्रव्यो, नवपदार्थों का सुन्दर उपदेश दिया। अन्त मे दिगम्बर परम्परानुसार माघ कृष्ण चतुर्दशी और श्वेताम्बर परम्परानुसार त्रयोदशी को सूर्योदय के समय अनेक मुनियों के साथ कैलाश पर्वत पर निर्वाण को प्राप्त हुए।

तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्ण काञ्चन, चिह्न वृषभ, यक्ष गोमुख, यक्षिणी चक्रेश्वरी,[११] गर्भविक्रान्तिः श्वेत वृषभ रूप[१२] देह ५०० शरासन, आयु ८४ लक्ष्य पूर्व थी।[१३] उनके ८४ गणधरों मे वृषभसेन प्रमुख थे। पूर्वधरों की सख्या ४७५०, अवधिज्ञानियो की ६०००, केवलियों की २०००० मनःपर्यज्ञानियों की १२६५०, अनुत्तरवादियों की १२६५०, आर्यिकाओं की ३०००००, श्रावको की ३५०००० तथा श्राविकाओं की संख्या ५ लाख थी।[१४]

चक्रवर्ती भरत—

भारतीय इतिहास में भरत नाम के दो प्रतापशाली राजाओ का उल्लेख मिलता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत और द्वितीय महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत। पुराणों में दोनों का ही उल्लेख हुआ है। बहुत पहिले इतिहासविदो की यह मान्यता थी कि दुष्यन्त—शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। किन्तु ज्यों-ज्यों प्राचीन साहित्य का प्रकाशन होता रहा, इतिहास अपने अवगुण्ठन खोलता रहा, यह मान्यता टूटती रही और आज लगभग सभी इतिहासविद् यह स्वीकार करते हैं कि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।[२१]

महापुराण के अनुसार भरत इस अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती थे। ऋषभदेव जब भरत को राज्याभिषिक्त कर वन चले गये, तब भरत दिग्विजय के लिए निकले उन्होंने अत्यन्त बलशाली मागध देव को पराजित किया।[१४] अन्य भी अत्यन्त शक्ति सम्पन्न राजाओं को जीता। समस्त उत्तर भारत पर विजय पाई।[१५] किन्तु अयोध्या आकर चक्र नगरी में प्रविष्ट न हुआ। यहाँ तक उनके चरित्र का संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है किन्तु इसके आगे का चरित्र जैन पुराणों का सबसे लोकप्रिय भाग रहे हैं। एक तरफ अभी हाल ही तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने संस्कृति का निर्माण करते हुए जनता को रहना सिखाया था, दूसरी ओर उन्हीं के पुत्र उसे नष्ट करने पर तुले हुए थे कैसी विडम्बना है।

ज्योतिषियों से चक्र के नगर में प्रविष्ट न होने का कारण जानकर उन्होने चतुर दूत बाहुबलि के पास भेजा, पर बाहुबलि ने भरत की अधीनता स्वीकार न कर युद्ध करना उचित समझा। भरत और बाहुबलि के युद्ध का सुन्दर चित्रण महापुराण[१६] मे हुआ है।

इस प्रकार भरत के चरित्र को हम किसी सत्ता लोलुप पुरुष का चरित्र कह सकते हैं, जो राज्य के लिए अपने भाई को भी क्षमा न कर सका। पर वस्तुतः देखा जाये तो यह प्रश्न अकेले भरत का नही था, यह प्रश्न राजधर्म का था। युद्ध करना उनकी विवशता थी। कर्त्तव्य था। इस सन्दर्भ में श्री विष्णु प्रभाकर ने 'सत्ता के आर-पार' मे लिखा है—

"नारीमूर्ति—अब यह आपके चाहने न चाहने का प्रश्न नही है, राजधर्म का प्रश्न है······आपने छह खण्ड के राजाओं को क्यों अपने चरणों में झुकाया।

भरत (तड़पकर) सब याद है हमें, पर भाई का भाई से युद्ध······नारीमूर्ति—राजधर्म बहुत गहन हैं। वहाँ सांसारिक दृष्टि से उचित-अनुचित का, नाते-रिश्ता का, कोई अर्थ नहीं है, अर्थ है केवल अपना कर्त्तव्य-पालन करने का और अपना कर्त्तव्य है, टुकड़ों मे बटी धरती को एक करना······।[१७]

इसी सन्दर्भ में स्वयं लेखक की एक कविता तीर्थङ्कर (इन्दौर) फरवरी १९८१ में दृष्टव्य है।

युद्ध होने से पूर्व ही दोनो पक्षों के मन्त्रियों ने विचार कर प्रस्ताव रखा कि आप दोनों चरमशरीरी हैं, आप का कुछ न बिगड़ेगा, व्यर्थ सेना का रक्तपात क्यों हो? अतः आप जल, दृष्टि और बाहुयुद्ध करके हारजीत का निर्णय कर लें।[१८] सभी युद्धों में भरत पराजित और बाहुबलि विजयी हुए। पराजय के दारुण दुःख से अभिभूत भरत ने बाहुबलि पर चक्र चला दिया, पर वह उनकी प्रदक्षिणा कर लौट आया।

बाहुबलि की दीक्षा और उसके बाद केवल ज्ञान न होने पर भरत ने उनकी पूजा की और समझाया तब उन्हें

केवल ज्ञान हुआ। दीर्घकाल तक राज्य श्री का भोग कर, सिर के सफेद बाल को देखकर उन्हें वैराग्य हुआ पुत्र को राज्य देकर उन्होने दीक्षा ले ली और कठिन तपस्या कर मोक्ष पद पाया।

बाहुबलि—

महापुराण मे बाहुबलि का उल्लेख एक स्वातन्त्र्य प्रेमी और उनका शरीर अतिशय सुन्दर था। उन्हें अपनी जनता से बहुत प्यार था, भले ही उनका राज्य भरत की अपेक्षा छोटा हो। भरत द्वारा दूत भेजकर अधीनता स्वीकार करने के प्रस्ताव को वे नहीं मानते और युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते है। वह सत्ता के लिए नही अपने अधिकारो के लिए लड़ते हैं। वह कहते हैं कि यह भाई-भाई के प्रेम का प्रश्न नही अधिकारो के सघर्षका है। वे अद्भुत देहयष्टि के स्वामी थे। इसलिए वह तीनों-युद्धों में भरत को पराजित कर देते हैं। भरत द्वारा क्रोधित होकर चक्र चलाये जाने पर बाहुबलि को वैराग्य हो जाता है।[११] वह महाबली पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ले लेते हैं और कठोर तप करते हैं।

समग्र जैन साहित्य मे बहुबलि की तपस्या का जैसा वर्णन मिलता है वैसा अन्य किसी तपस्वी की तपस्या का नहीं। वे पाषाण प्रतिमा की तरह स्थिर, नग्न, मौन, एकाकी ही ध्यानस्थ खड़े रहे। दिन और रात सप्ताह और मास बीत गये पर एक बार भी उनका ध्यान नही टूटा। उनके चमणो में सर्पों ने वामियो को बना लिया था। दो माधवी लताए भी उनकी देह के सहारे चढती चली गयी। यही कारण है कि आज भी बाहुबलि की मूर्ति के हाथ और पैरो पर लिपटी हुई बेलों के चिह्न बने होते हैं।

इतना होने पर भी उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हुई। अन्त मे भरत द्वारा नमस्कार करते ही उन्हें केवल ज्ञान हो जाता है और वे ऋषभदेव से पहले ही मुक्तिबधू-पति बन जाते है।

बाहुबलि के चरित्र की अपनी विशेषताये है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' की वह साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। पिता प्रदत्त छोटे से राज्य की स्वतन्त्रता के लिए वह बड़े भाई की चुनोती को सहर्ष स्वीकार करते हैं, यह उनके अजेय पौरुष का प्रतीक है।' भरत को पराजित करके भी वे उनके अनीति भरे आचरण के प्रति तत्काल क्षमा भाव धारण कर लेते है, यह उनकी अनुपम क्षमाशीलता का उदाहरण है।

चक्रवर्ती नरेश अपने समय का सर्वशक्तिमान और सर्वाधिक संप्रभुता सम्पन्न महापुरुष होता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में पराजय की पीड़ा से उसका कभी परिचय नही होता किन्तु बाहुबली के चरित्र की यह विशेषता है कि उनके हाथो उन्ही के अग्रज को तीन बार पराजित होना पड़ा। व्यक्ति मे स्वयं का बल और अदम्य साहस हो तो उसका कोई कुछ नही बिगाड सकता यहाँ तक कि दैवी शक्तियाँ भी नही। देवों से सरक्षित सम्राट भरत का चक्र बाहुबलि का कुछ नही बिगाड़ सका।

उनके चरित्र की एक महनीय विशेषता यह है कि उन्होने जीत कर भी हार मान ली लेकिन वे भाई से नहीं हारे वे हारे अपने अन्तस्तल से। जीत के बाद विचारो का द्वन्द चला, कैसा यह ससार है, कैसी घृणित इसकी प्रवृत्तियाँ हैं······यही सोचते रहे वे क्षण भर और वैराग्य की संसार-असारता की भावना विजयी हुई सत्ता की भावना हार चुकी थी। उन्होने कठोर तप किया यही कारण है कि आज वे तीर्थङ्कर न होते हुए भी तीर्थङ्करो की तरह पूजे जाते हैं। अनीति पर नीति की, असद पर सद की, दुष्प्रवृत्तियो पर सुप्रवृत्तियो की विजय के वे प्रतीक हैं।

इस प्रकार इन तीनो महापुरुषो ने अपने-अपने चरित्र से मानव जाति के समुन्नयन में महद् योगदान दिया है। संसार की किसी भी सस्कृति में ऐसे महापुरुष नही हैं, जिनकी विचारधारा और चिन्तन का मानव जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, पर ये तीनों ऐसे ही हैं। उनके उपदेश जितना कल उपादेय और आदर्शमय थे उतने ही आज हैं, और 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ रहेंगे।

—१३०, बड़ा बाजार,
खतौली २५१२०१ (उ० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. आदिपुराण : अनु० पं० पन्नालाल, ज्ञानपीठ १९६३, पर्व-४-१५
२. महापुराण (आदिपुराण) : सम्पा० पी० एल० वैद्य, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई १९३७, सन्धि २१-२७
३. बृहत्स्वयंभू स्तोत्र : पाटनी ग्रन्थमाला मराठे २४७६, २
४. श्रीमद्भागवत : गीता प्रेस गोरखपुर, पचम स्कन्ध
५. ऋग्वेद: सम्पा० विश्वबन्धु, होशियारपुर १।१६०।१
६. वही ३।४।२ एवं अन्य—८।४५।३८, १०।१८७।१, ६।२६।४ आदि
७. यजुर्वेद : संस्कृति सस्थान बरेली, ३१।१८
८. अथर्ववेद : सस्कृति संस्थान बरेली १९।४२।४
९. श्रीमद्भागवत : पचम स्कन्ध
१०. धम्मपद : धर्मरक्षित, मा० खेलाडी लाल वाराणसी ५९, गाथा ४२३
११. विश्वधर्म की रूपरेखा : मुनि विद्यानन्द, पृष्ठ १९
१२. महापुराण : पुष्पदन्त, तृतीय सन्धि
१३. वही तृतीय सन्धि
१४. वही चतुर्थ सन्धि
१५. वही पचम सन्धि
१६ श्वेताम्बर परम्परा १०० पुत्र व पुत्रियाँ=१०२ सन्तानें मानती हैं
१७. उत्तराध्ययन सूत्र : कलकत्ता १९६७, २५।३१
१८. महापुराण : पुष्पदन्त नवम सन्धि
१९ वही : उत्तरपुराण द्वितीय खण्ड, बम्बई १९४०, परिशिष्ट १
२०. वही : परिशिष्ट २
२१. वही : परिशिष्ट २
२२. वही परिशिष्ट ३
२३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : ज्ञानपीठ १९६६, पृष्ठ २४
२४. महापुराण पुष्पदन्त, बारहवी सन्धि
२५. वही : पन्द्रहवी सन्धि
२६. वही : सत्तरहवी सन्धि
२७. 'सत्ता के आर-पार' : ज्ञानपीठ १९८१, पृ० ७
२८. श्वेताम्बर परम्परा दृष्टि, वाक्, बाहु मुष्ठि और दण्ड ये पाँच युद्ध मानती है -
२९. महापुराण पुष्पदन्त, सोलहवी व सत्तरहवीं सन्धि।

卐卐

(पृ० १८ का शेषांश)

मुनि अमरसेन इस प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणो मे प्रथम कारण जिनेन्द्र की पूजा का महत्व प्रतिपादित कर अपने भाई मुनि वइरसेन के साथ सन्यासपूर्वक देह त्याग कर पाँचवें स्वर्ग में देव हुए। राजा देवदत्त और रानी देवश्री ने जिनेन्द्र की पूजा की।

अन्त में कवि ने आचार्य परम्परा का उल्लेख करते हुए उनसे आनन्द प्राप्ति की कामना की है। ग्रन्थ रचना के प्रेरक चौधरी देवराज के पूर्वज करमचन्द चौधरी का परिचय देने के उपरान्त गुरु के प्रति कृतज्ञता और अपनी अल्पज्ञता का भी उल्लेख किया है। ग्रन्थ समाप्ति तिथि सवत् १५७६ चैत्र शुक्ला पञ्चमी शनिवार बताई गई है। कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति कामना प्रकट करते हुए ग्रन्थ को समाप्त किया है कि—"तैल, जल और शिथिल बन्धन से ग्रन्थ को बचाइए। इसे मूर्ख के हाथ में न दीजिए।"

प्रभारी एवं शोध सहायक
जैन शिक्षा संस्थान
जिला सवाई माधोपुर (राज०)

सम्यक्त्व प्राप्ति यत्न साध्य है या सहज साध्य है ?

□ श्री बाबू लाल जैन

अर्ध पुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर सम्यक दर्शन होता है अथवा सम्यक दर्शन होने पर अर्ध पुद्गल परावर्तनकाल शेष रह जाता है। प्राय: करके हमारे समाज में, विद्वानों में एव त्यागियों में यही मान्यता प्रचलित है कि जिसका अर्ध पुद्गल परावर्तन काल मोक्ष प्राप्ति मे शेष रहता है उसी के सम्यक प्राप्त करने की योग्यता होती है। अगर संसार ज्यादा है तब सम्यक्दर्शन प्राप्त नही होगा। कितना ही पुरुषार्थ करे परन्तु काल अधिक है तब सम्यक दर्शन नही होगा। इससे मालूम देता है कि सम्यक्-दर्शन पुरुषार्थ प्रधान नही है परन्तु काल लब्धि के आधीन हैं। वह काल लब्धि कब आवेगी यह मालूम नही। उसके पहले पुरुषार्थ करने से कोई फायदा नही है। इस विषय पर विचार करना जरूरी है। कोई भी कर्म ७० कोडा-कोडी सागर से ज्यादा स्थिति वाला नहीं होता है इससे भी यह बात नही समझी जा सकती है कि इस जीव की काल लब्धि अभी आयी है या नही। इसके अलावा फिर और कोई उपाय रहा ही नही कि जिससे यह समझा जा सके कि मोक्ष प्राप्ति में अभी अर्ध पुद्गल परावर्तन से काल ज्यादा है या समय के भीतर है। भगवान सर्वज्ञ और आचार्य सभी जीवों को सम्यक प्राप्ति का उपदेश देते हैं। वहाँ यह नहीं कहते कि अमुक जीव को अभी पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए क्योंकि अभी अर्ध पुद्गल भी परावर्तन काल से मोक्ष प्राप्ति में काल ज्यादा है।

इस विषय में श्री धवला जी और जय धवला जी में निम्न विषय मिलता है—

षट् खण्डागम प्रथम खण्ड पु० ५ सूत्र ८

उवसम सम्मत्तं पडिवण्ण पढम समए अणंतो संसारो छिण्णो अद्ध पोग्गल परियट्टमत्तो कदो।

अर्थ उपसम सम्यक्त्व के प्राप्त होने के प्रथम समय मे अनन्त संसार को छिन्न कर अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र किया।

इसी प्रकार का कथन सूत्र ११ एवं १५ में भी है। श्री जयधवला—कषायपाहुड गाथा ४२ शंका २९० पन्ना २५३।

समाधान—जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीनों कारणो को करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और इस प्रकार जिसने अनन्त संसार को छेदकर संसार के रहने के काल को अर्ध पुद्गल परिवर्तन प्रमाण किया।

यह कथन युक्तियुक्त मालूम होता है। मिथ्यादृष्टि का संसार अनन्त है अर्थात जिसका अन्त नहीं है क्योकि कर्म का उदय आयेगा नया बंध होता जायेगा और फिर उसका उदय आ जायेगा इस प्रकार चलता ही रहेगा। अन्त नहीं होगा। परन्तु जब यह सम्यक्त्व प्राप्त करता है तब सम्यक्त्व प्राप्त करने के प्रथम समय में इसका अन्त पाने—जिसका अन्त नहीं था वह ससार अर्ध पुद्गल परि-वर्तन मात्र रह जाता है। इसलिए हरेक सज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। सम्यक्त्व प्राप्त करना पुरुषार्थ आधीन है।

कुछ रोज पहले पू० आचार्य विद्या सागर जी से भी चर्चा हुई थी उन्होंने भी इसी बात को पुष्ट किया है। विद्वानों और त्यागियों से निवेदन है वे इस बात का विचार करें।

२/१० अन्सारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

एक अप्रकाशित कृति अमरसेन चरिउ

☐ डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम. ए. पी-एच. डी.

प्रस्तुत कृति का सामान्य परिचय अनेकान्त वर्ष ३७ किरण ४ में प्रकाशित किया गया है। ग्रन्थकार और ग्रंथ के प्रेरक का परिचय प्रस्तुत करने के बाद प्रस्तुत लेख में ग्रन्थ की विषयवस्तु का अंकन करना लेखक का ध्येय है।

रचयिता पण्डित माणिक्कराज ने सम्पूर्ण कृति में मुनि अमरसेन का जीवनवृत्त अकित किया है। उन्होने इसे सात परिच्छेदों में विभाजित करते हुए प्रथम परिच्छेद के आदि मे चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करके उनकी वाणी हृदयङ्गम करते हुए गौतम गणधर तथा उनकी परम्परा में हुए मुनियो की स्तुति पूर्वक अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। अनन्तर ग्रन्थ के प्रेरक चौधरी देवराज के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। दुर्जन और सज्जनों के स्वभाव का अकन करने के बाद मूल कथा आरम्भ हुयी है।

राजा श्रेणिक महावीर के समवशरण में जाकर गौतम गणधर से ग्वाल-बाल का भवान्तर पूछते है। उत्तर मे अमरसेन वइरसेन युगल भाइयो के पूर्वभव का अकन इस परिच्छेद की विषय-वस्तु है। ये दोनो भाई पूर्वभव मे भरतक्षेत्र मे ऋषभपुर नगर के निवासी अभयकर सेठ के धण्णंकर पुण्णकर नामक कर्मचारी थे। ससार से उदासीन होकर उन्होने ब्रह्मचर्य धारण कर लिया था। उनके धार्मिक स्नेह को देखकर सेठ अभयकर उन्हे स्नान कराकर जिन मन्दिर ले जाता है। पूजा के लिए वह सेठ अपनी द्रव्य इन दोनो भाइयो को देता है किन्तु वे द्रव्य नहीं लेते। मुनिराज के समझाने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हैं। उनके पास पाँच कौडियां थी जिनसे पूजन सामग्री लेकर वे भाव पूर्वक जिनेन्द्र की अभिषेक पूर्वक पूजा करते हैं।

घर आने पर सेठानी उन्हें सरस स्वादिष्ट भोजन परोसती है। दोनों भाई आहार आहारदान में देने की इच्छा से मुनियों का स्मरण करते हैं। अपने पुण्य योग से चारण मुनियों का आगमन देख वे हर्षित हुए, उन्होंने आहार दिया। मुनि आहार लेकर अपने यथेष्ट स्थान की ओर गमन कर जाते हैं।

द्वितीय परिच्छेद

चारण मुनियों के आहार लेकर चले जाने के पश्चात् सेठ अभयकर दोनों भाइयों से भोजन के लिए निवेदन करता है किन्तु दोनों भाई चतुर्विध आहार का त्याग कर देते हैं। सेठ प्रीतिभोज में सम्मिलित होने के लिए आग्रह करता हैं किन्तु दोनों भाई स्वीकृति नही देते। अन्त में निराहार रहते हुए नमस्कार मंत्र जपते-जपते समाधिपूर्वक शरीर त्याग सनत्कुमार स्वर्ग मे देव हुये।

वहां से चयकर दोनों भाई जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र के कलिंग देश मे विद्यमान दलवट्टण नामक नगर के राजा सूरसेन और रानी विजयादेवी के अमरसेन वइरसेन नामक युगल पुत्र हुए। हस्तिनापुर का राजा सूरसेन का मित्र था। अमरसेन वइरसेन हस्तिनापुर मे ही जनमें और युवा हुए। हस्तिनापुर का राजा देवदत्त सूरसेन नृप के निकट जाता है इधर अमरसेन वइरसेन के सौन्दर्य को देखकर राजा देवदत्त की रानी देवश्री सूरसेन के पुत्रो पर मुग्ध हो जाती है। वह अमरसेन वइरसेन से अपना मनोरथ भी प्रकट करती है किन्तु सफलता न मिलने पर अपने शील भंग करने का आरोप लगाकर राजा देवदत्त से उन्हें मार डालने का आदेश करा देती है।

चाण्डाल कुमारों को बचा लेते है। वे कुमारों को ऐसे स्थान में चले जाने के लिए कहते हैं जहाँ राजा देवदत्त न पहुंच सके। कुमार चले जाते हैं। इधर चांडाल दो कृत्रिम नरमुण्ड राजा को देकर कुमारों के मारे जाने की सूचना द देते हैं।

अमरसेन वइरसेन दोनों भाई जंगल में थककर एक

वृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं। वृक्ष का निवासी यक्ष दम्पत्ति मुग्ध होकर इनकी सहायता करते हैं। यक्ष लाकर इन्हें दो आम्र फल लाकर नीचे गिराता है जिनमे बडा फल सात दिन में राज्य प्राप्त कराने वाला था और छोटा फल भक्षक को नित्य पांच सौ रत्नदायी। फलों के रहस्य को ज्ञातकर छोटा फल वइरसेन विधिपूर्वक खाकर पाँच सौ रत्न प्राप्त करने लगता है और बडा फल अमरसेन को देकर उसके रहस्य की प्रतीक्षा करता है।

तृतीय परिच्छेद

वइरसेन भाई अमरसेन से भोजन सामग्री लाने के लिए 'कंचनपुर जाता हू" कहकर चला जाता है। इधर कचनपुर नरेश का मरण हो जाने तथा योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में "हाथी जिसका अभिषेक करे वही नगर का नृप ह' इस निश्चय से हाथी नगर मे घुमाया जाता है। वह वन मे जाकर सोये हुए अमरसेन का अभिषेक करता है। अमरसेन कचनपुर के राजा घोषित होते हैं। उधर वइरसेन कंचनपुर जाकर एक वेश्या के चक्कर में पड जाता है। वह अमरसेन के पास लौट नही पाता। अमरसेन बहुत खोज कराते हैं किन्तु प्रच्छन्न वेश मे रहने से वे इसे खोज नहीं पाते।

वेश्या लोभाकृष्ट होकर वइरसेन का धन ले लेना चाहती है। वह वइरसेन से उसकी धन प्राप्ति का रहस्य ज्ञातकर और उससे आम्रफल लेकर घर से हाथ पकडकर निकाल देती है। वइरसेन बार-बार मुंह धोता, कुल्ले करता किन्तु रत्न नही गिरते। वह हताश होकर सोचता है कि स्त्रियों को गुप्त भेद प्रकट न करे। उसे चारुदत्त, यशोधर मुनि, गोपवती, रक्तादेवी आदि के इस सम्बन्ध में उदाहरण याद आते हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

वइरसेन नगर के बाहर एक मन्दिर मे आता है। दैवयोग से उसी मन्दिर मे चार चोर किसी योगी की साधना से प्राप्त कथरी, लाठी और पांवड़ी तीन वस्तुए चुराकर आते हैं। वस्तुओ के बटवारे को लेकर झगडते हुए उन चोरों से वइरसेन झगडे का कारण पूछता है तथा चोरों से तीनों वस्तुओं के गुण ज्ञात कर बटवारे का आश्वासन देकर जैसे ही वस्तुएँ हाथ में लेता है कि पाँवड़ी पैर मे पहिन वह कंचनपुर आ जाता है, चोर हाथ मलते रह जाते हैं।

वइरसेन की वेश्या से पुनः भेंट हो जाती है। वेश्या इसकी पाँवडी लेना चाहती है। वह इसे ठगने के लिए छलपूर्वक मन्मथ मन्दिर के दर्शन कराने के लिए आग्रह करती है। वइरसेन जैसे ही वेश्या को लेकर वहां जाता है कि वेश्या इसे मन्दिर में छोड पाँवडी पहिन कर कंचनपुर आ जाती है। मन्दिर में उसी समय एक देव दर्शनार्थ आता है। वइरसेन की व्यथा सुनकर वह उसे पन्द्रह दिन बाद पुनः आकर यथा स्थान ले जाने का वचन देता है। जाते समय पश्चिम की ओर गमन न करने के लिए कह कर चला जाता है। वइरसेन उत्सुकता वश उस ओर जाता है। एक वृक्ष के फूल को सूघते ही वह गधा बन जाता है। देव यथा समय आकर और इसे मनुष्य का रूप देकर चलने के लिए आग्रह करता है किन्तु यह देव को पाँच दिन बाद पुनः आने के लिए निवेदन करता है। देव स्वीकृति प्रदान कर जैसे ही जाता है कि वइरसेन दोनो वृक्षों के फूल पृथक्-पृथक् रख लेता है और पाँच दिन बाद देव के आने पर उसकी सहायता से कंचनपुर आ जाता है।

वेश्या इसे देखकर कृत्रिम पश्चाताप प्रकट करती है। वइरसेन वेश्या को छलने की दृष्टि से अपने लाये हुए फूल के सम्बन्ध मे वेश्या से कहता है कि जो इन्हे सूंघता है वह युवा हो जाता है। वेश्या इन फूलो को सूघने की इच्छा प्रकट करती है और वइरसेन जैसे ही उसे फूल सुंघाता है कि वेश्या गधी बन जाती है। वइरसेन अपने साथ किए गए कपट व्यवहार का प्रतिफल देने की दृष्टि से उसे मार मार कर नगर मे घुमाता है। वेश्य के कुटुम्बी विरोध करते हैं किन्तु उनकी एक नहीं चलती। वे हताश होकर राजा से निवेदन करते है। राजा अपनी सेना भेजता है किन्तु लाठी के प्रहार से यह सेना को भी पराजित कर देता है। अन्त मे राजा स्वय आक्रमण करता है। वह जैसे ही वइरसेन को देखता है कि उसे हृदय से लगा लेता है। वइरसेन भी बड़े भाई अमरसेन से मिलकर प्रसन्न हो जाता है।

पञ्चम परिच्छेद

अमरसेन कुशलता पूछने के बाद वइरसेन से वेश्या के गधी बनाए जाने का कारण पूछते हैं। वइरसेन उत्तर देते हुए कहता है कि इस वेश्या ने मुझे छला है। कपट पूर्वक इसने मेरा आम्रफल तथा पाँवड़ी ली है। अमरसेन वइरसेन से ऐसा ज्ञात कर वेश्या से अपनी वस्तुयें लेने और उसे मनुष्य रूप देने के लिए कहता है। वइरसेन गधी को वेश्या बनाकर अपनी वस्तुयें ले लेता है। वइरसेन को युवराज पद दिया गया। अमरसेन वइरसेन दोनों भाई एक दिन चारण युगल मुनियों को आहार कराते है। आहार कराते हुए उन्हें अपने पूर्वभव का स्मरण होता है। उन्हें याद आता है कि पूर्वभव मे वे धण्णकर पुण्णकर नाम के कर्मचारी थे, उन्होने मुनियों को आहार कराकर उनसे धर्मोपदेश सुना था। इस भव मे मुनि से अपने पूर्वभव तथा सौतेली माँ के दोषारोपण सम्बन्धी कारण ज्ञात कर दोनों भाई नगर में आते हैं। यहा आकर उन्होने चतुर्विध दान दिया; कुआं, बावली, सरोवर तथा मन्दिर निर्मित कराये। आचार्य देवसेन से दोनों दीक्षित हुए। बारह प्रकार का तप करते हुए वे विहार करते है। राजा देवसेन और रानी देवश्री इन दोनों अमरसेन वइरसेन मुनियों के दर्शनार्थ आते है।

अमरसेन राजा देवसेन को सम्यग्दर्शन और उसके प्रथम कारण पूजा का महात्म्य समझाते हुए कहते हैं—कुसुमावलि और कुसुमलता दोनों बहिनें जिनेन्द्र पूजा के लिए पुष्प चयन करते समय सर्प द्वारा काटे जाने से मरकर पूजा के भाव स्वरूप स्वर्ग मे देवाङ्गनायें हुयी। पूजा की अनुमोदना करने से प्रीतिंकर यक्षाधिपति हुआ था तथा कुछ भवों के उपरान्त उसने मोक्ष भी प्राप्त किया।

षष्ठ परिच्छेद

मुनि अमरसेन राजा देवसेन के लिए पूजा के फल से मेंढक के देव होने का वृत्तान्त सुनाते हुए कहते है राजन्! पूर्वभव मे मेंढक राजगृही नगरी का नागदत्त नामक सेठ था। भयदत्ता नाम की उसकी सेठानी थी। नागदत्त आर्तध्यान से मरकर मेंढक हुआ। पूर्व स्नेह के कारण वह भयदत्ता का आँचल पकड़ता है, जहाँ वह जाती उसके आगे आगे उछलता है। भयदत्ता पानी लेने नहीं जाती। एक दिन वह सुव्रत मुनि से मेंढक की इस वृत्ति का कारण पूछती है—"मेंढक तेरा पूर्वभव का पति है, इसीलिए वह तेरे आगे आगे चलता है।" मुनि द्वारा यह रहस्य प्रकट करते ही भयदत्ता का मेंढक के प्रति स्नेह बढ़ जाता है। वह उस मेंढक को वहां से लाकर अपनी बावली में रखती और जिनेन्द्र भाषित दश धर्म की शिक्षा देती है। एक दिन राजा श्रेणिक महावीर के समवसरण-दर्शन के लिए घोषणा कराते हैं। नगरवासियों के साथ सोत्साह यह मेंढक भी मुँह मे कमल की एक पांखुड़ी दबाकर जिनेन्द्र की पूजा के लिए जाता है। मार्ग में संकीर्णता देखकर वह हाथी के नीचे अपनी सुरक्षा समझ कर चलने लगता है कि चलते चलते वह हाथी के पैर तले आकर मर जाता है। मरणकाल में पूजा के शुभ भाव रहने से वह मेंढक मरकर देव हुआ।

अमरसेन मुनि कहते हैं हे राजन! इसी प्रकार कुसुमाञ्जलि व्रत का महात्म्य है। इसकी साधना से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। मदनमञ्जूषा स्वर्ग गयी और चक्रवर्ती रत्नशेखर तथा उसका सेनापति घनवाहन दोनों मुनि व्रत धारण कर तप करते हुए कर्म-विनाशकर मोक्ष गये। रत्नशेखर राजा वज्रसेन और रानी जयावती का पुत्र था। विद्याधर घनवाहन से उसकी प्रीति हो गयी थी। घनवाहन के साथ रत्नशेखर अढ़ाई द्वीप की यात्रा करता है।

सिद्धकूट जिनालय में पूजा करते समय उसे मदनमञ्जूषा नामक कन्या दिखाई दी। मदनमञ्जूषा भी इसे देखकर कामाक्रान्त हुई। वह इसे अपने घर ले जाती है और अपने पिता से अपनी मनोव्यथा प्रकट कर देती है। पिता स्वयंवर रचाते है और स्वयंवर में इसका विवाह रत्नशेखर से कर देते हैं।

घनवाहन के चारणमुनि अमितगति से रत्नशेखर की मदनमञ्जूषा मे हुई प्रीति का कारण जानने की इच्छा व्यक्त करने पर मुनि कहते हैं कि आप तीनों का पूर्वभव से सम्बद्ध है। मंगलावती के राजा जितशत्रु का श्रुतकीर्ति नामक एक पुरोहित था। प्रभावती उसकी पुत्री थी। श्रुतकीर्ति मुनि हो गये थे। प्रभावती की माँ सर्प के काटने से मर गई थी। मोहवश श्रुतकीर्ति अपने पद से च्युत हुए। प्रभावती ने उन्हें सत्पथ पर स्थिर रखने के लिए

बहु प्रयत्न किये। वह विरक्त हो गयी। श्रुतकीर्ति विद्या भेजकर प्रथम तो उसे अपने निकटवर्ती वन में लाया अनन्तर विद्या के द्वारा उसे कैलाश पर्वत पर भिजवाया। वहाँ प्रभावती की देवी पद्मावती से भेंट हुई। पद्मावती ने कुसुमाञ्जलि व्रत की विधि एवं फल का निरूपण करते हुए यह व्रत प्रभावती को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया, अतः व्रत धारण करते हुए मुनि त्रिभुवनचन्द से अपनी आयु तीन दिन मात्र की शेष ज्ञात कर इसने महा-तप भी धारण कर लिया। श्रुतकीर्ति ने विद्या भेजकर इसका तप भंग करना चाहा किन्तु विद्या के अनेक उपसर्ग करने पर भी उसे योग से विचलित न कर सकी। प्रभावती संन्यास पूर्वक देह त्याग अच्युत स्वर्ग में पद्मनाथ नामक देव हुई और स्वर्ग से चयकर रत्नशेखर। प्रभावती का पिता धनवाहन और माता मदनमञ्जूषा हुयी है।

सप्तम परिच्छेद

राजा देवसेन से मुनि अमरसेन कहते हैं—हे राजन्! त्रिलोक मण्डल हाथी की प्रसिद्धि और भवन की सिद्धि में कुसुमाञ्जलि पूजा ही एक हेतु है। केवली देशभूषण ने बताया था कि कई भवपूर्व भरत और त्रिलोकमण्डन हाथी सूर्योदय और चन्द्रोदय नामक सहोदर थे। विशुद्ध तप को त्याग दोनों राज्य संचालन में रत हुए। आर्तध्यान से मर कर स्त्रीपर्याय में भ्रमण करने के बाद चन्द्रोदय गजपुर नगर में कुलंकर नाम से उत्पन्न हुआ और सूर्योदय गजपुर नगर के मंत्री विश्वास का श्रुति नामक पुत्र। दोनों मर-कर तिर्यंच योनि में भ्रमण करने के बाद राजगृही नगरी में एक ब्राह्मण के पुत्र हुए। बड़े का नाम विनोद और छोटे का नाम रमण रखा गया। विनोद और रमण मर-कर मृग हुए। राजा स्वम्भूति इन दोनों हिरणों को शिकारी के पास से ले जाकर जिन मन्दिर के समीप बांध देता है। हिरण भाव पूर्वक जिनेन्द्र की पूजा सुनते हैं। पूजा के भावों के साथ मरकर रमण का जीव हिरण स्वर्ग में देव हुआ और विनोद का जीव तिर्यञ्च योनि में भ्रमण करने के बाद धनद नामक वैश्य हुआ। रमण का जीव स्वर्ग से चयकर इसी वैश्य का भूषण नामक पुत्र हुआ। वन में सर्प के काटने से मरकर भूषण माहेन्द्र स्वर्ग में देव होने के बाद भोगभूमि में उत्पन्न हुआ। भोगभूमि से स्वर्ग गया और स्वर्ग से चयकर चक्रवर्ती अचल का अभिराम नामक पुत्र हुआ। अनन्तर श्रावक के व्रत धारण करते हुए देह त्याग कर ब्रह्मोत्तर स्वर्ग गया। इधर पूर्व-भव सम्बन्धी इसका पिता धनद वैश्य विभिन्न योनियों में भ्रमण करने के बाद पोदनपुर नगर में अग्निमुख ब्राह्मण का मृदुमति नामक पुत्र हुआ।

मृदुमति वेश्या में आसक्त होकर अपना सम्पूर्ण धन का नाश कर देता है। धन के अभाव में दुखी होकर वह चोरी करने लगता है। एक दिन वह राजमहल में चोरी करने गया। रात्रि मे वह राजा की रानी के साथ हो रही बातों को सुनता है। राजा रानी से कह रहा था कि रानी प्रातः होते ही मैं तप ग्रहण करूँगा, रानी कहती है कि मैं भी दीक्षित हो जाऊँगी। संसार में कुछ भी तो सार नहीं है। मृदुमति राजा रानी के विचारों से प्रभावित होकर प्रातः महाव्रत धारण करने का निश्चय कर लेता है तथा प्रातः होते ही तीनों दीक्षित हो गये।

मृदुमति विहार करता हुआ एक ऐसे नगर पहुंचा जहाँ कोई गुणनिधि नामक चारण मुनि विराजमान थे। उनके मासोपवासों से नगर के लोग अधिक प्रभावित थे। गुणनिधि ने योग पूर्ण कर जैसे ही गजपुर के लिए विहार किया कि मृदुमति मुनि उस नगर में आये। चर्या के लिए उनके निकलते ही श्रावकों ने बार बार प्रश्न किया कि क्या आप वही मासोपवासी मुनि हैं? इस प्रश्न का मुनि मृदुमति ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे मौन रहे। उन्होने यथार्थ स्थिति प्रकट नहीं की। इस कपट व्यवहार के कारण मृदुमति मुनि तप के प्रभाव से ब्रह्म स्वर्ग मे उत्पन्न तो हुए किन्तु वहाँ से चयकर त्रिलोकमण्डन हाथी हुए हैं तथा अभिराम का जीव स्वर्ग से चयकर भरत हुआ है।

इस प्रकार अपना भवान्तर सुनकर भरत ने दीक्षा ग्रहण की, कैकेयी ने तप धारण किया, राम ने अणुव्रत धारण कर त्रिलोकमण्डन को भी धारण कराए। इसी कुसुमाञ्जलि पूजा के फलस्वरूप ग्वाल करकण्डु नामक राजा हुआ।

(शेष पृ० १३ पर)

क्या मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है

☐ डा० कुसुम पटोरिया

मूलाचार दिगम्बर परम्परा में मान्य मुनि-आचार का प्रतिपादक ग्रन्थ है। धवलाकार आचार्य वीरसेन, ने इसका आचारांग के नाम से उल्लेख किया है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि मुनि ने अपनी वृत्ति मे इसे वट्टकेर/वट्टकेरि प्रणीत बताया है, परन्तु मूलाचार की कुछ हस्त-लिखित प्रतियो मे इसे कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत कहा गया है, जिससे वट्टकेरि और कुन्दकुन्द को एक मानकर कुछ विद्वानों ने इसे आचार्य कुन्दकुन्दप्रणीत माना था।[1] प्रारम्भ मे पण्डित परमानद शास्त्री ने इसे सग्रह ग्रंथ माना था,[2] पर बाद में इसे मौलिक ग्रन्थ स्वीकार किया है।[3]

यद्यपि यह सत्य है कि मूलाचार और आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं मे अनेक गाथाएं समान है, उदाहरण के लिए मूलाचार का द्वादशानुप्रेक्षाधिकार तथा आचार्य कुंदकुंद की द्वादशानुप्रेक्षा को देखा जा सकता है, परन्तु ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ अनेक स्थलो पर आचार्य कुन्दकुन्द की विचारधारा से मेल नही खाता।

वस्तुतः यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा का है। यद्यपि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने 'वट्टकेरि का मूलाचार' निबन्ध में इस पर सप्रमाण ऊहापोह किया है, परन्तु फिर भी विद्वान् मूलाचार नाम ही इसे मूलसघ का ग्रन्थ मानते हैं। पं० परमानद जी शास्त्री ने 'वट्टकेराचार्य और मूलाचार' निबन्ध में यही प्रतिपादित किया है।[4]

अतः क्या मूलाचार यापनीय ग्रन्थ है, इस पर पुनः विमर्श आवश्यक है।

दशस्थितिकल्प :

मूलाचार मे मुनियों के दशस्थिति कल्प की प्रतिपादक गाथा निबद्ध है।[5] यह गाथा भगवती आराधना (४२१), जीतकल्पभाष्य (गा० १९७२) तथा अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थो में मिलती है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के स्त्रीमुक्तिविचारप्रकरण में इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्तके रूप मे ही किया है।[6]

ये दश श्रमणकल्प है आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्याधरपिंडत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, पुरुषज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषण। इनमें से शय्याधरपिण्ड तथा राजपिण्ड त्याग का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में कहीं प्राप्त नहीं होता। शय्याधर का अर्थ है वसतिका बनवाने सुधरवाने या देने वाला। इस शय्याधर के पिण्ड का त्याग मुनि के लिए आवश्यक कल्प (नियम) है। परन्तु पं० सदासुख जी भगवती-आराधना पर अपनी वचनिका में इसका अर्थ 'स्त्री-पुरुषो के क्रीडा का स्थान' करते हैं, इसका कारण दिगम्बर परम्परा में दशस्थिति कल्प का उल्लेख नहीं है।

ये दोनो उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द की विचारधारा के प्रतिकूल हैं, क्योकि उन्होने बोधपाहुड (गाथा ४८) मे स्पष्ट रूप से कहा है—

उत्तममज्झमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पवज्जा एरिसा भणिया ॥

अर्थात् उत्तम और मध्यम घरो मे दरिद्र अथवा ऐश्वर्यशाली के घर सर्वत्र समान भाव से अन्न ग्रहण करना चाहिए। इस स्थिति में पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का यह कथन 'कि दस कल्प तो दिगम्बर परम्परा के प्रतिकूल नहीं, किन्तु अनुकूल ही है,'[7] उचित नहीं है।

आहार और औषधि से मुनि द्वारा मुनि की वैयावृत्ति :

मुनि द्वारा मुनि के वैयावृत्य का वर्णन करते हुए कहा गया है—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गिदे।
आहारोसहवायणविकिचणुव्वत्तणदीसु ॥ (गाथा ३९१)

अर्थात् शय्या, स्थान, आसन, उपधि, प्रतिलेखन, आहार, औषधि वाचन, उठाना-बैठाना आदि क्रियाओं में वैयावृत्य करना चाहिए।

अन्यत्र समाचार अधिकार में 'अच्छे वेज्जावच्चं' आदि १७४वीं गाथा की टीका में आचार्य वसुनन्दि ने वैयावृत्ति का अर्थ शारीरिक प्रवृत्ति और आहारादि से उपकार करना लिखा है—'वेज्जावच्चं—वैयावृत्यं कायिकव्यापाराहारादिनिरुपग्रहणम्।'

समाचाराधिकार में ही अन्यत्र भी कहा गया है—

सुहदुक्खे उवयारो वसही आहारभेसजादीहिं
तुम्हं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ॥ ४।२१

अर्थात् सुख और दुःख में वसति, आहार और भेषज आदि द्वारा उपकार करना तथा मैं आपका हूं, इस प्रकार के वचन सुखदुःख में उपसंपत् हैं।

यह विचारधारा आचार्य कुन्कुन्द की विचारधारा के विपरीत है। प्रवचनसार में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०

अर्थात् यदि वैयावृत्य करने में उद्यम श्रमण काय को खेद पहुंचाकर वैयावृत्य करता है, तो वह श्रमण नही है। काय को क्लेश पहुंचाकर वैयावृत्य करना श्रावकों का धर्म है।

उनके मत से श्रमण दो प्रकार के होते है—शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी। अरहतादि की भक्ति, प्रवचन मे अभियुक्तो के प्रति वात्सल्य, वंदन, नमस्कार, अभ्युत्थान, (गुरुओं के आदर के लिए खड़े होना) अनुगमन आदि मे प्रवृत्ति शुभोपयोगी के लिए निन्दनीय नहीं है। शुभोपयोगी साधु दर्शन-ज्ञान का उपदेश करते है, शिष्यो का संग्रह एवं पोषण करते हैं तथा जिनेन्द्रपूजा का उपदेश देना है। यह चर्या सरागी साधु की है। जो चातुर्वर्ण श्रमणसघ का कायविराधना से रहित होकर उपकार करता है, तो उसका यह आचरण भी राग की प्रधानता से शुभोपयोग है। परन्तु जो काय की विराधना करके वैयावृत्य करता है, वह तो शुभोपयोगी श्रमण का भी आचरण नहीं है, वह तो गृहस्थ का धर्म है।

उपाश्रय में भिक्षा लाकर भोजन न करने के संकेत :

मूलाचार में समाचाराधिकार तथा समयसाराधिकार मे दो बार एक गाथा प्राप्त होती है—

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खवोसरणे ॥

अर्थात् साधुओं का आर्यिकाओं के उपाश्रय में ठहरना युक्त नहीं है। वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार; भिक्षा, व्युत्सर्ग आदि उचित नहीं है।

चौथे अध्याय में इसकी टीका मे आहार और भिक्षा का भेद करते हुए कहा गया है कि आर्यिकाओं का बनाया हुआ भोजन आहार तथा श्रावकों की दी हुई भिक्षा है। आर्याओं के समाचार में उन्हें रोदन, स्नापन, भोजन-पचन आदि षट्विध आरभ तथा साधुओं के पादप्रक्षालन आदि न करने के लिए कहा गया है—

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे
विरदाणं पादमक्खणधोवणगेयं च ण य कुज्जा ॥ ४।६८

आर्यिकाओं का समाचार :

आर्यिकाओ के लिए भी वही यथाख्यात समाचार बताया गया है, जो मुनियो के लिए है। वे मुनि और आर्यिका को एक श्रेणी मे रखते हैं, उनके व्रतो को उपचार से महाव्रत नही मानते। आगे स्पष्ट कहा है—

एव विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥ ४।१७१

अर्थात् इस प्रकार आचरण करने वाले साधु व आर्या दोनों जगत्पूज्य होकर कीर्ति व सुख प्राप्त करके सिद्ध होते है।

स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख दिगम्बर परम्परा बिलकुल प्रतिकूल है, फिर भी इसे मूलसंघ के आचार्य की कृति मानना दुराग्रह ही कहा जाएगा।

तीर्थङ्करों के धर्म में अन्तर का उल्लेख :

मूलाचार में कहा गया है कि—

बावीसं तित्थयरा सामाइयसंयमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥

अर्थात् बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश

दिया है, भगवान वृषभ तथा वीर ने छेदोपस्थापना का।

इनके धर्म में दूसरा अन्तर यह है कि वृषभ व वीर के धर्म प्रतिक्रमण सहित है, जबकि मध्यम तीर्थंकरों के काल में अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता था।

सपडकम्मो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमण मज्झिमयाण जिणवराण ॥ ६।१२९

यह अन्तर आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे या उनकी परम्परा में कही नहीं कहा गया।

ये दोनो गाथाएं भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्ति मे हैं।

अशुचित्व के स्थान पर अशुभत्व अनुप्रेक्षा का कथन :

यद्यपि संग्रह-गाथा मे अशुचित्व का नामोल्लेख है (८।२) पर वर्णन करते समय सर्वत्र अशुभ की चर्चा है। संभवता संग्रह गाथा में भी असुहत्तं ही होगा, क्योकि इसकी संस्कृत छाया मे अशुभत्वम् ही है। टीका मे भी मूल शब्द अशुभत्व ही मानकर उसका अर्थ अशुचित्व किया गया है। अन्यत्र जहां अशुभ अनुप्रेक्षा के वर्णन में पांच गाथाओं में अशुभ शब्द का ही प्रयोग है।

दश अनगार भावना :

अनगारभावनाधिकार नामक नवमे अधिकार मे साधुओं की दश भावनाओं का वर्णन है। ये दस भावनाएं हैं लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान उज्झन, वाक्य, तप और ध्यान की शुद्धि। उज्झनशुद्धि का अर्थ है शरीर से ममत्व का त्याग। इन अनगारभावनाओ अथवा अनगार-सूत्रों का उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में भी मिलता है। वहां इस ३५वें अध्ययन का नाम अनगारमार्गगति है।

समयसाराधिकार :

मूलाचार के एक अध्याय का नाम समयसार अधिकार है। इसमें भी साधुओं के मूलगुण, उत्तरगुण रत्नत्रय तथा भिक्षा आदि की शुद्धि का ही वर्णन है। कहा गया है वैराग्य पर साधु थोड़े से शास्त्रज्ञान से ही सिद्ध हो जाता है। उसके लिए उपदेश है—

भिक्खं चर, वस रण्णे, थोव जेमेहि मा बहू जंप।
दुख सह, जिण णिद्दा मेत्ति भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥ १०१४

ज्ञान, ध्यान, केशलोच, व्युत्सृष्टशरीरता, प्रतिलेखन, दशस्थितिकल्प, मूलगुणों का पालन करना चाहिए। यात्रा-साधनमात्र आहारग्रहण करना चाहिए। गिरिकदरा आदि में निवास करना चाहिए। आर्यिकाओं के उपाश्रय में अनावश्यक नही जाना चाहिए। सगतित्याग करना चाहिए। इस प्रकार इस अधिकार मे पुनरुक्तियां हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार से इसका विषय भिन्न है।

प्रवर्तक और स्थविर पदों के उल्लेख :

मूलाचार मे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणधर ये पांच पद बताए गये है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य व उपाध्याय इन दो पदो का ही उल्लेख एवं विवरण मिलता है। तीर्थङ्करों के बचनों को गुम्फित करने वाले उनके साक्षात् शिष्य गणधर कहे गये है।

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पञ्च आधारा।
आइरियउवज्झायापवत्तथेरा गणधरा य ॥ ४।३१

यापनीय सकलित आगम को मानते है तथा स्त्रीमुक्ति के समर्थक है। उपर्युक्त उल्लेखो से उनके श्वेताम्बर आगमों का समर्थन प्रमाणित होता है साथ ही स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख है। अत: मूलाचार यापनीय ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। लोग शोध करें कि वास्तविकता क्या है ?

आजाद चौक सदर नागपुर

सन्दर्भ-सूची

१. अनेकांत वर्ष १२ किरण ११ मे प्रकाशित निबन्ध 'मूलाचार की मौलिकता और उसके रचयिता,' प० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री।
२. अनेकात वर्ष २ किरण ५ मे प्रकाशित 'मूलाचार संग्रह ग्रंथ है' निबन्ध।
३. अनेकांत वर्ष १२ किरण ११मे प्रकाशित निबन्ध— 'मूलाचार संग्रह ग्रंथ न होकर आचारांग के रूप ५ मौलिक ग्रन्थ है।'
४. जैन साहित्य और इतिहास द्वितीय संस्करण ५, वीर निर्वाण स्मारिका, जयपुर १९७५
५. मूलाचार गाथा ९०९
६. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० १३१
७. भगवती आराधना भाग १ जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर १९७८ प्रस्तावना पृ० ३५

जैन समाज किधर जा रहा है?

☐ श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ

इन दिनों हमारे पास कुछ ऐसे पत्र, पेम्फलेट पर्चे आये हैं जिनमें जैन समाज की पतनोन्मुख अधोदशा का चित्रण है। राजस्थान व मध्य प्रदेश आदि में गत दिनों घटित कुछ घटनाओं को पढ़कर/सुनकर हमें अत्यधिक आश्चर्य, दुख और साथ ही लज्जा का अनुभव हो रहा है कि जैन समाज आज किधर जा रहा है। हम नही चाहते कि उन पर्चों/पत्रों को प्रकाशित किया जावे जिनसे समाज की हंसी उड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

धर्म क्या है---इसे लोग समझते नही सिद्धान्तानुकूल हमारी चर्या नहीं रही। समाज का नेतृत्व पूजीपतियो और व्रतियों के हाथो मे है-विद्वानो के हाथो में नही। पैसा व्रतियों को भी अपनी और आकर्षित कर रहा है। धनिक चाहते है कि व्रती उनका पोषण करे-उनकी यथेच्छ प्रवृत्ति को समर्थन दें। धर्म भीरू जैन समाज अन्दर ही अन्दर दुखी है आज के वातावरण से। बीसो व्यक्तियो से चर्चा वार्ता हुई वे धर्म विरुद्ध कार्यों को देखकर कहते है कि यह क्या हो रहा है। कभी जैन समाज मे ऐसा नही हुआ-पर उनमें हिम्मत नहीं, साहस नही खुलकर कहने की। उपगूहन और स्थितिकरण अग का ही सहारा पकड़े बैठे है। किन्हीं अंशों में बात सही भी है-क्योंकि जांघ उघाड़ने मे-आखिर अपनी ही तो बदनामी है। क्या चित्र होगा-इतर समाज के सामने। लेकिन बार-बार ऐसी बाते ही सामने आती हैं जिसका आपरेशन यदि नहीं हुआ तो क्या जैनत्व रह सकेगा? भगवान आदिनाथ से लेकर भ० महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने कभी धार्मिक शिथिलता के आगे सिर नहीं झुकाया। बुद्ध ने परिस्थितियों वश दया करुणा के भाव से समय-समय पर सचस्थ व्रतियों की बात पर ध्यान दिया। संघ मे कइयों ने चाहा कि भन्ते! भूख-प्यास सर्दी गर्मी सही नहीं जाती-कुछ उपाय बताइये। बुद्ध को वल्कल के उपयोग की आज्ञा देनी पड़ी। जहां भगवान बुद्ध पैदा हुए उनका धर्म फैला। पर वहां आज कितने हैं बुद्ध के अनुयायी और क्या है उनका धर्म। चीन जापान में बुद्ध हैं-क्या शाकाहारी हैं? मछली मांस का उपयोग वहाँ धडल्ले के साथ होता है। कहाँ रही बुद्ध की अहिंसा? उनकी दया और करुणा ने कितना चोपट कर दिया अहिंसा सिद्धान्त को। दूसरी ओर हम देखते हैं ऋषभादि महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों और उनके गणधरो, आचार्यों के उपदेश और सिद्धान्त आज भी अविच्छिन्न रूप से चले आ रहे हैं-क्यों? इसलिए कि धर्म के प्रति आस्था विश्वास और उनके पालन के प्रति कट्टरता रही-वहाँ परिस्थितिवश भी शैथिल्य नही आने दिया। इतरलोगो के द्वारा आघात सहे-पर धर्म से नही डिगे। धर्म के नाम पर ३६३ पाखंड मत भले ही बन गये हो पर जैन बड़े कट्टर थे अपने नियमों/सिद्धांतों के पालन मे। यही कारण रहा कि जैनत्व रहा। समय-समय पर परिस्थितियाँ विकट हुईं-पर ऐसे महा मानव भी पैदा हुए जिनने धर्म को दृढ़ता पूर्वक पालने में ही योगदान किया-परवर्ती आचार्यों विद्वानों ने शैथिल्य का विरोध किया १०वी ग्यारहवीं शताब्दी तक और उसके बाद भी जैनाचार्य होते रहे हैं- जिनने धर्मत्व को समझाया। पं० आशाधरजी आदि मनीषी, तत्पश्चात् कवि बनारसी दास, प० टोडरमलजी, जयचंद जी, सदासुख जी आदि अनेक विद्वान् हुए जो महावीर के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते रहे। ४०-५० वर्ष पहले भी होने वाले पं० गोपालदासजी वरेया, प० जीवन्धरजी, पं० माणिकचंद जी न्यायाचार्य, वर्णी गणेशप्रसादजी, पं० देवकीनन्दजी, पं० रमानाथजी, पं० चेनसुखदासजी आदि कई विद्वान् उसी परंपरा के हुए जिनने निर्भीक होकर जैनत्व को समझाया, प्रचार किया। आज भी पं० बंशीधरजी बीना, पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, पं० फूलचन्दजी, पं० जगन्मोहनलालजी आदि विद्वान् हैं पर वृद्ध होचले हैं। कई तो रुग्ण

(शेष पृ० ११ पर)

श्वेताम्बर तेरा-पंथ द्वारा दिगम्बर समाज पर खुला-प्रहार

□ ले० श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

अभी हमने एक पुस्तक देखी **'बाल कहानियां'**। इसमें इतिहास से और आगमिक तथ्यों से हटकर दिगम्बर-मत के विषय में बहुत कुछ ऊल-जलूल मनमाने ढंग से लिखा गया है। पुस्तक आदर्श साहित्य संघ से प्रकाशित और अणुव्रत-विहार नई दिल्ली से प्राप्य है और इसके लेखक हैं—मुनि श्री कन्हैयालाल, तेरापंथी श्वेताम्बर आचार्य तुलसी के शिष्य।

पुस्तक के आलेखों में पृ० ४६० पर एक शीर्षक **'दिगम्बरमत'** के नाम से छपा है। यह आलेख जैन एकता का ढोल पीटने वाले आ० तुलसी एवं उनके तेरापथ द्वारा महान् दिगम्बर परम्परा पर खुला प्रहार ही है। यह पुस्तक बताती है कि आ० तुलसी जी अपने भक्तो मे दिगम्बर मुनि और दिगम्बर मत के प्रति किस प्रकार घृणा का भाव भर रहे हैं ? उन्होंने अबोध बालको तक में वैमनस्य के बीजारोपण करने को भी नहीं बख्शा। जबकि श्वेताम्बर परम्परा स्वयं मानती है कि भगवान ऋषभदेव तथा भगवान महावीर दिगम्बर थे।

हम श्वेताम्बराचार्यों के ग्रन्थो से दिगम्बरत्व की प्राचीनता सिद्ध करें इससे पहिले पाठकों को उस प्रसग से अवगत करा दें जो उस पुस्तक में छपा है। पाठक उतने मात्र से ही समझ जाएगे कि तेरापथी श्वेताम्बर-साधु किस प्रकार फूट के बीज बोने में लगे हैं—रसगुल्लों के नाम पर विष दे रहे हैं।

पुस्तक का अंश इस भांति है—

दिगम्बर मत

भगवान महावीर के ६०६ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, ऐसी मान्यता है। एक बुटकना नाम का साधु था। वह गुरु से बढ़कर भी अपने आपको विशेष ज्ञानी समझता था। अहम् के उच्च शिखर पर चढ़ा हुआ वह सबको निम्न समझता था। उसके पास बहुत ही मूल्यवान एक पछेवड़ी थी, उस पर ममत्व होने के कारण उसे वह अन्दर ही अन्दर रखता था, कभी भी काम में नहीं लेता था। कई वर्ष व्यतीत हो गए। ममत्व की भावना दिनों-दिन बढती ही गई।

एक दिन वह गोचरी गया हुआ था गुरु ने सोचा—क्या करना चाहिए यह चेला पछेवड़ी को काम में नहीं लेता है। ममत्व रखता है। आखिर गहराई से चिंतन कर गुरु ने उस पछेवड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर सन्तो को दे दिए। वह गोचरी से वापिस आया। पता लगते ही उसके हृदय में क्रोध की चिनगारियां उछलने लगीं। गुरु के प्रति द्वेष उबलने लगा। सोचा—कपड़ा रखने वाले मुनि अपनी साधना में कभी भी सफल नही हो सकते। क्योंकि वस्त्रों पर ममत्व (मूर्छा भाव) आये बगैर नहीं रहता। अतः इस संघ में रहना उचित नही है। अलग होकर वस्त्रों का परिहार कर साधना करना श्रेयस्कर है।

चिन्तन क्रियान्वित हुआ। कपड़ो का परित्याग कर नग्न हुआ। संघ से अलग होकर साधना करने लगा। उस मुनि ने अपनी बहिन 'पालका' को भी नग्न होने के लिए प्रेरित किया। वन्धव मुनि के सकेत को वह कैसे टाल सकती थी ? उसने कपड़ो का परित्याग किया; वह नग्न बनी। लोगो मे अपवाद होने लगा। मुख-मुख पर निन्दा। जैन-समाज की निन्दा। घृणा।

अपरिमित अपवाद सुनकर मुनिवर ने चिन्तन कर अपनी बहन को लाल कपड़े पहना दिए। बाई जी के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। स्त्री कपड़े पहने बिना रह नहीं सकती, इस पुष्टि से स्त्री को मोक्ष नहीं, यह बात वायु की भांति सर्वत्र फैल गई। शास्त्रों का नया निर्माण हुआ। वस्त्र रखने वाले को मोक्ष नहीं मिल सकता। ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार होने लगा लोग इन साधुओं को दिगम्बर कहकर पुकारने लगे। आगे जाकर धीरे-धीरे वहां से दिगम्बर मत के नाम से प्रचारित हो गया।

एक बुटकने साधु ने, किया वस्त्र परिहार।
चला दिगम्बर मत तदा, उस दिन से साकार ॥"

—उक्त मनगढन्त कहानी गढ़कर लेखक ने दिगम्बरत्व पर घृणित प्रहार किया है जो सर्वथा निन्द्य है। हम श्वेताम्बर ग्रन्थों के कुछ उद्धरण दे रहे हैं जिनसे दिगम्बरत्व के सदाकाल अस्तित्व की पुष्टि होती है। तथाहि —

समणे भगव महावीरे संवत्सरं साहिय मास चीवरधारी होत्था, तेण परं अचेलए पाणि पाडिग्गहिए।'
—कल्पसूत्र, षष्ठक्षण, पृ० १५७

'तदेवं भगवता सवस्त्र धर्म प्ररूपणाय साधिकमासाधिक वर्षं यावद्वस्त्रं स्वीकृत' सपात्रधर्म स्थापनाय च प्रथमां पारणां पात्रेण कृतवान्, तत' पर तु यावज्जीवं अचेलकः पाणिपात्रश्चाभूत।'—वही (सुबोधनी) पृ० १५८

'श्री महावीरदेवः कृपया चीवरार्धं विप्राय अदात्। (सः विप्रः) साधिकमासं वर्षं यात् भगवत पृष्ठमनुगच्छन् दक्षिणवाचालासन्नसुवर्णवालुकानदी तटस्थतरुकण्टके विलग्न देवदूष्यार्धं अग्रहीत्।' —कल्पसूत्र, कल्पलता पृ० १३३

उक्त अशो से स्पष्ट है कि भ० महावीर साधिकमास-वर्ष पर्यन्त चीवरधारी (सचेल) रहे और बाद मे आजीवन अचेल—(निर्वस्त्र) दिगम्बर रहे। उन्होंने आधादेवदूष्य सोमनामा ब्राह्मण को दे दिया और आधा काँटो मे उलझकर रह गया, जिसे ब्राह्मण ने उठा लिया। ऐसे में जब महावीर स्वयं दिगम्बर थे, तब दिगम्बर मत को उनके ६०६ वर्ष बाद से चला बतलाना स्व-वचन बाधित ही है—जैसे कोई पुत्र अपनी माता को वन्ध्या कह रहा हो। ऐसे में सोचना चाहिए कि लोग मनगढन्त कहानियों के आधार पर एक दूसरे पर कब तक कीचड़ उछालते रहेंगे?

श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र ने तो दिगम्बरत्व की खुलकर पुष्टि की है; उन्होंने तो कटि-सूत्र मात्र रखने वाले तक को भी नपुंसक तक कह दिया है। तथाहि —

'कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडियाइ जलमुवणेई।
सो वाहणो य हिंडइ बंधइ कटिपट्टयमकज्जे ॥'—
—सबोध प्रकरण, पृ० १४

—वे केशलोच नही करते, प्रतिमावहन करते शरमाते है शरीर पर का मैल उतारते हैं, पादुकाएँ पहिनकर फिरते हैं और बिना कारण कटिवस्त्र बाधते हैं: वे क्लीव हैं।
—जैन सा० और इति० पृ० ३५०

इतना ही क्यों? श्वेताम्बर तो आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के धर्म को भी अचेलक-दिगम्बर मान रहे हैं। उनमें भी आदि और अन्त के दो तीर्थंकरों को अचेल (दिगम्बर) स्वीकार किया गया है। तथाहि—

'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणो।'
—पंचाशक १२

—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर का धर्म अचेलक (दिगम्बर) था।

अब रही अचेलक शब्द के अर्थ की बात। सो अचेल का अर्थ 'ईषत्वस्त्र' करना, स्वय में अपने को धोखा देना है। यदि कदाचित् 'ईषत्' अर्थ कर भी लिया जाय तो सोचा जाय कि महावीर के पास कौन-सा 'ईषत्' वस्त्र रह गया था? जब कि पूरा देवदूष्य दो भागों में विभक्त होकर ब्राह्मण को चला गया। इसके बाद उन्हें किसी ने कभी वस्त्र दिया हो तो प्रमाण खोजा जाय? अन्यथा यही ठीक समझा जायगा कि—अचेलक का अर्थ सर्वथा निर्वस्त्र-नग्न-दिगम्बर है और महावीर अचेलक निर्वस्त्र, दिगम्बर थे और उनके समय भी दिगम्बर-मत था। जरा, कल्पसूत्र के 'चीवरधारी' शब्द के मुकाबले में उसके विपरीत शब्द 'अचेलक' को भी गहराई से सोचिए कि—क्यों 'अचेलक' की जगह 'चीवर रहित नही कहा गया? जबकि महावीर सर्वथा ही चीवररहित हो गए थे। हमारी दृष्टि तो ऐसी है कि 'अचेलक' शब्द का जानबूझ कर प्रयोग किया गया, जिससे 'अ' को भ्रामक अर्थ—ईषत् में लेकर, भद्रबाहु स्वामी के समय में प्रादुर्भूतश्वेताम्बर मत को पुरातन सिद्ध किया जा सके। सभी जानते हैं कि 'अ' का प्रयोग सदा ही 'नही' 'सर्वथा अभाव' के लिऐ होता आया है। अस्तु,

जो भी हो, हमे समाज में औरों की भाँति, एकता के प्रदर्शन कर, एकता के नाम पर सम्प्रदायों मे काँटे बोना इष्ट नहीं। हम चाहते हैं कोई, कहीं भी, किसी प्रकार कीचड न उछाले—जो जिस मान्यता में है उसी में रहे। हम ऐसी एकता से बाज आए। आचार्य धर्मसागर महाराज ने एक बार कहा था—'दोनों एक तभी हो सकते है जब दोनों नग्न हो जायें या दोनों कपड़े पहिन ले। और ऐसा हो नही सकता।' फलत. सब अपने में बने रहें—कोई शान्ति रूपी अमृत में अशान्ति का विष न घोलें।

गतांक ४०/१ से आगे—

(चिन्तन के लिए)

'सिद्धा ण जीवा'—धवला

□ ले० पद्मचंद्र शास्त्री, नई दिल्ली

गतांकों में हम धवला की उक्त मान्यता की पुष्टि आगम के जिन विभिन्न प्रमाणो और तर्कों द्वारा कर चुके हैं उनमे एक सकेत यह भी है कि सिद्धो मे जीव का लक्षण उपयोग नही पाया जाता। क्योंकि शास्त्रो मे उपयोग के जो विभिन्न लक्षण मिलते है वे सभी लक्षण कर्म की क्षयोपशम दशा में ही उपयोग की सत्ता की पुष्टि मे हैं और आचार्यों का यह कथन युक्तिसगत भी है। क्योंकि उपयोग संसारी आत्मा का लगाव-रूप एक ऐसा परिणाम है जो अपूर्णदर्शन-ज्ञान यानी क्षयोपशम अवस्था मे ही संभव है। यतः—क्षयोपशम अवस्था ज्ञान-दर्शन (चैतन्य परिणाम) की अल्पता की सूचक है और अल्पता ही जिज्ञासा में कारण है और जिज्ञासा ही किसी परिणाम के उत्पन्न होने या परिणाम के परिणामान्तरत्व में कारण है। जिनके घातिया कर्मों का क्षय हो चुका हो, उनमे सर्वज्ञता के कारण समस्त तत्त्वों की त्रिकाली समस्तपर्यायें प्रकट होने से, न तो किसी परिणाम के पैदा होने का प्रसग है और ना ही परिणामांतरत्व का कोई कारण है। मानी हुई और अनुभूत बात है कि कोई भी परिणाम किसी जिज्ञासा (अपूर्णता) के पूर्ण करने के प्रसंग मे ही जन्म लेता है और सिद्धों में पूर्णज्ञान के कारण किसी जिज्ञासा की सभावना नही रह जाती, जिससे उनके उपयोग-परिणाम हो सके। कहा भी है—'संसारिणः प्राधान्येनोपयोगिनः, मुक्तेषु तद्भावात्।'—राजवा० २।१०।४

उपयोग शब्द : अब जरा, उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति पर भी ध्यान दीजिए—उपयोग शब्द उप उपसर्गपूर्वक जोड़ना-जुड़ना अर्थ वाले 'युजिर्योगे' धातु से निष्पन्न है और इसकी व्युत्पत्ति है—'उपयोजनमुपयोगः, उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेद प्रति व्यापार्यंते जीवोऽनेनेत्युपयोगः, कर्मणिघञ्।' अभि० रा० पृ० ८५६, अर्थात् जिस कारण जीव वस्तु के परिच्छेद के प्रति व्यापार करता है, या वस्तु के प्रति जुड़ता है वह उपयोग है।

विचार करें कि क्या अनंतज्ञाता सिद्ध भगवान किसी विषय (वस्तु) के परिच्छेद हेतु वस्तु मे अपने ज्ञान-दर्शन की अभिमुखता, समीपता या जोड़रूपता जैसा कोई व्यापार करते या कर भी सकते है या नही? जब कि समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायें उनके ज्ञान में स्वतः ही स्पष्ट है। ऐसे मे वस्तु परिच्छेद की बात ही पैदा नहीं होती। तत्त्वदृष्टि से भी अनन्त-ज्ञाता सिद्ध भगवान विषय की ओर स्वयं अभिमुख नही होते, अपने ज्ञान को स्वयं उससे नहीं जोड़ते, अपितु पदार्थ स्वय ही उनके दर्पणवत् निर्मल अनतज्ञान में झलकते हैं। ऐसे मे पदार्थों के स्वयमेव ज्ञान में झलकने रूप पदार्थों की प्रक्रिया को, पदार्थों के प्रति सिद्धों का उपयोग, जुड़ाव या लगाव कैसे और क्यों कहा या माना जा सकेगा? अर्थात् नही माना जा सकेगा। फिर जब सिद्धो मे उपयोग—परिणाम की उत्पत्ति मे कारणभूत ज्ञान-दर्शन की न्यूनता—क्षयोपशम जैसी कोई बात ही नही। न्यूनता तो क्षयोपशम अवस्था में ही होती है, और उपयोग, न्यूनता की स्थिति मे ही होता है। फलत.—ऐसा ही सिद्ध होता है कि अनन्त दर्शन-ज्ञानमयी अशरीरी अवस्था मोक्ष में उपयोग को कोई स्थान नही। वास्तव में तो क्षायिक दर्शन और ज्ञान ये दोनों पूर्ण ज्ञान-दर्शन हैं—उपयोग नहीं है।

उपयोग के भेदों मे ससारियों को लक्ष्य कर जो केवलदर्शन और केवलज्ञान को उपयोग कहा है वह भी व्यवहार है और वह अरहंतों मे भी मात्र उनके जीव-संज्ञक होने की दृष्टि से ही है—मोक्ष या सिद्ध दशा की दृष्टि से नहीं है। कहा भी है—'मुक्तेषु तदभावात्' गौणः कल्प्यते—राजवा० २।१०।५—यहाँ मुक्त से अरहंतो का ग्रहण करना चाहिए—वे जीव हैं और जीव के 'संसारिणो-मुक्ताश्च' जैसे भेदों में आते हैं और वे आयु आदि औदयिक प्राणो से जीवित हैं और उनका चेतन, घातिया कर्मों से मुक्त हो चुका है। सिद्ध दशा तो मुक्त होने के बाद,

अशरीरी होने—संसार छूटने के बाद की मोक्ष रूप निर्मल अवस्था मात्र है। कहा भी है—'अवस्थान्तरं मोक्ष इति।'

यद्यपि वास्तव में केवलज्ञानी अरहंतों में भी ज्ञान की अनन्तता होने से उनमें उपयोग को स्थान नहीं—गौण ही कल्पित है—'गौण: कल्प्यते।'—उनके मन भी नही है, फिर भी ज्ञान उनकी दिव्य ध्वनि में कारणभूत है और दिव्यध्वनि ज्ञान का कार्य है इसलिए उनमे उपयोग कल्पित किया जाता है। इस विषय को धवला में शका समाधान-पूर्वक स्पष्ट किया गया है कि दिव्य ध्वनि ज्ञान का कार्य है। वहां उल्लेख है—

'तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति ; चेन्न; तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।'—धवला १।१।१२२ पृ० ३६८

शंका—अरहंत परमेष्ठी मे मन का अभाव होने पर मन के कार्य रूप बचन का सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वचन ज्ञान के कार्य हैं, मन के नहीं।

—केवलज्ञानोपयोग के संबंध में एक बात और है जो उभर कर समक्ष आती है। सर्वार्थसिद्धि हिन्दी टीका मे सिद्धांत-शास्त्री पं० फूलचद जी ने अध्याय १ के सूत्र ९ की टीका में स्पष्ट लिखा है कि 'मूलज्ञान मे कोई भेद नहीं है, पर, आवरण के भेद से वह पांच भागों मे विभक्त है।'—ज्ञानपीठ संस्करण १९५५, पचाध्यायी में इसी बात को स्पष्ट रूप में घोषित किया है—'क्षयोपशमिकज्ञानमुपयोग: स उच्यते।'—२।८८०

पंडित जी जैन सिद्धान्त के ख्यातनामा निष्णात विद्वान् हैं। उनके उक्त कथन से स्पष्ट है और सन्देह की गुंजायश नहीं रह जाती। इसके अनुसार जहां आवरण-भेद होता है, वहीं ज्ञान मे भेदरूप—मतिज्ञानादि व्यवहार होता है और आवरणक्षय की अवस्था में नहीं। एतावता ज्ञानावरणरहित अवस्था—पूर्णज्ञान मे भेदजन्य केवलज्ञानादि जैसा नाम भी क्यों होगा और उक्त नाम के अभाव मे कथित—केवल ज्ञानाश्रित उपयोग भी क्यो होगा? फिर जब सर्वत्र लक्षणों मे उपयोग को क्षयोपशम की निमित्तता ही स्वीकार की गई है तब आवरणक्षयावस्था के ज्ञान—केवलज्ञान की गणना उपयोगों में क्यों होगी? यदि आचार्यों द्वारा कहीं भी उपयोग होने में क्षयोपशम की भांति, आवरण-क्षय के निमित्त होने का मूल—स्पष्ट उल्लेख किया गया हो तो उसे विचार श्रेणी में लाया जा सकता है। फिर हमें मान्य आचार्य अमृतचन्द्र की इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि उन्होंने उपयोग को पर-द्रव्य के संयोग का कारण और आत्मा का अशुद्ध परिणाम बतलाया है, जिसकी सिद्धों मे सभावना नही। तथाहि—'उपयोगो हि आत्मनो पर-द्रव्य सयोगकारणमशुद्ध:।'—प्रव० सा० टीका २।६४, इस भांति उपयोग अशुद्ध और विकारी दशा का सूचक होने से सिद्धों मे नहीं, इसलिए 'सिद्धा ण जीवा' कथन सर्वथा उचित है।

प्राण और चेतना :

हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि प्राण और चेतना का सम-काल अस्तित्व होना जीव तत्त्व का परिचायक है। प्रमाण-दृष्टि से जीव मे सम-काल मे प्राण और चेतना दोनों ही होने चाहिए और हैं। श्री वीरसेनाचार्य साधारण आचार्य नही थे उन्होने वास्तविकता को पहिचानकर ही जीव-संज्ञा में कारणभूत जीवत्व को औदयिक और नश्वर माना और चेतन के शुद्धरूप-सिद्धत्व को जीव संज्ञा से बाह्य रख 'सिद्धा ण जीवा' जैसी घोषणा की।

विचारना यह भी होगा कि प्राण और चेतना इन दोनों में मुख्य कौन है? चेतना के अस्तित्व मे प्राण है या प्राणों के अस्तित्व से चेतना? हमारी दृष्टि से तो आचार्य मान्यतानुसार प्राण कर्माधीन औदयिक और नश्वर भाव है और चेतन स्थायी है। और आचार्य की दृष्टि मे जीवत्व और जीव-संज्ञा औदयिक प्राणों पर आधारित हैं। ऐसे में स्थायी भाव चैतन्य नाम को तिरस्कृत कर औदयिक भाव-जन्य नश्वर जीव-जीवत्व नाम को प्रधानता देना और जीवत्व जैसे औदयिक भाव को चेतन का पारिणामिक भाव कहना, कैसे संभव है यह सोचने की बात है? फलत: आचार्य के कथन 'चेयणगुणमवलम्ब्य परूविदमिदि' के परिप्रेक्ष्य में तो हम 'सिद्धा ण जीवा' के ही पक्ष मे हैं। हमारी बुद्धि में लोगों का यह कथन भी सही नहीं बैठता कि—आचार्य ने 'सिद्धा ण जीवा' कथन जीवत्व के औदयिक भावाश्रितापेक्षा में किया है और पारिणामिकभावापेक्षया जीवत्व का निषेध नहीं किया। क्योंकि यदि उन्हें आत्मा के प्रति

जीवत्व-भाव का कथंचित् भी पारिणामिकपना स्वीकृत होता तो वे 'चेयणगुणमबलम्ब्य' के स्थान पर अवश्य ही 'पारिणामिकभावमलम्ब्यजीवत्वं परूविर्दमिदि' जैसा कथन करते और जीवत्व का ऐसा निरादर न करते। फिर जब—जैसा कि लोग समझ रहे हैं वैसा—यदि आचार्य को जीवत्व में व्याप्त चेतन मे—औदयिक और पारिणामिक दोनों भाव स्वीकार्य होते, तब वे सिद्धों मे जीवत्व के सर्वथा अभाव का स्पष्ट उल्लेख न करते। जब कि एक भांति भी सिद्धो मे जीवत्व होने पर भी उसका सर्वथा निषेध करना न्याय्य नही कहा जा सकता।

मालुम होता है कि वास्तविकता यही है कि—औदयिकभावरूप जीवत्व सिद्धों में है नहीं और आत्म-प्रति पारिणानिक-भाव में जीवत्व को स्थान नही—उसे तो सदा से चेतन ग्रहण किए बैठा है। 'जीवा हि सहज चैतन्यलक्षणपारिणामिकभावेनानादिनिधना।' पंचास्ति० टीका ५३। इसीलिए आचार्य ने नश्वर-औदयिक जीवत्व को सर्वथा तिरस्कृत कर चेदणगुण को प्रधानता दे कथन किया है और दो टूक बात कह दी है—'सिद्धा ण जीवा।' आचार्य ने यह तो कही कहा नही कि हम जीवत्व को कथंचित् पारिणामिक भी मानते है और प्रसंग मे हमने औदयिक भावरूप जीवत्व मात्र का निषेध किया है? इसके विपरीत उन्होंने इस भाव को ही स्पस्ट किया है कि उमास्वामी ने चेतन-गुण के आधार से प्ररूपणा की है। इसमे उनका भाव है कि—जीव में एक काल मे पारिणामिकरूप चेतनत्व और औदयिकरूप जीवत्व दोनो भाव है और उमास्वामी ने चेतन-गुणरूपपारिणामिक भाव को प्रधान-कर प्ररूपणा की है और सर्वथा प्राणाधार पर आश्रित जीवत्व (जो पारिणामिक नही है) को सर्वथा-सर्वथा छोड़ दिया है। वीरसेन स्वामी जी ने इसी भाव में 'पारिणामिक-भावजीवत्वमवम्ब्य परुविदं' न लिख 'चेयणगुणमवलम्ब्य परूविदमिदि' जैसा वाक्य लिखा है और उमास्वामी ने भी 'मोक्षप्राप्त आत्मा मे शेष गुणों मे जीवत्व की जगह 'सिद्धत्व' शब्द दिया है—अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।'

यदि आचार्य को 'जावत्व' कथमपि चेतन के पारिणामिक रूप में स्वीकृत होता तब—जहाँ उन्होने 'सिद्धाणं वि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे' प्रश्न का उत्तर—(मन मे ऐसा भाव रखकर कि—'यदि उपचार से भी सिद्धों में जीवत्व मान लिया जाय तो क्या हानि है?') 'उवयारस्स सच्चत्ताभावादो' रूपकथन द्वारा दिया, वहां वे 'सिद्धाणं वि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे' का सीधा उत्तर 'सव्हा जीवत्तस्साऽभावो ण, पारिणामियजीवत्तं तु तत्थ अत्थि एव' रूप मे भी दे सकते थे। इससे लोगों का यह कथन भी फलित हो जाता कि आचार्य औदयिक और पारिणामिक दो प्रकार का जीवत्व मानते है और वे प्रसंग मे पारिणामिक रूप जीवत्व की सत्ता मान रहे हैं। पर, स्पष्ट ऐसा होता है कि उन्हें सिद्धों में जीवत्व किसी भी भांति स्वीकार्य नहीं और इसीलिए वे सिद्धों मे जीवत्व के उपचार (करने मात्र) का भी निषेध कर रहे हैं—उपचार को ठीक नहीं मान रहे—'उवयारस्स सच्चत्ताभावादो।'—

उक्त तथ्य तब और खुलकर सामने आ जाता है जब आचार्य यह स्पष्ट कह देते हैं कि—'जीविद पुव्वा इदि'—सिद्ध पूर्व मे जीवित थे। क्या, इसका यह स्पष्ट भाव नही कि सिद्ध अवस्था मे वे किसी भांति भी जीवित नही कहे जा सकते—वे सिद्ध होने से पूर्व जीवित थे—उनमें जीवत्व था। यदि वास्तव में आचार्य को (लोगो की धारणा की भांति) सिद्धों में किसी भांति भी जीवत्व स्वीकृत होता तो वे 'जीविदपुव्वा' न कहकर ऐसा ही उल्लेख करते कि वे पहिले औदयिकरूप जीवत्व में जीवित थे और सिद्ध अवस्था में पारिणामिक रूप जीवत्व में जीवित हैं। पर, ऐसा कुछ न कह उन्होंने सिद्धों में जीवत्व का सर्वथा ही निषेध कर इस मान्यता को स्पष्ट रूप में उजागर कर दिया कि—सिद्धो मे जीवत्व किसी भांति भी नहीं है और जीवत्व में पारिणामिकपने का व्यवहार भी ससारावस्था तक कहलाता है और बाद मे उसका स्थान चेतन—का शुद्धरूप 'सिद्धत्व'ले लेता है। फलतः—'सिद्धा ण जीवा'—

उपयोग स्वभाव:—तत्वार्थसूत्र के कर्ता श्री उमास्वामी आचार्य ने जब जीव का लक्षण उपयोग किया तब एक बार फिर उन्होंने अन्य द्रव्यों की स्वाभाविक परिणति किस रूप में होती है इसका भी खुलासा वर्णन किया है और वह परिणति (जिसे उपग्रह नाम से कहा है) हर द्रव्य का अवश्यंभावी स्वभाव है—जीव में भी सदाकाल होनी चाहिए। तथाहि—'गति स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।

आकाशस्यावगाहः। शरीरवाङ्मनः प्राणापानापुद्गलानां। सुखजीवित मरणोपग्रहाश्च। बर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य और परस्परोपग्रहो जीवानाम्।'—

गति मे सहायक होना धर्म द्रव्य का, स्थिति मे सहायक होना अधर्म द्रव्य का, स्थान देना आकाश द्रव्य का, शरीर-वचन-मन-प्राणापान-सुख-दुःख-जीवन-मरण पुद्गल द्रव्य का, वर्तना-परिणमन क्रिया-परत्व-अपरत्व जैसा वर्तन काल का और परस्पर में एक दूसरे का उपकार करना जीव द्रव्य का स्वभाव कार्य है। आशय ऐसा कि उक्त द्रव्यों मे यदि निश्चित अपने-अपने कार्य—(उपकार) रूप परिणमन नही होगे तो वे द्रव्य तन्नामद्रव्य नही कहलाएंगे। ऐसे में सोचना होगा कि सिद्ध भगवान अन्य सिद्ध भगवानो के लिए या अन्य किसी के उपकार के लिए स्वयं क्या करते-कराते हैंअथवा कैसे करते-कराते है? यदि ऐसे किसी उपकार आदान-प्रदान की उनमे सभावना बनती हो तब तो वे जीव हैं—कृतकृत्य और सिद्ध नही और यदि उक्त सभावना नही बनती हो तो वे सिद्ध है—जीव नही।

जीवाश्च का व्याख्यान—एक प्रश्न यह भी उभर कर सामने आता है कि यदि जीव नाम आत्मा (चेतनगुण) की अशुद्ध अवस्था का है और जीवत्व नष्ट हो जाता है तो आचार्य ने 'जीवाश्च' सूत्र क्यों कहा है और जीव की गणना द्रव्यो में क्यो की? क्या द्रव्य का भी कभी लोप होता है?

प्रश्न बड़े मार्के का और तर्क सगत है। हा, द्रव्य का कभी लोप नही होता। यह बात वीरसेन स्वामी के समक्ष भी रही और इस बात को उमास्वामी भी जानते रहे। दोनो ने ही शुद्ध मूल-द्रव्य का लोप नही किया। उमास्वामी ने जीव के चेतनत्व को 'सिद्धत्व' (शुद्ध चेतन) रूप मे स्वीकृत किया—(अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान-दर्शन-**सिद्धत्वेभ्यः**) और वीरसेन स्वामी ने चेतन रूप मे स्वीकृत किया—'चेदणगुणमवलम्ब्यपरूविदमिदि।'—दोनो मान्यताओ मे भेद नहीं है।

ध्यान रहे कि तत्त्वार्थसूत्र और सभी शास्त्र मोक्षमार्ग के अभिलाषी अशुद्धात्माओ (जिन्हे हम जीव कहते है) को बोध देने की दृष्टि से ही रचे गए हैं और उन्ही के सबोधन में हैं। आचार्य ने जब 'अबुधस्यबोधनार्थं' ससारियो की वर्तमान अवस्था जीवपने को लक्ष्य कर उन्हें, उनके विपरीत तत्त्व को समझाने के लिए 'अजीव कायाधर्माधर्माकाशपुद्गलाः' सूत्र रचा, तब उन्हें उक्त निर्दिष्ट अजीव शब्द से विपरीत (उस जोड़ी का) शब्द देना भी जरूरी हो गया और इसीलिए उन्होने 'जीवाश्च' सूत्र की रचना की। और प्रारम्भिक आचार्यों की दृष्टि भी यही रही—सब ही ने अशुद्ध को समझाने के लिए उसी के माध्यम से कथन किया। यदि प्रथम सूत्र में वे 'अचेतनकायाः' जैसा सूत्र कहते तो 'जीवाश्च' की जगह 'चेतनाश्च' भी कह देते। पर चेतन कहते कैसे? और किसको? जब कि उपदेश-पात्र की वर्तमान—अवस्था अशुद्धमात्र हो और उस काल चेतनत्व पर उसकी पकड़ ही न हो। यतः—जब जीव की पकड़ जीवत्व (प्राणधारणत्व) मात्र तक सीमित हो तब वह शुद्धचेतनत्व (स्वभावी दशा) को कहां, कैसे पकड़ सकता था और अशुद्ध चेतन को चेतन जैसे शुद्ध सबोधन से संबोधित भी कैसे किया जा सकता था!

सूत्र में आदि शब्द:—अभी तो हम 'औपशमिकादि भव्यत्वानां च' के भाव को ही नही पकड़ पा रहे हैं। जहां आचार्य ने कर्मक्षय के बाद की आत्मअवस्था का वर्णन करते हुए बतलाया कि उस अवस्था मे औपशमिक आदि भाव भी नही रहते—वहा उनका भाव समस्त पाँचो भावो के अभाव होने से है और इस सूत्र मे 'आदि' शब्द देकर उन्होने स्पष्ट भी कर दिया है। सूत्र मे यह तो कहा नही कि आदि शब्द मे पारिणामिक का ग्रहण छोड़ दिया गया है। 'आदि' शब्द मे तो सभी पाँचो भावों का ग्रहण न्याय्य ठहरता है। फलतः—हमारी दृष्टि से सूत्र मे 'भव्यत्वाना च' का ग्रहण (जैसा कि माना जा रहा दे—) 'पारिणामिक भावो मे से भव्यत्व का नाश होता है और जीवत्व शेष रहता है' यह बताने के लिए नही मालुम होता अपितु वह इस शका के निवारण के लिए मालूम होता है कि कोई यह न समझ ले कि—पारिणामिक भाव होने से भव्यत्व मोक्ष मे रहता होगा। आचार्य का भाव ऐसा रहा है कि भव्यत्व भाव जीव का है शुद्ध आत्मा का नही और वह भाव भी जीवत्व की भांति छूट जाता है। क्यो कि—ये बात उमास्वामी महाराज के ज्ञान से भी अछूती नही थी कि जीवत्वभाव की भांति भव्यत्व भी औदायक है। इस बात को वीरसेन स्वामी ने तो स्पष्ट रूप मे खोलकर सामने ही

रख दिया। वे बलवान आचार्य थे और 'उत्तरोत्तरं बलीयः' की श्रेणी मे भी थे। वे कहते हैं—

'अघाईकम्मचउक्कोदयजणिदमसिद्धत्तं णाम। तं दुविहं तत्थ जेसिमसिद्धत्तमणादि-अपज्जवसिदं ते अभव्वाणाम। जेसिमवरं ते भव्वजीवा। तदो भव्वत्तमभव्वत्तं च विवागपच्चइय चेव'—धवला पुस्तक १४।५।६।१६ पृष्ठ १३

चार अघातिकर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव दो प्रकार का है·········इनमे से जिनके असिद्धभाव अनादि अनन्त है वे अभव्यजीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं। इसलिए भव्यत्व और अभव्यत्व ये भी विपाक (कर्मोदय) प्रत्ययिक ही हैं।

फिर, पारिणामिक भाव को स्वभाव-भाव माने जाने का जो चलन है, वह कर्मापेक्षी न होने के भावमात्र मे है* और अशुद्ध चेतन (जीव) के ही भाव में है—चेतन के सदाकाल रहने वाले (ज्ञानादि की भांति) स्वभाव-भाव में नहीं है। यदि पारिणामिक भाव का भाव सदा काल भावी चेतन का स्वभाव होता तो पारिणामिक होन से भव्यत्व भी कभी नही छूटना चाहिए था जो कि छूट जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि आचार्यों को सिद्धावस्था मे जीवत्व इष्ट होता तो वे 'औपशमिकादि भव्यत्वानां च' सूत्र के स्थान पर 'औपशमिकादयश्च जीवत्व वर्ज्यं' सूत्र जैसा कथन करके वहां जीवत्व के अस्तित्व की स्पष्ट घोषणा करते। पर उन्होने ऐसा कुछ न कह कर सूत्र मे 'आदि' शब्द से सभी भावो के अस्तित्व का निषेध ही किया है और जीव के पारिणामिकभाव भव्यत्व का भी निषेध (भ्रमनिवरणार्थ ही—जैसा हम ऊपर लिख चुके है) किया है। ऐसी स्थिति मे यह विचारणीय आवश्यक हो गया है कि उक्त 'आदि' शब्द की परिधि से पारिणामिक भाव को वर्जित रखना क्यो और किस भाव मे लिया जाने लगा? जबकि 'आदि' शब्द सदा ही अशेष के ग्रहण का सूचक रहा है? निवेदन है कि यदि आचार्य उमास्वामी को उक्त भाव मान्य रहा तो उन्होंने सर्व सन्देहो को दूर करने और निश्चित स्थिति को स्पष्ट करने वाला 'औपशमिकादयश्चत्वारः भव्यत्वं च' जैसा सूत्र ही क्यो नही बना दिया? इस दृष्टि को भी ऊहापोह द्वारा समझा जाय। यतः—हमें सभी आचार्य मान्य हैं। प्रस्तुतप्रसंग तो वीरसेन स्वामी के मन्तव्य की पुष्टि मात्र का है—किसी के विरोध का नही।

स्व तत्त्वम् :—जब हम जीव में बतलाए गए पांचों भावो संबंधी सूत्र 'औपशमिक क्षायिको भावो मिश्रश्च जीवस्य स्व-तत्त्वमौदयिकपारिणामिको च' पर विचार करते हैं तो हमे इसमे 'जीवस्य स्वतत्त्वम्' शब्द से स्पष्ट निश्चय हो जाता है कि उक्त पांचों भाव जीव के ही स्व-तत्त्व हैं—चेतन के स्व-तत्त्व नही है—और इसीलिए जीव अवस्था में इनका होना अवश्यभावी है, यदि ये भाव नहीं हैं तो वह जीव नही है। साथ ही यह भी है कि ये पांचों भाव जीव मे होते हैं और शुद्धावस्था मोक्ष मे इनमे से कोई भी भाव नही हैं—वहां कर्मोंके क्षय-क्षयोपशम आदि जैसी विवक्षा को भी स्थान नही है। स्मरण रहे कि वस्तु के शुद्ध स्वरूप मे—जो कथन मे न आ सके और केवल अनुभव का विषय हो, उसमे विवक्षा कोई स्थान नही रखती, अस्तु।

फिर, यह भी विचारना होगा कि स्व और तत्त्व जैसे दो शब्दों की सूत्र में क्या आवश्यकता थी, सूत्र में केवल 'स्व' देने से ही निर्वाह हो सकता था। पर आचार्य ने 'तत्त्वम्' जोडकर यह स्पष्ट कर दिया है कि—'तस्य भावस्तत्त्वम्'—य-पदार्थः यथा अवस्थितस्तस्य **तथैव भवनम्**।—जो जिस रूप मे स्थित है उसका उसी रूप में होना तत्त्व है। उक्त स्थिति में जीव के पांचों भाव जीव के स्व-तत्त्व है और जीव मे ही होते हैं, शुद्ध चेतन मे नही। फलतः—यदि इन भावों से जीव का छूटना स्वीकार किया जाता है तो वह जीव ही नहीं ठहरता—जिसे हम चेतन कह रहे हैं उस शुद्ध रूप में आ जाता है। इसीलिए कहा है—'सिद्धा ण जीवा' चेयणगुणमवलम्ब्यपरुविदमिदि।'

हमें श्री वीरसेनाचार्य वैसे ही प्रमाण हैं जैसे कुन्दकुन्द प्रभृति अन्य आचार्य। हम सभी को मान देकर तत्त्व-चिंतन कर रहे हैं—यदि किन्ही को चिंतन मात्र ही असह्य हो और वे सम्यग्दृष्टि के लिए निर्धारित 'तत्त्व-कुतत्त्व पिछाने' का अनुसरण न करें—तो हम क्या करें, हम तो विचार के लिए ही कह सकते हैं। (क्रमशः)

* यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिकत्रयं व्यवहारेण संसारि जीवेऽस्ति तथा सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया इतिवचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्तित्रयं, मुक्तजीवे पुनः सर्वथैव नास्ति द्र० टी० १३।३८।११

जरा सोचिए !

१. निर्दोष मुनित्व का उपक्रम

परमपूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर जी महाराज सच्चे मुनि थे और उनकी साधना खरी थी, वे परीषहों के सहन में सक्षम थे। उन्हें यह भी लगन थी कि मुनि मार्ग की धारा अविच्छिन्न बनी रहे और निर्मल रहे। वे मुनियों की बढ़वारी और स्वच्छशासन के पक्षपाती थे। फलतः—वे साधुचर्या में क्षुल्लक तक को भी सवारी डोली आदि का निषेध करते थे और सस्थाओ के रख-रखाव, चन्दा, चिट्ठा आदि आडम्बर जुटाने के भी सख्त खिलाफ थे। पर, आज वे बातें नहीं रही। आज कई दिगम्बर साधुओ मे आचार के प्रति व्याप्त शिथिलता को लक्ष्य कर चिता व्याप्त थी कि—किस प्रकार मुनि-मार्ग निर्दोष रह सकेगा ? क्योकि साधु-पद सर्वथा 'यम' रूप होता है, जो एक बार ग्रहण कर छोड़ा नही जा सकता—जीवन भर उसका निर्वाह होना चाहिए*। ऐसे में हमारी दृष्टि भी उधर न जा सकी कि किस प्रकार मुनि अपने पद का त्याग कर सकता है ? अब 'तीर्थंकर' पत्रिका के माध्यम से दीक्षा-त्याग के नीचे लिखे तथ्य समक्ष आए हैं—

"साधु पद छोड़ने की व्यवस्था भी हमारे यहां है। तीन अवस्थाएँ हैं—किसी ने दीक्षा ली और वह कुमार है, बाल ब्रह्मचारी है तो तीन प्रावधान हमारे सविधान मे हैं—पहला यह कि यदि उससे परीषह सहन नही होते हैं तो वह गुरु आज्ञा लेकर घर जा सकता है यानी पद छोड़ कर परिवार में लौट सकता है; दूसरे, माता-पिता के इस आग्रह पर कि उसकी परिवार के लिए जरूरत है, आचार्य उसे पद त्याग की अनुमति दे सकता है; और तीसरे यह कि यदि देश के लिए उसकी आवश्यकता है तो राजाज्ञा से राजा भी उसे पद छुड़वा कर ले जा सकता है; परन्तु ध्यान रहे ये तीनों स्थितियाँ कुमारावस्था में दीक्षितों के लिए ही बनती हैं।"

—'तीर्थंकर' वर्ष १७, अंक ३-४, पृ० २१-२२

यदि यह सच है और उक्त प्रावधान दीक्षा-त्याग में आगम सम्मत है तो इनमें दूसरे तीसरे प्रकार के अवसर विरले ही मिले - हां, परीसह न सह सकने के अवसर अधिक दृष्टिगोचर होते है। प्रायः अधिकांश मुनि परीषह सहने से जी चुराते हैं और वचने के लिए भांति भांति के बहानों से आडम्बर जुटाते देखे जाते है। ऐसे कुमार (अविवाहित) मुनियों को सोचना चाहिए कि वे जिन-मार्ग को दूषित करें या आचार्य के आदेश से दीक्षा छोड़ दें ? हमारी दृष्टि से तो उनको पद छोड़ देना ही अच्छा होगा। ऐसे मुनियों को यह प्रावधान भी देख लेना चाहिए कि जिनको गुरु उपलब्ध न हों वे किसकी आज्ञा लेकर पद छोड़ेंगे ? इसके सिवाय कोई प्रावधान उनके विषय मे भी देखना चाहिए जो कुमार नही हैं। क्योकि परीषह न सह सकने की कायरता बहुत से अकुमार साधुओ में भी देखी जाती है।

यदि उक्त विधि कारगर हुई तो हम अवश्य समझेंगे कि पूज्य आचार्य शान्ति सागर जी ने मुनि मार्ग की जिस परम्परा का पुनः सूत्रपात किया, उस परम्परा के संरक्षण में यह बडा ठोस कार्य होगा और शिथिलाचारियों की छँटनी हो जायगी और इसकी बधाई 'तीर्थंकर' को जायगी। हाँ, उक्त प्रावधान के आगम प्रमाण अवश्य प्राप्त कर लिए जाँय और उन्हें उजागर किया जाय। हमने आगम में ऐसा नहीं देखा।

हमारी दृष्टि से जैनियों मे दो प्रकार के व्रतों का विधान है—एक 'नियम' रूप और दूसरे 'यम' रूप। जो व्रत 'नियम' रूप होते हैं, वे काल मर्यादा में बंधे होते हैं और समय पूरा होने पर स्वयं छूट जाते हैं। यदि व्रती चाहे तो उन्हें कुछ काल के बन्धन में पुनः धारण कर

* 'यावज्जीव यमो ध्रियते'—रत्नक० ३-४१; यावज्जीवं यमो ज्ञेयः—उपा० ७६१; धर्मसं० श्रा० ७-१६; यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रतिपालनम्। दैवाद् घोरोपसर्गेऽपि दुःखे वा मरणावधिः'—लाटीसं० ५-१५६।

सकता है। पर, मुनि का पद 'यम' रूप होता है जो एक बार धारण कर छोड़ा नही जा सकता—जीवन भर उसका निर्वाह करना पडता है। जैसे—'ब्रह्मगुलाल' ने राजा के आदेश से स्वांग दिखाने हेतु मुनि का वेष धारण कर लिया। स्वांग के बाद जब उन्हें राजा ने कपड़े धारण करने को कहा तो 'ब्रह्मगुलाल ने स्पष्ट जवाब दिया कि—"यह वह वेष है जो एक बार धारण कर छोड़ा नहीं जा सकता" और वे वन को चल दिए।

ऐसी स्थिति में यदि कोई 'यम' रूप मुनि के व्रत को छोड़ने का उत्सर्ग मार्ग और वह भी गुरु आज्ञा लेकर छोड़ने का विधान बतलाता हो तो उसे आगम-सम्मत नहीं माना जा सकता, अपितु उसे पद भ्रष्टता का द्योतक ही माना जायगा और पद-भ्रष्टता मे आचार्य के आदेश लेने जैसी बात करना केवल मनस्तोष और बहाना ही होगा कि—अमुक मुनि, अमुक आचार्य की आज्ञा से पद-भ्रष्ट हुआ आदि। हम तो समझे हैं कि कोई आचार्य किसी की गिरावट के लिए अनुमोदना नही कर सकता अपितु वह सभी का स्थितिकरण करने का अधिकार रखता है—ऐसे मे यह स्पष्ट है कि वर्तमान मे जो पद मे स्थितमुनि परीषह सहन न कर सकने के कारण बाह्या-डम्बरों मे लिप्त हों वे आचारहीन कहलाएँगे और जो दीक्षा छोड देंगे वे पदभ्रष्ट अर्थात् पलायनवादी कहलाएगे—जब कि आचार्य कभी भी पथभ्रष्ट होने का समर्थन नही कर सकते। हाँ, परिस्थिति वश वे ऐसे मुनि को सघ से निष्कासित कर सकते है, उसके उपकरण छीन सकते है। भ्रष्टता में आज्ञा अपेक्षित नही होती। जो भ्रष्ट होना चाहें वे स्वय पद छोड़ सकते हैं।

मुनिगण में व्याप्त शिथिलाचार को पोषण देने वाले कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते है कि क्षेत्र और काल के अनुसार बदलाव स्वाभाविक है। ऐसे लोगो को सोचना चाहिए कि वे अपनी इस बात को नग्नता के परिवेश में भी क्यों नही देखते? यदि क्षेत्र और काल शिथिलता मे आड़े आते है तो वर्तमान सन्दर्भ मे नग्न-वेश आड़े क्यों नहीं आता? यत.—आज तो अधिकाश जनता नग्नता को हेयकी दृष्टि से ही देखती है। पर ध्यान रहे कि धर्म अपरिवर्तनीय होता हैं—उसमें क्षेत्र और काल आड़े नहीं आ सकते। यही कारण है कि अद्यावधि दि० मुनि-रूप क्वचित्-क्वचित् हमारी दृष्टि में आता रहा है। यदि शिथिलता के निवारण के प्रति हमारी जागरुकता हो तो मुनिधर्म व वेष आज भी निर्मल बना रह सकता है। आचार्य का अधिकार दीक्षा छोडने की अनुमति देने—भ्रष्ट करने मे नही, अपितु स्थितिकरण मात्र तक सीमित है। जैसे कि वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल का स्थितिकरण किया। यदि कोई मुनि अपना पद छोड़ना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है, स्वयं छोड़ दे ताकि मुनिमार्ग शुद्ध बना रहे।

साधुओ मे शिथिलता का कारण बताते हुए एक सज्जन ने कहा—'श्रावक तो साधुओ को दोष देते हैं पर, सब दोष श्रावकों का है—'जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन।' प्राय. कई श्रावक काले धन की कमाई करते हैं, मुनि भी आहार उसी धन से करते हैं और मुनियों में अन्न के प्रभाव से आचार-शिथिलता आती है। श्रावक सफेद धन से आहार बनाएं तो मुनि भी सच्चे साधक हों।'

हम इसके विपरीत सोचकर चलते है—जब साधु जानता हो कि इस प्रकार का अनीति से अर्जित दान शिथिलता उत्पन्न करता है तो वह ऐसी घोषणा क्यो नही करता कि यदि मुझे न्याय-नीति की सच्ची कमाई से कोई दान देगा तो लूगा अन्यथा मेरा लम्बा अनशन चलेगा। इससे साधु को परीषह सहना तो होगा, पर कुछ समय में गिने-चुने महनती श्रावक—चाहे वे गरीब मजदूर भी क्यों न हों? अवश्य मिल जाएँगे—जैनियों में अभी भी प्रामाणिक लोग हैं और धर्मश्रद्धालु भी। मुनि के उक्त मार्ग अपनाने से काले धन्धे वाले स्वय छंट जाएँगे। स्मरण रहे कि मार्ग साधु की कमजोरी से ही बिगड़ा है? पर, कहे कौन? आज तो द्रव्य की ओर दौड़ है, उत्तम व्यजनो के आहार का जोर है और कई साधुओं ने संस्थाओं के भवन-निर्माण, रख-रखाव और धुंआधार प्रतिष्ठा प्राप्तिके साधन जुटाने जैसे कार्य भी पकड़ रखे हैं—जिनमे प्रभूत धन काले धन से ही आ सकता है, एक नम्बरी कमाई करने वाला तो इस युग मे पेट-भर रोटी कपड़ा कमा ले यही काफी है।

"सांइ इतना दीजिए, जामें कुटंम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥" इस रूप

की भावना भी गरीब ही रख सकता है। सोचिए, असलियत क्या है ? कहीं दो नम्बरी द्रव्य से संपादित सभी गतिविधियाँ खोखली तो न होंगी, प्रभूत काले धन से निर्मित भवन मठाधीशों के मठ तो न बन जाएँगे ? जरा-सोचिए ! हम तो मुनियों की बात के श्रद्धालु हैं एतावता हमें ऐसी सम्भावना बने तो आश्चर्य नहीं।

२. जिनवाणी का संभावित भावी रूप ?

वर्तमान में जैसा वातावरण बन रहा है, उससे संभावना बढ़ी है कि वह दिन दूर नही, जब जिनवाणी का स्थान पंडित वाणी को मिल जायगा और पण्डित वाणी ही जिनवाणी कहलाएगी। आज स्थिति ऐसी है कि लोग आचार्यों की मूलभाषा—प्राकृत, संस्कृत से दूर—पंडितों के भावानुकूल—भाषाबद्ध अनुवादों को पढने के अभ्यासी बन रहे हैं और ऐसे कई अनुवादो के कारण विवाद भी पनप रहे हैं। एक दिन ऐसा आयेगा कि हमारे हाथ में विवाद की जड अनुवाद मात्र रह जाएँगे और मूल जिन-वाणी की संभाल कोई भी न करेगा।

ऐसे में आवश्यक है कि पंडित गण जनता के समक्ष मूल के साथ मूल का शब्दार्थ मात्र लिखित रूप में प्रस्तुत करें। यदि किन्ही को व्याख्या करनी इष्ट हो तो मौखिक ही करें—ताकि गलत रिकार्ड की संभावना से बचा जा सके। यतः व्याख्या में विपरीतता के सभावित होने से उसका होना भविष्य मे जिनवाणी को ही दूषित करेगा।

आज स्थिति ऐसी है कि पंडित-निर्माण की परम्परा खण्डित हो रही है और इसी कारण शुद्धात्मा की चर्चा तक में लीन अनेक अपण्डित भी अपने को पंडित मान, अपनी कषायो के पोषण मे लगे हैं। कई भले ही बाह्य चारित्र को पाल रहे हों तो भी क्या ? कइयों का अन्तरंग तो मैला ही देखा गया है—कषायों का पुंज।

आज की आवश्यकता है पल्लवग्राहिपाण्डित्यं के स्थान पर मूलभाषादि, सैद्धान्तिक ठोस पण्डितों की—जिनकी ओर से समाज ने आंखें मूंद रखी हैं। आज परिपक्व पंडितो तक की बीमारी और बुढ़ापे में भी दुर्दशा है—भले ही उन्हें अतीत में अभिनन्दन ; सन्मान भेंटे और जयकारे मिले हों ? समाज में छात्रवृत्ति फंड हैं, विधवा सहायता-कोष हैं, अस्पताल अनाथालय और उदासीन जैसे उदासीनाश्रम भी हैं ; पर किसी ने पंडितों की वृद्ध और असहायावस्था में उन्हें सम्मानपूर्वक जीवन बिताने के लिए कोई सहायता फण्ड खोल रखा हो तो देखें। हाँ ऐसा तो है कि जब तक पंडित काम करता रहता है तब तक समाज उसे वेतन देता है—नौकरी-ड्यूटी-चाकरी के रूप में। इसमें इतनी तक समझ नही कि पंडित के प्रति उक्त शब्दो के प्रयोग से घृणा करे और मासिक को पुरस्कार, दक्षिणा, या आनरेरियम के नाम से पुकारे ! ऐसे में कैसे होंगे पंडित तैयार और क्यों करेंगे वे अपनी पीढ़ी को, अपने जैसा बनने के लिए प्रोत्साहित ? क्या, गुलामी करके भी भूखो मरने के लिए ? जरा सोचिए।

—संपादक

३. क्या त्रिगुटा तथ्य नहीं ?

"धर्म भी एक धन्धे के रूप मे विकसित हो रहा है। तीर्थंकरो या उनके सेवको को सुख दुख का कर्ता हर्ता बना देने से धर्म अनेक लोगो के लिए आजीविका का अच्छा साधन बन गया है। कोई गृहस्थाचार्य के रूप मे तो कोई मन्त्र-तन्त्र वेत्ता बनकर धन बटोर रहे है। मंत्रित अंगूठियो, ताबीजों एव यंत्रों की बिक्री एक अच्छा धन्धा बन गया है। धर्म की ओट में पल रहे और तेजी से बढ़ रहे इस गोरखधन्धे का सूत्रधार एक त्रिगुटा है। ज्ञान-चारित्र से रहित वे नव धनाढ्य जो पैसे के बल पर समाज के नेता बनना चाहते हैं इसके संचालक है। धर्म से आजीविका चलाने वाले गृहस्थाचार्य और शिथिलाचारी त्यागी-व्रती इनके सहयोगी है। तीन वर्ग एक दूसरे के हितो का पृष्ठ पोषण करते हुए समाज को अंधेरे मे धकेल रहे हैं।

जब कोई कार्य आजीविका या प्रतिष्ठा का साधन बन जाता है तो व्यक्ति उसे हर कीमत पर बचाने का प्रयास करता है। यह त्रिगुटा वर्तमान में ऐसा ही कुछ कर रहा है। धार्मिक पत्र-पत्रिकाएँ जिन्हें अहिंसा, प्रेम,

सदाचार का सन्देश वाहक होना चाहिए। समाज में घृणा द्वेष फैलाने का माध्यम बन रही हैं।

अब तो चातुर्मास के साथ समाज का धन गाजे-बाजे, पैम्पलेटबाजी व प्रदर्शन में बर्बाद होता है। जैनियों का आचार व्यवहार इतना गिर गया है कि जैन पकौड़ी भण्डार, गोभी और प्याज से दुकान सजाते हैं। जैन नाम के साथ अन्तर्गभित वीतरागता, अहिंसा, सदाचार अपरिग्रह, नीतिगत व्यवहार, धारणाएँ जीवन से तिरोहित हो रही हैं। समाज का नेतृत्व विद्वानों व त्यागियों के हाथों से निकल कर सेठों के हाथों में जा रहा है। सब संस्थाओं के संचालक एक तरफ से धन बटोरने में लगे हैं।'

—('जैन-सदेश' १३-८-८७ पृ० ४; ८ से साभार)

(पृ० २२ का शेषांश)

शैय्या पर हैं। शास्त्र की गद्दी पर बैठकर धर्मचर्चा करने वाले/समझाने वाले विद्वानों की कमी आ गई है। फलतः विद्वानों का नेतृत्व समाज पर नहीं रहा धनिकों का हो गया, जो धर्म तत्व की गूढ़ता को नहीं समझने वाले हैं। धर्मज्ञ हुए बिना उनका नेतृत्व धर्म शून्य ही होगा। उन्हें अपनी नेतागिरी राजनीति आदि के उपदेश प्रिय लगते हैं और उनसे कई व्रती भी प्रभावित रहते हैं, उन्हें उत्सव, विधान, पंचकल्याण कराने की, शिष्य परिवार बढ़ाने की लालसा रहती है। चाहे शिष्य कैसा ही हो। बिना तपाये सोना नहीं बन सकता।

आवश्यक है—इन बातों पर हम विचार करें। वास्तविक धर्म चलता रहे—यथेच्छ धर्म नहीं हो। काश ! समाज धर्मात्मा वृद्धजन इन बातों पर विचार करें—युवकों को तदनुकूल ढालें—ताकि जैनागम की अविच्छिन्न धारा बहती रहे। और सब जैन महावीर के शासन के नीचे चलते रहें।

(वीर-वाणी से साभार)

जौलों अष्ट कर्म को विनाश नांहि सर्वथा,
तौलों अन्तरातमा में धारा दोई बरनी।
एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्मधारा,
दुहूं की प्रकृति न्यारी-न्यारी धरनी ॥

इतनो विशेष जु करमधारा बन्धरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्ष की करनहार,
दोष की हरनहार भौ समुद्र तरनी ॥

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४० : कि० ४ अक्तूबर-दिसम्बर १९८७

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	शान्तिनाथ स्तोत्रम्	१
१.	आधुनिक पाण्डित्य का चरमोत्कर्ष —गोरावाला श्री खुशालचन्द्र	२
३.	हम यूं ही मर मिटेंगे तुमको खबर न होगी —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	५
४.	मनीषी व श्रीमानों के उद्गार	६
५.	शिलालेखों के सर्वांगपूर्ण स्तरीय प्रकाशन की आवश्यकता—डा० ज्योति प्रसाद जैन	९
६.	वस्त्रधारी भ० कबसे हुए—श्रीरतनलाल कटारिया	१२
७.	सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अनिवार्य कारण —श्री मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर'	१५
८.	हिन्दी जैन कवियो के कतिपय नीति काव्य —डा० गंगाराम गर्ग	१९
९.	पन्ना में संरक्षित जैन प्रतिमाएँ —श्री नरेशकुमार पाठक	२२
१०.	णमो आयरियाणं—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२४
११.	जैन गीतों में रामकथा—प्रो० श्रीचन्द्र जैन	२६
१०.	'सिद्धा ण जीवा'—धवला—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२८
११.	जरा सोचिए : —सम्पादकीय	३०
१४.	श्रद्धांजलि	आवरण पृ० २

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

—जिनवाणी के अथक उपासक—

स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के प्रति :

—श्रद्धांजलि—

सिद्धान्ताचार्य स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री जैन-विद्वत्समाज के भव्य देदीप्यमान एक ऐसे नक्षत्र थे जो अपनी दीप्ति से धर्म की ज्योति को अपूर्व ढग से जगमगाते रहे—कभी जैन-संघ के माध्यम से, कभी जैन-सन्देश के माध्यम से, तो कभी जनता के निमन्त्रणों के माध्यम से। स्याद्वाद महाविद्यालय के माध्यम से विद्या के क्षेत्र मे जैसी क्रान्ति उन्होंने की उसकी मिसाल अन्यत्र नही। न जाने कितने अबोधों को उन्होने बोध दिया ? उनमें कितने हो तो आज भी उनकी जगाई ज्योति को कायम रखने मे संलग्न है और समाज की सेवा मे तत्पर। सच पूछे तो पण्डित जी के बाद की विद्वत्पीढ़ी के बर्तमान अधिकांश विद्वान् पण्डित जी की जागरुकता और लगन के ही फल है। पण्डित जी ने जैसी साहित्य सेवा की वह जग जाहिर है। वे सच बात के कहने मे भी कभी चूके नही और ना ही कभी किसी से भयभीत हुए। उनके अभाव की पूर्ति सर्वथा असम्भव जैसी है।

पण्डित जी ने स्याद्वाद विद्यालय में स्वयं अध्ययन कर बाद मे लगभग ५० वर्षों से अधिक काल प्रधानाचार्यत्व में बिताया। इस बीच उन्होंने विद्यालय के लिए समाज से प्रभूत धन भी जुटाया। वे जो लाए सब विद्यालय को ही समर्पित किया—अपने पास रंच भी नही रक्खा। उन जैसा कृतज्ञ विद्यार्थी और कर्तव्य-परायण प्रधानाचार्य—'न भूतो न भविष्यति।'

पूज्य बड़े वर्णी जी के शब्दों में पण्डित जी विद्यालय के प्राण थे—"विद्यालय सो पण्डित जी और पण्डित जी सो विद्यालय।" यही कारण है कि पण्डित जी की मानसिक और शारीरिक शिथिलता के साथ ही विद्यालय भी क्षीणता को प्राप्त होता जा रहा सा दिखता है। हमे तो अब यह आशंका सी भी होने लगी है कि पूज्य वर्णी जी द्वारा लगाया और पण्डित जी द्वारा पल्लवित किया विद्यालय रूपी उद्यान कही मुरझा न जाए; या कही कोई बानर सेना इसे उजाड़ ही न दे। इसकी सँभाल समाज को करना है और समाज की यह भी जिम्मेदारी है कि वह पण्डित जी के आदर्शों को सामने रखकर उन जैसे विद्वान् तैयार करने का संकल्प ले।

वीर सेवा मन्दिर के समस्त अधिकारी सदस्य एवं कार्यकर्ता व 'अनेकान्त' के सम्पादक त्रय पण्डित जी के प्रति सादर श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए उनकी आत्म-शान्ति की प्रार्थना करते है। पण्डित जी से बिछुड़े परिवार के प्रति संस्था की हार्दिक संवेदनाएँ।

—सुभाषचन्द्र जैन
महासचिव

ओम् अर्हम्

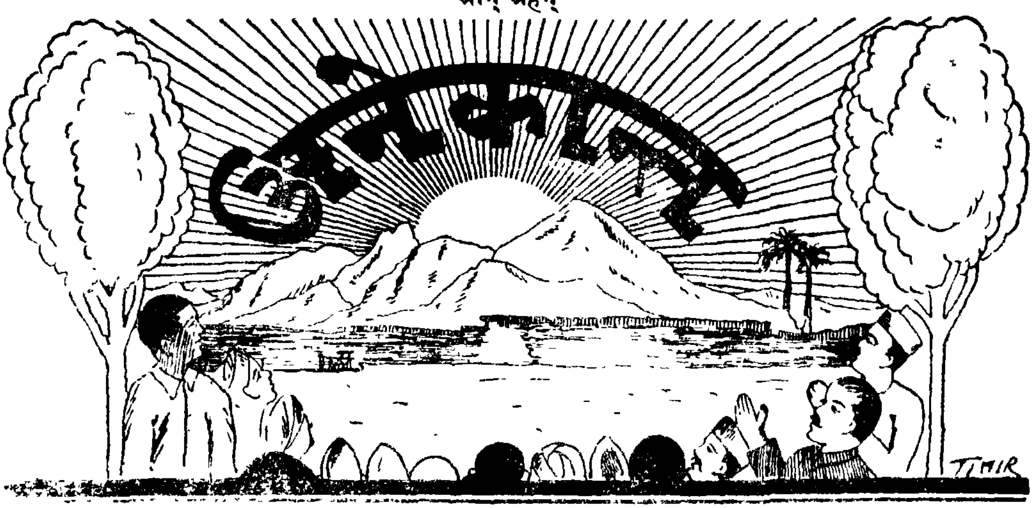

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४०, किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५१३, वि० स० २०४४ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८७

शान्तिनाथ स्तोत्रम्

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचन परं लोकेश्वरैरद्भुतं,
यस्योपर्युहरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रान्तोद्गतकेवलोज्जवलरुचा निर्भत्सितार्क प्रभं,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥१॥
देवः सर्वविदेष एष परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः,
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमतः ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैस्ताडितो दुन्दुभिः,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥२॥

--पद्मनन्द्याचार्य

अर्थ—जिन शान्तिनाथ भगवान के ऊपर इन्द्रों के द्वारा धारण किए गए चन्द्रमण्डल के समान तीन छत्र तीनों लोकों की प्रभुता को सूचित करते हैं और जो स्वय निरन्तर उदित रहने वाले केवलज्ञान रूप निर्मल ज्योति के द्वारा सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करके सुशोभित है। पाप रूप कालिमा से रहित वे श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें। जिनकी भेरी देवों द्वारा ताडित होकर मानो यही घोषणा करती है कि तीनों लोको के स्वामी और सर्वज्ञ श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव है और दूसरा नही है तथा समस्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाले इन्हीं के वचन सज्जनो को अभीष्ट हैं, दूसरे किसी के भी वचन उन्हें अभीष्ट नहीं है। पापरूप कालिमा से रहित ऐसे श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें॥ १, २ ॥

स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के प्रति श्रद्धांजलि :

आधुनिक पांडित्य का चरमोत्कर्ष

पाँडित्य से परीक्षोत्तीर्ण पाडित्य—

मूल-श्रमण सस्कृति मे गृहस्थ के छह नित्यकृत्यो या आवश्यकों मे स्वाध्याय का स्थान महत्वपूर्ण है। इस परम्परा के कारण ही श्रुतधर आचार्यों, भट्टारको और विशिष्ट विद्वानों के युग की समाप्ति के बाद भी मूल जिनधर्मी (दिगम्बरी) समाज मे जैन-वाङ्मय के गभीर स्वाध्यायी विद्वान् होते आये है। आचार्यकल्प पं० टोडरमल जी, आदि इस परम्परा के आधुनिक निदर्शन है। भारत के बौद्धिक-जागरण, (रीनेसांस) के साथ-साथ प्राच्य-अध्ययन को महत्व मिलने पर जिनधर्मी और जिन-सम्प्रदायी (श्वेताम्बरी) समाज में भी परीक्षोत्तीर्ण विद्वानों की ओर ध्यान गया। इस परम्परा मे गुरुवर पूज्य श्री १०५ गणेशवर्णी अग्रणी थे। क्योंकि काशी के स्याद्वाद महाविद्यालय ने ही वाराणसेय गवर्नमेंट सस्कृत कोलेज तथा बंगाल-संस्कृत ऐसोसियेशन' कलकत्ता की परीक्षाओं को दिलाना प्रारम्भ किया था। गुरुवर गणेशवर्णी जी को जयपुर, खुरजा, आदि के स्वाध्यायी-पडितों का बहुमान था। तथा गुरु गोपालदास जी इस शैली के ऐसे स्वयम्भू उन्नत विद्वान् थे जिन्होने जैनसिद्धान्त के विधिवत् अध्ययन-अध्यापन के लिए विद्यालय (गोपाल सिद्धात विद्यालय—मुरैना) ही नहीं, अपितु जैनजागरण के श्रीमान् अग्रदूत के सहयोग से परीक्षालय (माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षालय, मुम्बई) की स्थापना करके जैनपाण्डित्य को भी परीक्षोत्तीर्णता का रूप दिया था। जैन जागरण के इन दोनो श्रीमान् अग्रदूतो के प्रसाद से स्व० प० माणिकचन्द्र (चावली) देवकीनन्दन, वंशीधर (महरौनी), वंशीधर शोलापुर, मक्खनलाल तथा खूबचन्द्र जी ऐसे उद्भट जिनवाणीवेत्ता समाज-देश को सुलभ हुए थे। तथा जैन-न्याय के प्रथम ब्राह्मण गुरुवर अम्बादास शास्त्री की साधना का ही यह श्रुतफल सुफल था कि प्रमेयकमलमार्तण्ड-अष्टसहस्री आदि गहन तथा उत्तम ग्रन्थो का पठन-पाठन सहज हो सका था। तथा स्व० पं० घनश्यामदास (महरौनी) तथा जीवन्धर (इन्दौर) के गुरुत्व मे समाज; जैन-न्यायतीर्थों को पा सका था।

जैनपांडित्य की दूसरी पीढ़ी—

इन गुरुओ की कृपा से सुलभ आधुनिक जैनपाण्डित्य की दूसरी पीढी के विद्वानो मे स्व० प० राजेन्द्रकुमार (भा० दि० जैनसघ ने स्थापक), चैनसुख दास जी (जयपुर) अजितकुमार जी (मुलतान) तथा कैलाशचन्द्र (वाराणसी) ऐसे थे, जो धर्म-समाज मे १९२१ से आगे के सात दशको मे सब प्रकार से सम्बद्ध रहे है। शार्दूलपडित राजेन्द्र-कुमार जी ने गुरुओ को सम्मान दिया, साथियो को उनकी क्षमता के अनुसार अध्यापन, सम्पादनादि मे लगाकर बढ़ाया और अनुज विद्वानो को समाज मे प्रतिष्ठित करके ऐसे लोगो का छोडा है, जो समाज की विविध सस्थाओं का आज भी सचालन कर रहे है। क्रांतिकारी स्व० प० चैनसुख दास जी ने जयपुर को केन्द्र बनाकर जैन समाज के श्रीमान् किन्तु प्रवाह-पतित मारवाड़ी समाज का विवेकचक्षु ही नही खोला था, अपितु ऐसा शिष्य समुदाय छोड़ गए है जो उनकी अलख को जगाये है। गुरुवर पं० गोपालदास जी के बाद आर्यसमाज और स्थितिपालक जैन-समाज को यह जगाने का भार शार्दूल पडित राजेन्द्रकुमार जी पर 'दि० जैन शास्त्रार्थ सघ' (अम्बाला) के रूप मे आया था। इसमे स्व० लाला शिब्बामल (अम्बाला) अर्हदास (पानीपत) आदि श्रीमान् जहां उनके साथी थे वही स्व० पं० अजितकुमार, मगलसेन (वैदविशारद)

वाणीभूषण तुलसीराम (बड़ौत), आदि श्रीमान् प्रमुख सहयोगी थे।

योग्यतम सहाध्यायी—

स्व० प० कैलाशचन्द्र जी, प० राजेन्द्रकुमार जी के व्युत्पन्न, शान्त तथा अनुशासित सहाध्यायी थे। इनकी वाणी मे रस था, स्वभाव मे मधुरता, व्यवहार मे सरलता तथा आगमानकूल शास्त्रकथन मे निर्भीकता थी। फलत: शार्दूल पडित ने इनकी क्षमताओं को पुष्ट करने और समाज को उनसे लाभान्वित होने का त्रिविध योग जुटाया। और भारती- बौद्धिकवर्ग को; समर्पित प्राचार्य, युक्तिशास्त्रानुकूल मार्गदर्शक-सम्पादक तथा आधुनिक शोधशैलीपरक राष्ट्रभाषा के मौलिक लेखक के रूप में स्व० प० कैलाशचन्द्र का, पूरी आधी शती तक, प्रदर्शन-विहीन तथा विनम्र नेतृत्व प्राप्त रहा है।

धर्मशास्त्री —

स्व० प० कैलाशचन्द्र जी ने अपने गुरुओं मे प्राच्य-पद्धति (विषय का सागोपाग वाचन, धारणा तथा आम्नाय या मुख मे पारायण) के अनुसार सिद्धान्त ग्रन्थो का अध्ययन किया था। उन्हे अपने पठित ग्रन्थ कठस्थ थे। स्याद्वाद महाविद्यालय द्वारा १९२७ मे धर्माध्यापक रूप से उन्हे बुलाये जाने का यही कारण था। उनके अग्रज सहाध्यायी प० जगन्मोहनलाल शास्त्री (कटनी) ने भी इनकी ग्रन्थोपस्थिति की उत्कृष्टता को स्वीकार करके जैनसमाज के प्रथम तथा सर्वोपरि गुरुकुल (स्या० म० वि०) के धर्माध्यापकत्व के लिए इन्हें ही उत्तम माना था। तथा वह सर्वथा सत्य भी निकला। क्योंकि ये समय के पाबन्द स्वात्म-संतुष्ट तथा छात्रहितलीन अध्यापक थे। तथा अपने सहाध्यायियों के समान 'अध्ययन या विद्यार्थित्व का त्याग नही कर सके थे।' इन्होंने छात्रो के साथ श्वे० न्यायतीर्थ परीक्षादि ही नही उत्तीर्ण की थी अपितु प्राच्यशोध की भिज्ञता के लिए अपने छात्रो से ही पढकर मैट्रिक (अग्रेजी) परीक्षा भी पास की थी। तथा व्युत्पन्न छात्रो के सहयोग से इतिहास-पुरातत्व एवं पाश्चात्यशोधकों द्वारा कृत, प्राच्य वाङ्मय की उस समकालीन शोध की भी पूर्ण भिज्ञता प्राप्त की थी जो अंग्रेजी या प्राकृत भाषादि के कारण, इनके पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर मनीषियों को दुर्लभ थी।

ख्याति से परे—

स्व० पडितजी की इस साधना का प्रथम प्रसून 'न्यायकुमुदचन्द्र' का प्रथम भाग था, जिसमें स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी सहयोगी थे। तथा स्व० पं० नाथूराम 'प्रेमी' की प्रेरणा से यह कार्य प० कैलाशचन्द्र जी ने हाथ में लिया था। तथा सकल्प किया था कि इसका सर्वांग-समग्र सपादन करेगे। इस सकल्प की पूर्ति के लिए प्रवास पाठमिलान, आदि शारीरिक श्रमसाध्य कार्यों को स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी ने किये थे। फलत इनके उत्साह को स्थायित्व देने के लिए पडित (कै० च०) जी ने इन्हें ही सम्पादक रूप मे स्वीकार किया था। और अपने को केवल 'भूमिका-लेखक' ही रखकर तत्कालीन जैन-मनीषियो (स्व० पं० सुखलालजी सघवी, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारादि) को चकित कर दिया था। तथा अपनी सूक्ष्म-परख और तटस्थ दृष्टिकोण का लोहा मनवा दिया था। जिसके दर्शन उनकी मौलिक कृति 'जैन इतिहास की पूर्व-पीठिका' में होते है।

'हाजिर में हुज्जत नहीं गैर की तलाश नहीं'—

जब आर्यसमाज के प्रमुख शास्त्रार्थी विद्वान् ने ही जैन तत्वज्ञान पर मुग्ध होकर 'स्वामी कर्मानन्द' रूप धारण कर लिया तो सामाजिक उत्थान की उपशम-श्रेणी के ज्वलन्त निदर्शन, स्व० प० राजेन्द्रकुमार जी ने 'शास्त्रार्थ-सघ' के विधायक रूप को प्रधानता दी। और शार्दूल पंडित से प्रभावित जिनधर्मी-समाज ने अग्रज-जिनधर्मी संस्थाओं (भा० महासभा तथा परिषद्) से अधिक महत्व भा० दि० जैनसघ को दिया। तथा एक दशक मे ही इसका मुखपत्र, सरस्वती भवन, प्रकाशन, भवन तथा (जीवनदानी, स्वात्मसतुष्ट तथा समर्पित) दर्जनाधिक वक्ता लेखक तथा सचालको ने संघ को जीवन्त संस्था बना दिया था।

सर्वोत्तम-प्रेरित सहयोगी—

इस यात्रा में स्व० प० कैलाशचन्द्र जी सर्वोपरि थे। क्योंकि वे 'अहिंसा' 'भगवान महावीर का अचेलक धर्म' आदि पुस्तिकाए (ट्रैक्ट) भी उसी गंभीरता से लिखते थे, जिसकी झलक 'जैन सन्देश' के सम्पादकियों में स्पष्ट थी। 'जैन-धर्म' ऐसी मौलिक सुपाठ्य कृति ने उत्तरकालीन लेखकों को इतना प्रभावित किया था कि इसके तुरन्त बाद ही समाज को 'जैनशासन' तथा 'जैन दर्शन' पुस्तके देखने को मिली थी। यही कारण था कि 'सघ' ने जब 'जयधवल का प्रकाशन हाथ मे लिया तो पंडित (कै०च०) जी ही प्रधान सम्पादक रहे। गो कि वे मुक्तकंठ से कहा करते थे कि इन मूल सिद्धांत ग्रन्थो के उद्धार का श्रेय, धीमानों में स्व० पं हीरालाल (साढूमल), फूलचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री तथा बालचन्द्र शास्त्री (वीर सेवा मन्दिर) को इनके प्रधान सम्पादको (स्व० डा० हीरालाल, आ० ने० उपाध्ये) की अपेक्षा अधिक है। तात्पर्य यह कि सिद्धान्ताचार्य (कै०च०) जी को साथियो या समाज ने जो कार्य या पद दिया उसे उन्होने ईमानदारी से सभाल कर सुख माना। तथा अन्य विद्याव्यासंगियो के समान किसी दायित्व या प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न नही किया। वे कहा करते थे कि मैं तो 'धर्म और अधर्म द्रव्यो के समान तटस्थ या अन्यथासिद्ध कारण हू। विद्यालय (स्या० म० वि०), 'सघ' तथा प्रकाशनादि के लिए यदि होते है तो मैं अनुगामी होने मे भी सकोच नही करता, नही होते तो, मैं अग्रगामी नहीं बनता।'

स्पष्ट ज्ञानपुंज—

उनका अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, लेखन तथा सम्पादन प्रसाद, माधुर्य एव सार-पूर्ण होता था। वे जिन ग्रन्थों को पढ़ते-पढ़ाते थे वे या उनकी वस्तु (मूलविषय) उनकी स्मृति मे अंकित हो जाती थीं। यही कारण है कि अपने जीवन के अन्तिम तथा कर्मठ दशकों में वे 'जैनन्याय' जिनवाङ्मय के इतिहास के समस्त खंडो को ही नही, बल्कि जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, आदि को साधारण स्वाध्यायियो के लिए सुगम कर गये है। प्रारम्भ में 'जयधवल' कार्यालय के कारण बना अपराण्ह २ से ५ बजे तक बैठने, चिन्तन और लेखन का दायित्व उनका स्वभाव बन गया था। जो जब तक किसी प्रबल असाता के उदय; अर्थात् १९८० तक एकरूप से चला। इसके बाद कुछ तथोक्त-प्रशंसको के कारण प्रकृति मे परिवर्तन आया। तथापि उन्होने हार नही मानी। यही कहते रहे कि 'अभी मुझे अपने में बुढ़ापे के कोई लक्षण नही दिखते। शारीरिक दृष्टि से यह सत्य भी था। क्योकि युवावस्था के साथ ही दमापीड़ित अपनी काया को उन्होने जिह्वा-निग्रह, औषधि तथा पोषक-ग्रहण और पत्नी को तीसरी शल्य-प्रसूतिजन्य मृत्यु के सयोग से बचाने के लिए कृत पुंवेद-नियन्त्रण रूप संयम के द्वारा ऐसा कर लिया था कि परिणत वय में उन्हे देख कर कोई कल्पना भी नही कर सकता था कि ये कभी दमा के रोगी रहे होंगे। वे अपने जीवन से सतुष्ट थे। कहा करते थे —

अन्त समय—

'अभी क्या जाना, अन्त समय ठीक बीत जाये तो मानूगा।' क्या उन्हें अपने भविष्य का आभास था? दांत, आख, कान और अत में स्मृति ने भी उनका ख्याल नहीं किया। जिनधर्मी वाङ्मय का चलता-फिरता रूप विवश हो गया पूर्वबद्ध निकाचित के उदय के सामने। उनसे अन्तिम भेंट के बाद से ही सोचता हूं—"मित्र-पुष्ट एवं मान्य जैनवाङ्मय का संयत एव समर्पित साधक, अब नही रहेगा। जिज्ञासाए अब भटकेगी।" वह दीपक बुझ गया। अपने गुरुओ, साथियो और हम अनुजो से अधिक कर्मठ, प्राप्तालयसतोषी तथा आ-चैतन्य शारदा साधक को यदि बुद्धिभ्रन्श हो सकता है, तो हमारा भविष्य? "विधिरहो बलवानिति मे मतिः"। शत-शत प्रणामों सहित—

—**खुशालचन्द्र गोरावाला**

हम यूँ ही मर मिटेंगे तुमको खबर न होगी

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, सम्पादक 'अनेकान्त'

उक्त पंक्ति एक गाने की है जो अपने मे बड़ा मायना और दर्द रखती है। हर वह प्राणी जो कुछ जानता—समझता है उसे जीवन मे गुनगुनाता रहता है और आखिर मे चला जाता है। शायद हमारे महामना पूज्य प० श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री भी जीवन भर इसे गुनगुनाते रहे—इसी भाव को लिखते रहे और जाते-जाते पंक्ति को यूं ही छोड गये लोगों को गाने, समझने और मनन करने के लिए।

मुझे याद है जब मैं स्याद्वाद विद्यालय से निकाला नही गया था—वहा का व्यवस्थापक था। पंडितजी प्रायः शिक्षा-प्रद फिल्मों के देखने के शौकीन थे। उनको और साथ मे स्व० प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य को प्रायः किसी शाम मे पिक्चर हाल मे आसानी से देखा जा सकता था।

मुझे अक्सर तब सहमकर बरबस यूँ ही रह जाना पड़ता था जब मै किसी छात्र को पिक्चर देखने के दण्ड-स्वरूप कुछ डाट-फटकार सुनाना चाहता था और वह बरबस कह उठता था—'पण्डित जी भी तो देख रहे थे।'

एक दिन हिम्मत जुटाकर, विद्यालय की छत पर घूमते हुए बातों-बातों मे मैं पण्डित जी से कह ही बैठा, कि कभी-कभी लडके ऐसा जवाब देकर कि 'पण्डित जी भी तो देख रहे थे', मुझे मौन रहने को मजबूर कर देते है। पण्डित जी को मुझसे स्नेह तो था ही। उन्होने मुझे समझाया—पद्मचन्द्र जी, लड़कों को तो डाटना ही चाहिए, वे नासमझ होते हैं, फिल्मों की अच्छाइयो का उन्हें कहाँ बोध होता है? वे बुराइयों को ही अधिक ग्रहण करते है। उन्होने आगे कहा—आप जानते हैं कि मै दिनभर साहित्यिक काम करता हूं, तत्त्व-चिंतन करता हू और मुझे पिक्चरो मे भी तत्त्व की ही पकड़ रहती है। उदाहरणार्थ उन्होंने अपने मधुर कण्ठ से एक पंक्ति सुनाई—'हम यूं ही मर मिटेंगे, तुमको खबर न होगी।'

वे बोले—आप जानते है कि यह संसारावस्था का वह सार है जिसे खोजते-खोजते हमे यूं ही बरसो बीत गये और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस रहस्य को खोजते-खोजते चले गये। आदि

आज मैं सोचता हू कि वास्तव मे पंडित जी बड़े दूरदर्शी थे और उनका यह दूर-दर्शन तब सही रूप मे अनुभव मे आया, जब उनकी रुग्णावस्था मे कोठिया जी जैसे कई मनीषियो को बरबस समाज का ध्यान उनकी ओर खीचना पडा कि वह पंडित जी की तीमारदारी करे—उनकी खबर ले। यह बात अलग है कि उनके सुपुत्र आदि सम्बन्धी और कुछ पास-पड़ोसी उनकी सेवा करते रहे हों, पर, अखिल जैन समाज और खासकर—समर्थ और नेता-टाइप समाज का यह परम कर्तव्य था। हम नही जानते कितनों ने पंडित जी की तीमारदारी में योग दिया और उनकी बीमारी मे उनकी सुध ली? कितनो ने उनके उपकारोको सही रूप मे माना? इसे वे ही जाने! वरना, समाज के रवैय्ये के प्रति हमारा तो वैसा ही अनुभव है जैसा कि पंडित जी ने कहा था—'हम यूं ही मर मिटेंगे, तुमको खबर न होगी।'—पंडित जी चले गये और हमें खबर तक भी न हुई और हुई तो बड़ी देर से—कछुए की चाल से।

• इस प्रसंग मे समाज अपने अतीत को भी देखे कि उसने अतीत के अनगिनत उपकारियों के प्रति कैसा रवैय्या अपनाया? भले ही समाज ऐसी हस्तियो को उनके प्रति उनके जीवनकाल मे उन्हे अभिनन्दन देता रहा हो, उनके जयकारे बोल, उन्हे माल्यार्पण करता रहा हो। पर, उसने उनसे कुछ ग्रहण नही किया और जो उन्हें दिया वह अंतिम दिनों उनके काम न आया। यदि अभिनन्दन ग्रन्थ आदि ही से सब कुछ काम हो जाता होता, तो क्यों नही, बीमार के सिरहाने वे रख दिए जाते? जिनसे बीमार की तीमारदारी हो जाय और कोठिया आदि जैसे प्रबुद्धो को तीमारदारी के प्रति चिन्तित न होना पड़े। वस्तुः (शेष पृ. ८ पर)

स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के प्रति :

मनीषी व श्रीमानों के उद्गार

श्री फूल चन्द्र शास्त्री—

'यह शिकायत तो हमेशा से सुनी जाती रही है कि धीरे-धीरे शास्त्रीय पण्डितों का अभाव होता जा रहा है। पर इस समस्या को कैसे सुलझाया जाए, यह बात अभी तक निश्चित नहीं हो पाई है। इसका हल निकलना भी कठिन है।

बात यह है कि स्वराज्य के बाद एक ओर प्रत्येक व्यक्ति का लौकिक जीवन स्तर बढ़ने लगा है और दूसरी ओर महगाई ने चरम सीमा गाँठ ली है। समाज चाहे भी तो यह समस्या सुलझ नहीं सकती।

जो वर्तमान त्यागी-मुनि हैं वे पढ़ने में विश्वास नहीं करते। जब वैसे ही उनकी आहार-पानी आदि की अनुकूलताएं बन जाती है तो वे पढ़े क्यों। उन्हे ठण्ड से बचने के लिए हीटर चाहिए, गर्मी के ताप से बचने के लिए पखा चाहिए, एक स्थान से दूसरे स्थान तक उनके परिग्रह को ढोने के लिए मोटर गाड़ी चाहिए, उनकी सेवा टहल आदि के लिए आदमी चाहिए, ड्राइवर चाहिए। समाज इस सब का प्रबन्ध उनके बिना लिखे पढ़े ही करती हैं। वे फिर पढ़े लिखें क्यों।

मार्ग के विरुद्ध समाज की इस विषय में रुचि का कारण है उसकी चाह। समाज मे कुछ कुटुम्ब ऐसे हैं जो ताबीज आदि में विश्वास करते है। देवी-देवता मे विश्वास करते हैं। त्यागी-मुनि भी ऐसे ही कुटुम्बों की इस कमजोरी को जानते है। इसलिए वे अपने त्यागी-मुनि के जीवन को लौकिक सुख रूप बनाए रखने के लिए इस मार्ग को अपनाते हैं। धर्मशास्त्र तो मूक है। हस्तक्षेप करे तो कैसे करे।

त्यागी मुनि जानते हैं कि ऐसा करने से हम त्यागी मुनि भी बने रह सकते है और लौकिक इच्छाएं भी पूरी कर सकते है। समाज मे ऐसा वर्ग या सम्प्रदाय है जो इसका साधक है। आगम की उसे चिन्ता नहीं, चिन्ता है अपने सुख-सुविधा की। इसलिए वह वर्ग ऐसे त्यागी-मुनियों को पसन्द करता है जो इस वर्ग की ऐसी इच्छा की पूर्ति में सहायक होते हैं। इच्छा की पूर्ति होना अन्य बात है। इच्छा की पूर्ति हो या न हो। यह एक दुकान है जो दोनों के सहयोग से चलती है।

यह वर्तमान स्थिति है, इसलिए हम जानते है कि जो गया, वह गया। इसकी पूर्ति होना असम्भव है। मान्य पण्डित जी श्री कैलाशचन्द्र जी गये, उनकी पूर्ति न हम कर सकते हैं और न कोई अन्य विद्वान भी। वे अपने ढग के बेजोड़ थे। पर्याय अस्थायी है, वह नियम से जाती है। उसका स्थान अन्य नही ले सकता।

आज वे हमारे बीच मे नही है। उनके वियोग को हमे सहना पड़ रहा है। उनका साहित्य हमारे लिए मार्ग दर्शक बने। और मार्ग दर्शक के रूप में हम सदा उनको याद करते रहें यह इच्छा है।'

श्री जगन्मोहन लाल शास्त्री—

'उनकी लेखनी दमदार थी, आगम पक्ष सदा उनके सामने रहता था और समाज की उन्नति उनका ध्येय था। कुरीतियों, धार्मिक शिथिलताओं की ओर उनका कड़ा कदम रहता था। विरोध और निन्दा और अन्याय भी उनको सहना पड़ा, पर पैर पीछे नही किए। वे शूरवीर थे दृढ़ सकल्पी थे। साहित्य क्षेत्र में षटखण्डागम, कषाय पाहुड जैसे वरिष्ठ आगम के सूत्रों की तथा उनकी कठिनतम टीकाओ का अनुवाद करने मे उनका प्रमुख हाथ रहा, अनेक ग्रन्थो की स्वय टीका की, अनेक ग्रन्थों का अनुवाद भी किया।

मेरी उनके प्रति सविनय सप्रेम श्रद्धांजलि है।'

श्री रतन लाल कटारिया—

'काशी के स्याद्वाद महाविद्यालय के वे प्राण थे, उन्होंने आजीवन सुदीर्घ काल तक वहाँ अध्यापन का कार्य किया

था। उनके अनेक शिष्य हैं जो अच्छे पदों पर हैं, कोई लोक सेवा कर रहा है। कोई समाज सेवा कोई साहित्य सेवा। समाज को उन्होने अपनी प्रतिभा का खूब दान दिया। जहाँ भी वे धर्म प्रचारार्थ गये अपने लिए कभी कुछ भेट नही ली। आज ऐसे निःस्वार्थ विद्वान कम ही है। उन्होंने महान सिद्धांत ग्रन्थ जयधवला के सम्पादनादि मे भी पूरा सहयोग दिया।'

श्री ज्ञान चन्द खिन्दूका—

'पं० साहब का जीवन साहित्य-सपर्या के लिए समर्पित था। अनेक ग्रन्थों का सृजन, सम्पादन, अनुवाद कर, अनेक पत्र-पत्रिकाओ का कुशल सम्पादन कर आपने सरस्वती की अभूतपूर्व सेवा की है। स्याद्वाद महाविद्यालय काशी के अधिष्ठाता के रूप मे पंडित जी का समाज के लिए दिया गया, अवदान स्वर्ण अक्षरों में अंकित रहेगा। उनका उदार सामाजिक दृष्टिकोण और तर्कसम्मत विचार धारा उनके निर्भीक भाषणो एव लेखों में स्पष्ट प्रतिध्वनित होती है।

ऐसे महान साहित्य-सेवी, भद्र-परिणामी, सादा जीवन जीनेवाले, सरल एवं निस्पृह व्यक्तित्व के प्रति हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते है।'

श्री प्रेमचन्द जैन, जैना वाच कम्पनी—

'श्रीमान पंडित जी जैसा निर्भीक वक्ता समाज को मिलना अत्यन्त कठिन है तथा उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करना भी संभव नही है। कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी पंडित जी के पग वीतराग मार्ग से नही डगमगाए।

उनकी आत्मा को उत्तरोत्तर काल में संसार बंधन को छेद कर मुक्ति का लाभ हो ऐसी हम प्रार्थना करते हैं।'

डा० निजामुद्दीन—

'सिद्धांताचार्य प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने जैन धर्म दर्शन पर विपुल साहित्य की रचना कर नयी धर्म ज्योति लोगों के अन्तःकरण मे जलाई, एक नयी दृष्टि प्रदान की, नयी प्रेरणा दी। वह जैन धर्म दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनकी विद्वता को बड़ा सम्मान प्राप्त था। वह अनासक्त कर्म योगी थे, जिसका ज्वलंत प्रमाण उनका 'श्री स्याद्वाद महाविद्यालय' (वाराणसी) है।'

श्री पन्नालाल साहित्याचार्य—

'सिद्धांताचार्य प० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री जैन विद्वत् समाज के महनीय विद्वान थे। वे शिक्षक, लेखक, पत्रकारिता और वक्तृत्वकला के पारगामी थे। अर्धशती से अधिक काल तक स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के प्राचार्य पद पर स्थित रहकर आपने सभी प्रान्तो के अनेक बालको को निष्णात विद्वान् बनाया है। धवला तथा जयधवला आदि सिद्धांत के गहन ग्रन्थों की टीका तथा उनकी महत्वपूर्ण विस्तृत प्रस्तावना लिखकर नवीन शोध छात्रों को शोध का मार्ग प्रदर्शित किया है। प्रारम्भ से ही जैन सदेश के प्रधान सम्पादक रहकर अपने सग्रहणीय सम्पादकीय लेखो मे उसकी गरिमा बढ़ाई है। अपने छात्रों को उन्नत पदों पर देखकर आप प्रमोद का अनुभव करते थे। प्राचार्यत्व के काल मे आपने उद्दण्ड छात्रो की उद्दण्डता को पिता के समान सहन कर विनयशील बनाया है। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत परिषद के आप दो बार अध्यक्ष रह चुके हैं। और उसका ऐसा कोई अधिवेशन नहीं रहा जिसमे आप की उपस्थिति न रही हो। आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी के सानिध्य मे चलने वाली षट्खण्डागम की सभी वाचनाओ में उपस्थित रहकर अपने गहन ग्रन्थो की वाचना को सरल एव सुग्राह्य बनाया है।

आपके निधन से जैन विद्वज्जगत् को अपूरणीय क्षति का अनुभव करना पडा है। मैं एक छात्र के नाते उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ उनके लिए सुख शान्ति की कामना करता हू।'

श्री साहू अशोक जैन, अध्यक्ष दि० जैन— तीर्थ क्षेत्र कमेटी

'पंडित जी के वियोग मे यह समाज ज्ञान के पथ मे अनाथ जैसी हो गई है उन्होने अपने जीवन मे समाज को जो दिया है। उसे कुछ शब्दों मे लिखा नही जा सकता। पं० जी वास्तव मे सरस्वती के वरद् पुत्र थे। उन्हे मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि।'

श्री रतनलाल गंगवाल—

'पंडित जी दिगम्बर जैन समाज के एक ऐसे स्तम्भ थे जिन्होने अपने ज्ञान से इस समाज को सदैव आलोकित किया, माता जिनवाणी के वे सच्चे सपूत थे निर्विकार भाव से जीवन पर्यन्त वे समाज का मार्ग दर्शन करते रहे।

मैं पंडित जी के प्रति अपनी श्रद्धापूर्ण विनयांजलि अर्पित करता हूं और उनके परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना।'

श्री डालचन्द जैन, सांसद—

'भारतीय दि० जैन समाज उनके वियोग में आज व्याकुल है। मेरी हार्दिक विनयांजलि।'

श्री साहू श्रेयांसप्रसाद जैन—

'दिगम्बर जैन पण्डितों की परम्परा में प० कैलाशचन्द्र जी ऐसे सुमेरू माणिक्य थे, जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के प्रतीक के रूप में युग-युगान्तरों तक एक जीवन्त तीर्थ के रूप में स्मरणीय रहेंगे। उनकी वीतराग, धर्म दर्शन साहित्य एवं तीर्थ में श्रद्धा अगाढ़ और अविचल थी। पण्डित जी ने अपने गम्भीर चिन्तन, लेखन, सम्पादन, प्रवचन अध्यापन और संस्था निर्माण व संचालन आदि प्रवृत्तियों में रुचि लेकर सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में विशिष्ट सहयोग देकर समाज में स्थायी कीर्तिमान स्थापित किया। समाज को समय पर सही दिशा की ओर उन्मुख करने में पं० कैलाशचन्द्र जी की सूझबूझ बहुत ही प्रशंसनीय मानी जाएगी।

भारतीय परम्परा के मनीषी के प्रति मैं अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

दरबारी लाल कोठिया, सम्पादक —

'कैसे ही मत पर वे आये, श्रोता एकटक होकर उनके धारा प्रवाह भाषण को सुनते थे। उनके श्रोता हजारों या लाखों हों, सभी वे प्रभावित कर लेते थे। वे शास्त्र प्रवक्ता भी असाधारण थे। अष्टान्हिका पर्व पर वे बम्बई गये थे। एक दिन उन्होने आत्म-तत्त्व पर ऐसा प्रवचन किया कि श्रोता मंत्र मुग्ध हो गए। शास्त्र-प्रवचन के बाद एक श्रोता उनके पास पहुंचे और बोले कि पंडित जी ! आप को तो आत्म-साक्षात्कार हो गया होगा।' पण्डित जी ने बतलाया कि कोठिया जी मैं उसका क्या उत्तर देता ?' आत्म-तत्त्व पर बोलना अलग चीज है और उसका साक्षात्कार होना अलग चीज है। आत्म-साक्षात्कार के लिए पूर्ण संयम, इन्द्रिय निग्रह, मनोनिरोध और तपश्चर्या आदि आवश्यक है। पण्डित जी ने यह संस्मरण ज्यों-का-त्यों सुनाया। वास्तव में वे प्रभावक वक्ता थे।

हम शिष्य समुदाय की ओर से उन्हे श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए उनकी आत्मा को शाश्वत शान्ति-लाभ की कामना करते है एवं परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करते है।'—(संकलित)

(पृ० ५ का शेषांश)

यह भी सोचने की बात है कि पंडित जी जैसी धार्मिकता, निर्भीकता, निःस्वार्थता कितनों में है और कितनों में धर्म के प्रति वैसे समर्पण के भाव है जैसे उनमें थे ? पण्डित जी धर्म के सही विवेचन करने मे कभी चूके नहीं—'कह दिया सौ बार उनसे जो हमारे दिल में है।' ऐसे पण्डित जी को हमारे शत-शत नमन।

देखना यह भी होगा कि भविष्य में कितने नवीन-पण्डित अपने को पण्डित जी के रूप में ढाल पाएँग ? आशा तो नहीं कि केवल आजीविका की दौड़-धूप वाले पण्डित पण्डित जी की पण्डित-परम्परा को जीवित रखने में समर्थ हो सकेंगे ! और यह भी आशा नहीं कि केवल नेता-टाइप लोग पण्डितो की कद्र कर सकेंगे—सभी अपने-अपने स्वार्थों में लगे है। आज तो कई मुनियों का यह हाल है कि वे त्याग के स्थान पर संग्रह में और तप के स्थान पर जनता के हित के नाम पर, चिन्ताओं में तप रहे है। ऐसे में कैसे और किनसे पूरा हो सकेगा, पण्डित जी का मिशन !

हमारा विश्वास है पण्डित जी का मिशन तभी पूरा होगा जब पण्डित निःस्वार्थी होंगे, धार्मिक जन पण्डितों की सुख-सुविधा के ध्यान रख उन्हें मान देंगे और त्यागी-मुनि आदि सामाजिक-प्रवृत्तियों से दूर—अपनी आत्म-साधना मे लगे रहेंगे। हम अपने मन्तव्य को इन शब्दों के साथ पूरा करते हैं कि—हम सब पण्डित जी के आदर्श मार्ग पर चलें और जो कुछ करें—धर्म सम्यक धर्म के लिए करें। वीर सेवा मन्दिर परिवार और डा० ज्योति प्रसाद आदि सम्पादक मण्डल (अनेकान्त) पण्डितजी के प्रति सादर श्रद्धावनत हैं।

शिलालेखों के सर्वांगपूर्ण स्तरीय प्रकाशन की आवश्यकता

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

"शिलालेख" शब्द का सामान्य अर्थ है किसी शिला या पाषाणखंड पर अंकित अथवा उत्कीर्ण अभिलेख। किन्तु इसका उपयोग अब व्यापक अर्थों में होता है और इसके अन्तर्गत वे समस्त पुरातन अभिलेख जो किसी स्थान के ऐतिहासिक भवनों, देवालयों, स्तंभों, स्मारकों, मूर्तियों, कलाकृतियों, शिलापट्टों आदि पर उत्कीर्ण या अंकित पाये जाते है, सम्मिलित है। प्राकृतिक या उत्खनित गुफाओं अथवा गुहामंदिरों, तीर्थस्थानों आदि में प्राप्त शिलांकित लेख तथा पाषाण के अतिरिक्त विभिन्न धातुओं से निर्मित मूर्तियों, यन्त्रों, आदि पर अंकित लेख, और दानशासनों के रूप में लिखाये गये ताम्रपत्रों या ऐसे ही अन्य शासनादेशो आदि से युक्त लेख भी इसी कोटि में आते है।

इतिहास के साधनस्रोतों मे शिलालेखीय सामग्री का सर्वोपरि महत्व निर्विवाद है। शिलालेख में जिन व्यक्तियों घटनाओ एवं तथ्यों आदि का उल्लेख होता है, वे उसके अंकित कराये जाने के समय, तथा कभी-कभी कुछ पूर्ववर्ती समय से सम्बद्ध वास्तविक होते हैं, अतएव प्रायः असंदिग्ध रूप से प्रामाणिक होते है। इसके अतिरिक्त, शिलालेख बहुधा सैकड़ो-सहस्रों वर्ष पर्यन्त अपने मूलरूप में प्रायः यथावत बने रहते हैं। भारतवर्ष मे साहित्य सृजन तो विभिन्न भाषाओ मे विविध, विपुल एव उच्चकोटि का होता रहा, किन्तु उसमे ऐतिहासिक विधा उपेक्षित रही— क्रमबद्ध व्यवस्थित शुद्धइतिहासलेखन की यहाँ प्रायः प्रवृत्ति ही नही रही। अतः यदि शिलालेखीय सामग्री प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध न रही होती, तो अनेक युगो अनेक प्रदेशों, राज्यो, राजा-महाराजाओ, एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियो के इतिहास का निर्माण ही असंभव होता। अशोक, मौर्य और कलिंग चक्रवर्ती खारबेल जैसे महान सम्राटो के इतिहास के मूल एवं एकमात्र आधार उन नरेशों के शिलालेख ही है। सातवाहन नरेश गौतमी पुत्र शातकीर्ण की नानाघाट-प्रशस्ति, शक क्षत्रप रुद्रदामन प्रथम की जूनागढ़-प्रशस्ति, सम्राट समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति और चालुक्य पुलकेशिन द्वि० की ऐहोल-प्रशस्ति उक्त नरेशों के व्यक्तित्व एव कृतित्व की एक मात्र एवं समर्थ परिचायक है। गंग, पल्लव, कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, होयसल आदि अनेक राज्यवंशों के इतिहास के प्रधान साधन उनके शिलालेख ही है। गत दो-अढ़ाई हजार वर्षों के जैन इतिहास के पुनर्निर्माण में भी जैन शिलालेखों से ही कल्पनातीत सहायता मिली है, उनसे कई प्रदेशों के, विशेषकर कर्णाटक आदि दाक्षिणात्य देशों के राजनैतिक इतिहास पर भी अभूतपूर्व प्रकाश पड़ा है।

१९वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध मे ही अशोक मौर्य के शिलालेख एवं स्तम्भलेख प्रकाश मे आने थे और स्टरलिंग ने खारवेल का हाथीगुफा शि० ले० खोज निकाला था। तदनन्तर भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के जनरल कनिंघम आदि ने उन्हे यत्र-तत्र प्राप्त अनेक शिलालेखो का परिचय दिया, स्मिथ, लूईस और फुहरर ने मथुरा व आसपास के शि० ले० प्रकाशित किये, लुइसराइस ने मैसूर एव कुर्ग का इतिहास वहाँ प्राप्त शि० लेखों के आधार से लिखा, आर० नरसिंहाचारि ने श्रवण-वेलगोल में प्राप्त शि० लेखो को (एपी० कर्णा०, भा० २ में) प्रकाशित कर दिया। किन्तु उसके पूर्व ही, फ्रांसीसी विद्वान डा० ए० गिरनाट ने १९०८ ई० मे अपने निबन्ध "रिपर्टोयर डी ऐपीग्रेफी जैना" मे उस समय तक ज्ञात समस्त जैन शि० लेखो को प्रकाशित करा दिया था, जिसका सारांश कालान्तर में हिन्दी में जैन सिद्धांत भास्कर (आरा) में भी प्रकाशित हुआ। इस प्रकार, वर्तमान शती के प्रारंभ से पूर्व ही ज्ञात एव उपलब्ध शि० ले० पर विद्वत्तापूर्ण ऊहापोह तथा नवीन शि० ले० की खोज, शोध एव प्रकाशन की प्रक्रिया द्रुतवेग से चल पड़ी थी। परिणामस्वरूप, रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई तथा बंगाल-बिहार-उड़ीसा आदि शाखाओ के जर्नलों, एपीग्राफिया इंडिका, एपीग्राफिया कर्णाटिका, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडिकेरम, इंडियन एन्टीक्वेरी, मद्रास एपीग्रेफीकल रिपोर्ट, मैसूर आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट, साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, इण्डियन आर्कियोलाजी आदि की विभिन्न जिल्दो मे अनगिनत जैनाजैन शिलालेख प्रकाशित हुए। जैन श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध, विशेषकर शत्रुंजय, पाली-

ताना, आबू एवं कतिपय अन्यत्र प्राप्त अभिलेखों का संग्रह स्व० बा० पूर्णचन्द्र नाहर ने अपने "प्राचीन जैन लेख संग्रह" (३ भागों) मे किया, एक अन्य बृहद् सकलन स्व० अगरचन्द नाहटा ने "बीकानेर लेख संग्रह" के नाम से किया था, कुछ एक अन्य भी छोटे-मोटे सग्रह प्रकाशित हुए, और इस प्रकार लगभग ३५०० श्वे० जैन शिलालेख प्रकाशित हो चुके है।

दिगम्बर जैन परम्परा म आधुनिक साहित्यैहासिक शोधखोज के पुरस्कर्त्ताओं मे स्व० प० नाथूराम जी प्रेमी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। डा० गिरनाट की पुस्तक से प्रेरणा लेकर, अपनी परम्परा से सम्बद्ध शिलालेखों के प्रकाशन में उन्होने ही पहल की। फलस्वरूप, श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला समिति, जिसके वह मंत्री थे, के ग्रथांक-२८ के रूप मे, १९२८ ई० म, प्रेमी जी ने जैन शिलालेख सग्रह-भा० का प्रकाशन किया। इस संग्रह का संकलन एवं सपादन उन्होने प्रो० हीरालाल जैन से कराया, जो अपनी विश्वविद्यालयी शिक्षा समाप्त करके कुछ ही समय पूर्व अमरावती के किंग एडवर्ड कालिज मे सस्कृत के अध्यापक नियुक्त हो गये थे। प्रोफेसर सा० ने बडे उत्साह एव परिश्रम से इस भाग में श्रवणबेलगोल एव उसके आस-पास के ५०० अभिलेखों के मूलपाठो का संकलन किया, बहुभाग लेखो का हिन्दी मे सक्षेपसार या अभिप्राय भी साथ-साथ सूचित किया, लगभग १५० पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण ऐतिहासिक प्रस्तावना भी लिखी, अन्त में नामानुक्रमणिका भी दी। इस सग्रह का दूसरा भाग, उसी ग्रंथमाला के ग्रंथांक-४५ के रूप मे १९५२ ई० मे प्रकाशित हुआ, जिसमे ३०२ अभिलेख सग्रहीत हुए। तीसरा भाग, ग्रथाक-४६ के रूप मे १९५६ ई० मे प्रकाशित हुआ, जिसमे ५४४ अभिलेख संग्रहीत हुए। इन दोनो भागों के सकलक प० विजयमूर्ति शास्त्राचार्य थे, किन्तु तीसरे भाग के प्रारभ में स्व० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी द्वारा लिखित लगभग पौने दो सौ पृष्ठ की विस्तृत ऐतिहासिक प्रस्तावना भी है। संग्रह के चतुर्थ एवं पचम भाग के संग्रहकर्ता एवं सम्पादक डा० विद्याधर जोहरापुरकर है। प्रत्येक के प्रारभ में उनकी उपयोगी प्रस्तावना भी है। ये दोनो भाग, क्रमश: १९६४ और १९७१ ई० मे भारतीय ज्ञानपीठ, काशी/दिल्ली से प्रकाशित हुए हैं। चतुर्थ भाग में ६८८ और पंचम में ३७५ अभिलेख संग्रहीत हुए। इन दोनों भागों के प्रारम्भ में ज्ञानपीठ-ग्रंथमाला के प्रधान सम्पादक द्वय, विद्वद्वर्य डा० हीरालाल जैन एव डा० ए० एन० उपाध्ये के उपयोगी प्रधान-सपादकीय वक्तव्य भी प्रकाशित है। इस प्रकार जैन शिलालेख के सग्रह के पाँचों भागो मे कुल मिलाकर साधिक २७०० शिलालेख प्रकाशित हो चुके है। इनके अतिरिक्त, आहार के शि० ले०, देवगढ के शि० ले०, मैनपुरी-एटा आदि के तथा सूरत के यत्र एव प्रतिमालेख पृथक्-पृथक् लघु प्रकाशनो मे प्रकाशित हुए है। नाहटा जी के बीकानेर लेख सग्रह मे भी अनेक दिगम्बर जैन अभिलेख संग्रहीत है, और जैन सिद्धात भास्कर, अनेकात, शोधांक आदि पत्रिकाओ मे भी यत्र तत्र अनेक फुटकर लेख प्रकाशित हुए हैं। अत: अद्यावधि दिगम्बर जैन परम्परा से सम्बद्ध सब मिलाकर लगभग साढे तीन-चार हजार शि० ले० प्रकाश में आ चुके है। यदि देश भर के समस्त जिनमदिरो मे विराजमान, विभिन्न सग्रहालयो मे संरक्षित, तथा प्राचीन पुरातात्विक स्थलो एव भग्नावशेषों मे यत्र-तत्र बिखरी पड़ी खडित-अखडित जिनप्रतिमाओं के पादपीठ आदि पर अकित अभिलेखों का भी आकलन किया जाय तो दिगम्बर जैन परम्परा से सबधित शिलालेखों की संख्या दश सहस्र से भी अधिक होने की संभावना है।

जो शिलालेख, जिस रूप मे भी प्रकाशित है, उनसे अनेक जैन राज्यवशों, जिनधर्म के पश्रयदाता अथवा उसके प्रति सहिष्णु राजाओं-महाराजाओं, राजमहिलाओ, राजपुरुषो, सामन्त-सरदारो, मन्त्रियों और सेनापतियो, धर्मप्राण श्रेष्ठियो, साहित्यकारों और कलाकारो, श्रावकों-श्राविकाओ, विभिन्न मुनिसघों एव उनके प्रभावक्षेत्रों, प्रभावक आचार्यों, मुनिराजो एवं आर्यिकाओ, अनेक तीर्थों एव सांस्कृतिक केन्द्रों, मदिरो आदि धार्मिक निर्माणों, सस्थाओ एव प्रवृत्तियों के विषय मे प्रभूत उपयोगी एव रोचक ज्ञातव्य प्राप्त हुए है। तथापि यह जानकारी बहुत कुछ स्थूल, सतही या अपर्याप्त ही है। यह युग गभीर तलस्पर्शी शोध-खोज और अनुसधान का है। उस दृष्टि से प्रकाशित शिलालेखों का जो रूप एवं विवरण प्राप्त हैं

वह सदोष एवं अपर्याप्त है। प्राप्त शिलालेख प्राकृत, सस्कृत, कन्नड, तामिल, तेलेगु आदि विभिन्न भाषाओ के हैं। लिपि भी कई प्रकार की प्रयुक्त हुई है। काल और क्षेत्र के भी अन्तर है। जिन अग्रेजी प्रकाशनो से वे लिए गए है उनमें वे बहुधा रोमन लिपि मे प्रकाशित है और उनका अविकल शब्दानुवाद क्वचित् ही प्रस्तुत किया गया है। अतएव उपरोक्त जैन शिलालेख-संग्रहो मे प्रकाशित अभिलेखो के पाठ मुख्यतया उक्त अग्रेजी प्रकाशनो पर से लिए गए होने के कारण बहुधा सदोष, त्रुटिपूर्ण अथवा अशुद्ध भी है—वे सर्वथा एव सर्वत्र यथावत भी नही है। सग्रहो मे अनेक शिलालेखो का तो मूल पाठ भी नहीं दिया गया है, केवल सामान्य परिचय या सक्षिप्त अभिप्राय से ही सन्तोष कर लिया गया है। सग्रहो के सकलको-सम्पादको को शिलालेखो की भाषाओ, विशेषकर कन्नड़, तमिल, तेलेगु आदि का प्राय कोई ज्ञान रहा प्रतीत नही होता। इस कारण उनके द्वारा प्रदत्त अभिलेखो के परिचय या मतव्यसारादि भी अनेक बार अनुमानपरक, सदोष या भ्रात हो गए है। शिलालेखो के मूल सदर्भ भी अनेक बार सदोष एव अपर्याप्त है।

वस्तुत:, जैसा कि जैन-शिलालेख सग्रह, भाग-४ के प्रधान सपादको डा० हीरालाल जी एव डा० उपाध्ये जी ने अपने सयुक्त वक्तव्य (पृ० ७-८) मे स्वय स्वीकार किया है, "लेखो का जो मूलपाठ यहा प्रस्तुत किया गया है, वह सावधानीपूर्वक तो अवश्य लिया गया था, तथापि उसे अन्त-प्रमाण होने का दावा नही किया जा सकता। कन्नड लेखो का यहाँ जो देवनागरी मे लिखा गया है उसमे भी लिपि भेद से अशुद्धियाँ हो जाना सभव है। आगे पीछे विशिष्ट विद्वानो द्वारा पाठ व अर्थ सशोधन सम्बन्धी लेख लिखे ही गए होगे। अतएव विशेष महत्वपूर्ण मौलिक स्थापनाओ के लिए सशोधको को मूल स्रोतो का भी अवलोकन कर लेना चाहिए—कन्नड लेखो का जो सार हिन्दी मे दिया गया है उसीके आधार मात्र से कोई नई कल्पनाए नही करना चाहिए। यथार्थत: ये लेख सग्रह सामान्य जिज्ञासुओ के लिए तो पर्याप्त है, किन्तु विशेष सशोधको के लिए तो ये मूल सामग्री की ओर दिग्निर्देश मात्र ही करते है।"

"कुछ न होने की अपेक्षा कुछ तो हुआ" मात्र इतने से ही सतोष कर लेने से अब काम नही चलता। स्वयं हमने उपरोक्तरीत्या प्रकाशित प्राय: सभी जैन शिलालेखों का अवलोकन अनेको का गंभीर अध्ययन एव मथन भी किया है, और अनुभव किया है कि अनेक बार उनके गूढार्थों, उनमे अन्तर्निहित ऐतिहासिक तथ्यो आदि को सम्यक् रूप से समझ लेना कितना समय एव श्रमसाध्य है, फिर भी मन को पूर्ण सतोष नही होता। इस विशेषज्ञता, शोध-खोज एव अनुसधान के युग मे संदर्भ ग्रथो एव मौलिक साधन-सामग्री यथा पुराभिलेख आदि, का शुद्ध, निर्दोष, सर्वांगपूर्ण सम्पादन-प्रकाशन अत्यावश्यक है।

अस्तु, जो शिलालेख आगे से प्रकाशित किये जाए; चाहे वे उपरोक्त जैन-शिलालेख-सग्रह के षष्ठमादि भागों के रूप मे हो, अथवा उक्त सग्रह के प्रथम, द्वितीय एव तृतीय भाग जो अब प्राय: अप्राप्य हो गए है, उनके पुनर्मुद्रण-प्रकाशन के रूप मे हों, अथवा क्षेत्र विशेष या युग-विशेष से सबधित अभिलेखो के स्वतत्र या सस्थागत प्रकाशित संग्रह हो, अथवा नवप्राप्त एकाकी अभिलेख ही हो, प्रत्येक अवस्था मे (१) शि० ले० का प्राप्तिस्थल, भाषा, लिपि, आकार-प्रकार आदि सक्षिप्त परिचय और स्पष्ट स्रोत-सदर्भ, (२) अभिलेख का यथासभव यथाप्राप्त शुद्ध-पाठ, (३) उसका अन्वयार्थ, (४) अविकल हिन्दी अनुवाद, (५) विशेषार्थ या आवश्यक टिप्पणी आदि, दिया जाना अत्यावश्यक है। जिस भाषा मे अभिलेख उपलब्ध है, उसके संपादक को उक्त भाषा का अधिकारी विद्वान होना चाहिए अथवा ऐसे विद्वान के सहयोग से ही उसका सपादन-अनुवादादि करना आवश्यक है। किसी प्रौढ़ एवं अनुभवी इतिहासज्ञ विद्वान तथा पुराभिलेख-विशेषज्ञ का सहयोग भी अपेक्षित है।

यदि जैन शिलालेखो के जो भी सग्रह अब प्रकाशित हो वे उपरोक्तरीत्या सपादित हो तो फिर उनके लिए उनके अध्येताओ एवं सशोधको को अग्रेजी आदि विदेशी भाषाओ के उन प्रकाशनो की खोज मे नही भटकना पड़ेगा जो स्वयं सर्वथा निर्दोष या पूर्ण भी नही है। यह समय की महती आवश्यकता है और उससे जैन इतिहास के सम्यक् पुनर्निर्माण में अपूर्व सहायता मिलेगी।

—चारबाग, लखनऊ

वस्त्रधारी भट्टारक कब से हुए

□ श्री रतनलाल कटारिया

'भट्टारक' शब्द पूज्यार्थ में प्रयुक्त होता है (राजा भट्टारको देवः–अमर कोष) संस्कृत कोषों मे राजा, भट्टारक और देव ये ३ शब्द पूज्य अर्थ में भी बताए हैं यथा—आ० श्री सूर्यसागर जी महाराज, भट्टाकलक, समन्तभद्र देव। पहिले सभी नग्न दिगम्बर साधु इसी अर्थ में भट्टारक भी कहलाते थे किन्तु वनवास छोड़कर जब ९-१०वी शताब्दी से चैत्यवास–नगरवास प्रारम्भ हुआ और दि० साधु भी मठाधीश हुए तो यह पूज्य शब्द भी बदनाम हो गया। भ्रष्टाचार, अनाचार, शिथिलाचार से ऐसे ही अनेक उच्च शब्द हीन बन गये है। जैसे—"पाखडी" (पापं खण्डयति, पाखण्डाः सर्वलिगिनः) पाप का खण्डन करने वाले सब संप्रदाय के साधुओं को कहा जाता था किन्तु बाद में यह मायावी धूर्त्त अर्थ मे हो गया। इसी प्रकार के कुछ शब्द निम्नांकित हैं (अति परिचय से भी अवज्ञा (व्यग) हो जाता है) १. बुद्ध=बुद्धू। २. नग्न=नागा। ३. चार्वाक (चारुवाक्)=चालाक। मुंडी=मोडया। ५. लुंचक (लोच करने वाला)=लुच्चा। ६. मस्करि पूरण=मस्करा। ७. ध्रुवपद (ध्रुपद)=धुरपट। ८. कर्महीन (सिद्ध)=करमहीन (अभागा)। ९. निःकर्म (सिद्ध)=निकम्मा। १०. महत्तर=महतर (भंगी)। ११. भद्र=भद्दा, भद्दर। १२. हजरत, उस्ताद, गुरू, दादा=चंट। १३. रामायण=रामाण (विसवाद)। १४. महाभारत=युद्ध। १५. वक्ता=बकता। १६. हिन्दी (अनुवाद) करना=निंदा करना। १७. महाजन=महाजिन्द। १८. राग (प्रेम)=रहस्य। नग्न भट्टारकों ने वस्त्र कब कैसे धारण किया? नीचे इस पर विचार व्यक्त है :—

भट्टारक पद्मनन्दि के गुरु भट्टारक प्रभाचन्द्र जी का पट्टकाल "भट्टारक संप्रदाय" पुस्तक के पृष्ठ ९१ पर विक्रम सं० १३१० से १३८५ तक का लिखा है और वही बाहुबली चरित (धनपालकृत अपभ्रंस) के कुछ पद्य उद्धृत है जिनमें प्रभाचन्द्र का हाल इस प्रकार दिया है :—"श्री प्रभाचन्द्र बहुत से शिष्यों के साथ पाटण खंभात धारा देवगिरि आदि में विहार करते हुए मिथ्यामतों का खडन करते हुए योगिनीपुर (दिल्ली) मे आये। वहां भव्य जीवों ने उन्हें महोत्सव के साथ रत्नकीर्ति के पट्ट पर बैठाया। वहां उन्होंने विद्या से वादियो के मत का भजन करके महमद शाह के मन को रजायमान किया।"

यहां महमद शाह को खुश करने की बात लिखी है इससे उस किंवदन्ती का संकेत मिलता है जिसम कहा जाता है कि—बादशाह ने भट्टारक से यह विनती की थी कि हमारी बेगमे भी आपका दर्शन करने को बड़ी उत्सुक हैं। अतः आप उन्हे दर्शन देने को वस्त्र धारण कर ले। इस प्रार्थना पर भट्टारक जी ने वस्त्र धारण प्रारम्भ किया था।

वस्त्र धारण की प्रथा इन प्रभाचन्द्र ने चलाई ऐसा 'जैन सन्देश' शोधांक २६ नवम्बर सन् ६४ के अक मे पृ० ३५८ पर लिखा है। "बुद्धिविलास" पृष्ठ ८४ से ८८ तक मैं भी इस सम्बन्ध का वर्णन है। वहां फिरोज शाह के वक्त में प्रभाचन्द्र ने वस्त्र धारण (लगोट धारण) किया लिखा है।

'बाहुबली चरित' के उक्त पद्यों मे जो महमद शाह का नाम लिखा है उसकी जगह 'जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह' भाग २ पृष्ठ ३३ में "महमूद" पाठ है।

'भारतवर्ष का इतिहास' (पाठ्य पुस्तक) मे नासिरुद्दीन महमूद (दिल्ली के बादशाह) का राज्यकाल सन् १२४६ से १२६६ यानि विक्रम सं० १३०३ से १३२३ तक का बताया है। यही समय प्रभाचन्द्र के पट्ट का पड़ता है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रभाचन्द्र ने जिस बादशाह के मन को रंजित किया था वह बादशाह नासिरुद्दीन महमूद था। उसने सादा जीवन बिताया था। 'भट्टारक

संप्रदाय' पृ० ६४ में भी इसी बादशाह का उल्लेख है।

वस्त्र धारण की शुरुआत प्रभाचन्द्र ने फिरोजशाह के वक्त में की है जैसा कि बुद्धि विलास में लिखा है। यह फिरोजशाह जलालुद्दीन खिलजी हो सकता है। जिसका राज्य काल 'भारतवर्ष का इतिहास' में विक्रम सं० १३४७ से १३५३ तक बताया है। फिरोजशाह तुगलक तो वह नही हो सकता क्योंकि तुगलक का राज्यकाल विक्रम स० १४०८ से १४४५ तक का है। (सन् १३५१ से ८८ देखो भट्टारक संप्रदाय पृ० ६४ टिप्पण नं० ३६)।

प्रश्न :—वसन्त कीर्ति पहले ऐतिहासिक भट्टारक प्रतीत होते है इन्हें वनवासी और शेर द्वारा नमस्कृत कहा है। श्रुतसागर सूरि के अनुसार ये ही मुनियों के वस्त्र धारण के प्रवर्त्तक थे। यह प्रथा इन्होने मोडलगढ़ मे आरम्भ की थी। इनकी जाति बघेरवाल थी। विक्रम स० १२६४ को ये पट्टारूढ़ हुए थे (देखो "भट्टारक सप्रदाय" पृ० ९३) तब भट्टारक प्रभाचन्द्र (विक्रम स० १३४७ स १३५३) द्वारा वस्त्रधारण का प्रारम्भ कैसे बताया जाता है ?

उत्तर—षट् प्राभृत टीका पृ० २१ मे श्रुतसागर न अपवाद वेष के रूप में लिखा है कि कालकाल म म्लेच्छादि लोग नग्न रूप देख मुनियो पर उपद्रव करते है अत: वसन्त कीर्ति ने यह उपदेश दिया कि—"चर्यादि के समय चटाई आदि के द्वारा शरीर को ढंक ले, चर्या के बाद उस छोड़ दे।" श्रुतसागरसूरि ने अपवाद वेष को मिथ्यात्व बताया है। पहिले चटाई टाट आदि का ही प्रयोग हुआ था वह भी कुछ काल विशेष के लिए, सदा वस्त्र धारण (सूती) का प्रचलन नही हुआ था। यह प्रभाचन्द्र के वक्त से ही प्रारम्भ हुआ है। यह विशेषता है।

वसन्त कीर्ति व्याघ्राहि सेवित: शीलसागर:॥ "भट्टारक संप्रदाय" पृ० ८९ के इस श्लोक का जो पृ० ९३ मे "शेर द्वारा नमस्कृत" अर्थ किया है वह सही सगत प्रतीत नहीं होता। उसका अर्थ "बघेरवाल" होना चाहिए।

प्रश्न :—पुलाक बकुश कुशील को भावलिंगी साधु माना है और मूलादि गुणों में दोष लगाना इनका स्वरूप माना है तब वस्त्र धारण कर लिया वह भी परिस्थिति वश कालदोष से तो क्या हानि है ?

उत्तर :—ऐसा नही है, दोष लगाना किसी भी भावलिंगी का स्वरूप या लक्षण नही है। अबुद्धि पूर्वक लगना और बात है और बुद्धि पूर्वक चलाकर दोष लगाना अन्य बात है। अतिचार-दोष लगने पर उनका प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रायश्चित्तादि किया जाता है ताकि गलती की पुनावृत्ति न हो। किन्तु जो सदा जान-बूझकर दोष लगाता है और उन्हे उपेक्षणीय क्षन्तव्य मानता है यहाँ तक कि दोष को दोष ही नही मानता, उन्हें स्वरूप और जायज मानता है वह जैन साधु नही हो सकता। आज प्राय: यही हो रहा है। श्रावको का काम साधुओं का संयम पलाना है किन्तु आज नही सच्चा मुनिभक्त है जो सबसे बड़ा कहलाने की धुन मे, चतुराई के साथ साधुओ का सयम बिगाड़ता है। जो उसका विरोध करते है उन्हे मुनि-निंदक कहा जाता है। संसार भी बडा विचित्र है। साधु भी मीठे जहर को नही पहचानते। न यही सोच पाते है कि हम अपना ही अहित नही कर रहे है किन्तु जिन-मार्ग=परम्पराग का विघात कर रहे है। श्रावक भी यह नही सोचते कि—साधुओं ने एक तरह स उनके ही भरोसे घर-बार छोड़ महाव्रत अंगीकार किया है—दीक्षा ग्रहण की है तब हम मिथ्यामोह वश उनका सयम घातकर उनके साथ विश्वासघात तो नहीं कर रहे है ? इसी का परिणाम है कि—आज पवित्र साधु संस्था मलिन दूषित नष्ट भ्रष्ट आलोच्य गौरवहीन हो रही है। आज किसी को इसका अन्तस्ताप नही दिखता।

नग्न दिगम्बरत्व सिर्फ कुन्दकुन्द की परम्परा नही है किन्तु जैन परम्परा है जैन ही नही सारी प्रकृति और ससार इसी मुद्रा (नग्न दिगम्बरत्व) से अंकित है चाहे पशु हो पक्षी हो जन्मजात मनुष्य हो अजीव तक हो सभी जगत जैनेन्द्र मुद्रा से ही अंकित है। कोई भी वस्त्रालंकार से युक्त पैदा नही होता।

सर्व पश्यत वादिनो जगदिद जैनेन्द्रमुद्रांकित ॥

"मोक्षशास्त्र" (उमास्वामीकृत) जैनो का बाइबल सर्वमान्य ग्रन्थ है, दि० श्वे० दोनो इसे मानते हैं। बहुत से भाई सोचते है कि—इसमे कही भी नग्नत्व का प्ररूपण नही है किन्तु यह सोचना उनका भूल भरा है। क्योंकि इसके अध्याय ९ सूत्र ९ म "शीतोष्णदशमशकनाग्न्य..."

रूप में २२ परिषह बताये हैं। सूत्र ८ "मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्या: परीषहा:" में मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्म निर्जरा के लिए इन २२ परीषहों को सहन करना बताया है। इस प्रकार परिषह साधु जीवन की नीव है बिना नग्न परिषह धारण किये वह जिनमार्ग से च्युत माना गया है। जहाँ मूल मे ही नग्नत्व का प्ररूपण किया गया हो वहाँ उसका अभाव बताना अज्ञान है। साधुओं के लिए सब परीषहों का सहन करना आवश्यक बतामा है। बिना नग्नत्व के शीतोष्ण दशमशक (सर्दी, गर्मी, डांस-मच्छर की) परिषह भी सम्भव नही अतः नग्नत्व प्राथमिक और आवश्यक है। तृण स्पर्श, मल, शय्यादि परिषह भी नग्नत्व में ही पूर्ण फलित होती है। अत नग्नत्व का लोप करना जैनधर्म का ही लोप करना है। दि० श्वे० के भेद को मिटा कर श्वेताम्बर=विकृत मार्ग को ही पुष्ट करना है अतः जैन साधु का वस्त्र धारण करना जिनशासन का दूषण है अपराध है किसी भी स्थिति में योग्य नही। अजैनो मे भी नग्नत्व को परम हस का रूप माना है। जैन निर्ग्रन्थ के लिए वस्त्र धारण करना निन्द्य है दोषास्पद है अपने पद और नाम के विरुद्ध है। संसार के सब धर्मों से जैन की अलग पहचान नग्नत्व ही कराता है। ऐसे जगत् के भूषण नग्नत्व के लिए अनन्तशः वन्दन !

"वीरवाणी" पृ० २१४ (१८ जून ८८ अक) मे "एक ऐतिहासिक गुटका" (वि० स० १६८५ म लिखित) निबध मे बताया है कि—

"सवत् १३१० में भट्टारक प्रभाचन्द्र जी के समय मे नगर दिल्ली में पातसाह फिरोज शाह पठाण की में प्रतिष्ठा हुई सवा करोड़ रुपये लागे। एक बार पातसाह फिरोजशाह ने हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों की शिकायत पर सिपाही भेजे तब भट्टारक जी की पालकी बिना कहारों के चलकर आई और सिपाहियों के हाथ यों के यों रह गए, मुह बांके हो गये, जुबान बन्द हो गई। बादशाह ने सुनी तो आकर हाथ बांध कर भट्टारक जी के चरणों मे गिरा और बोला—मेरा कसूर माफ करो।

फिर बेगमों ने बादशाह से कही—ऐसे औलिया(संत) के दर्शन हमको भी करावो। बादशाह ने भट्टारक जी से अर्ज करी कि—बेगमें दीदार करना चाहती हैं। यह वक्त नगन रहने का नही, आप दूसरे खुदा हो सो एक लगोट तो लगाना ही चाहिये। भट्टारक जी की स्वीकृति पा बादशाह ने लाल लगोट कराई फिर सिंदूरिया वस्त्र भी भट्टारक जी ने ग्रहण किया सं० १३१० से यह वस्त्र रखने की प्रथा शुरू हुई।"

Note—इतिहास मे इस फिरोजशाह (जलालुद्दीन खिलजी) का समय वि० स० १३४७ से १३५३ है। अत: १३१० संवत् के साथ इसकी संगति नही बैठती। स० १३१० भट्टारक प्रभाचन्द्र का पट्ट पर बैठने का है। इस घटना के समय का ठीक से निश्चय न होने के कारण वही स० १३१० लिख दिया गया हो। इतिहासज्ञों को ठीक निर्णय करना चाहिये। फिरोजशाह का समय १३१० नही है।

—केकड़ी (अजमेर) ३०५४०४

जो सिद्धान्त ज्ञान आत्मा और पर के कल्याण का साधक था आज उसे लोगों ने आजीविका का साधन बना रखा है। जिस सिद्धान्त के ज्ञान से हम कर्म कलंक को प्रक्षालन करने के अधिकारी थे। आज उसके द्वारा धनिक वर्ग का स्तवन किया जाता है यह सिद्धान्त का दोष नहीं, हमारे मोह की बलवत्ता है—

—वर्णी-वाणी I पृ० १८३

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अनिवार्य-कारण

श्री मुन्ना लाल जैन, 'प्रभाकर'

अनादि काल से जीव के साथ दर्शन मोह (मिथ्यात्व) लगा हुआ है। जिसके कारण यह जीव संसार की ८४ लाख योनियों में भटक रहा है। और दुःख सह रहा है। सुखी होने के उपाय भी करता है, परन्तु सिद्धि नही होती क्योंकि सुखी होने के सच्चे उपाय का इसको पता नहीं है। वह सच्चा उपाय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हैं। उसके बिना अनेक उपाय करने पर भी दु.खों से छुटकारा नही पाता जैसे कि पं० प्रवर प० दौलत राम जी ने 'छह ढाला' में कहा है, "मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो। ताते जिन-वर कथित तत्व अभ्यास करीजे, सशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजे।" तथा मंगत राय जी ने बारह भावना में कहा है, 'वीतराग सर्वज्ञ दोष बिन, श्री जिन की वाणी सप्त तत्व का वर्णन जामें, सो सबको सुख दानी ॥ बार-बार इनका चितवन कर श्रद्धा उर धरना। मंगत इसी जतन ते भव सागर तरना ॥' तथा इसी सम्यग्दर्शन को मोक्ष प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी भी कहा है इसके बिना शास्त्रों का बहुत ज्ञान तथा क्रियाए भी सम्यकपने को प्राप्त नही होती, 'मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा, सम्यकता न लहे सो धारो भव्य पवित्रा।' इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के विषय मे प० प्रवर प० टोडरमल जी ने कहा है, 'भला होनहार है ताते जिस जीव के ऐसा विचार आये है कि मै कौन हू मेरा कहा स्वरूप है। यह चरित्र कैसे बन रहा है? मुझे इन बातन का ठीक करना ऐसा विचारते अति प्रीतिकर शास्त्र अध्य-यन करने को उद्यमवत होता है, सप्त तत्वों के स्वरूप को जानकर उनका विचार करता है। जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का सच्चा उपाय है।' पृष्ठ २५, अब सम्यग्दर्शन कब प्राप्त होता है। उसके लिये अष्टसहस्री पृ० २५७ में भट्टाकलंक देव ने कहा है—

'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्चतादृशा।
सहायास्तादृशा: सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥'

जिस जीव की जैसी होनहार होती है। उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है और उसे सहायक (निमत्त भी) उसी प्रकार के मिल जाते है। (भवितव्यता की व्युत्पत्ति) भवितु योग्यं भवितव्यम् तस्य भावा: भवितव्यता जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता है। हमारी दृष्टि से इसलिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति केवल पुरुषार्थ से मानना आगमानुकूल नही बैठता। क्योंकि सम्यग्दर्शन रूपी कार्य की सिद्धी मे पांच समवाय नियमत: होते हैं। उपादान (पदार्थ की कार्य रूप होने की योग्यता अर्थात (स्वभाव) पुरुषार्थ, काल, नियति और निमित्त इन पांच कारणों को सूचित करते हुए बनारसी दासजी नाटक समय सार मे कहते हैं।

'पद सुभाव पूरब उदय, निहचै, उद्यमकाल
पक्षपात मिथ्यातपथ सरवगी शिवचाल ॥

इसका आशय इतना है कि किसी एक कारण मात्र से सम्यग्दर्शन रूपी कार्य की सिद्धि मानना एकान्तवाद होगा। गोमट्टसार कर्मकाण्ड गाथा ८७९ से ८८३ मे भी पाँच प्रकार के एकान्तवादियों का कथन आता है। उसका आशय भी यही है कि जो इनमें से किसी एक से कार्य की सिद्धि मानता है वह मिथ्या मान्यता है और जो इन पांचों के समवाय को स्वीकार कर उनसे कार्य सिद्धि मानता है उसकी मान्यता सच्ची है। अब रही मिथ्यात के काल की बात। सो वह अनादि अनन्त और अनादि सांत दो भागो मे विभक्त है क्योंकि सर्वत्र अनत (जिसका कभी अन्त नही होता) मानेंगे तो मिथ्यात् का कभी अन्त नहीं होगा, जबकि अनंते भव्य मिथ्या दृष्टियों ने मिथ्यात का नाश

करके निर्वाण प्राप्त किया है।

मो० मा० प्र० पृ० ८० पर कहा है—

'कषाय उपशमने ते दुःख दूरि होय जाय सुखी होय परन्तु इनकी सिद्धि इनके किये उपायन के आधीन नाही, भवितव्य के आधीन है। जातें अनेक उपाय करते देखिये अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने अधीन नाहिं। भवितव्य के अधीन है। जातै अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिये है। बहुरि काकतालीयन्याय करि भवितव्य ऐसा ही हो। जैसा अपका प्रयोजन होय तैसा ही उपाय होय अर तातै कार्य की सिद्धि भी होय जाय।'

इसलिये सम्यक्त की प्राप्ति मे पाचो ही समवाय को मानना पड़ेगा। यदि इनमे से एक भी समवाय का अभाव होगा तो बाकी चारों समवाय भी न होंगे इसलिए अकेले पुरुषार्थ से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मानना आगमानुकूल नही है। इनके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन से पहले पाच लब्धियों का होना अति आवश्यक है उनके बिना भी सम्यक्त्व नही होता। इनमें भी चार लब्धियाँ, क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना तथा प्रायोग तो अनेका बार (भव्य तथा अभव्यो के भी हो जाती है) वहा भी सम्यग्दर्शन होने का नियम नही है। हाँ पांचवी करणलब्धि के होने पर सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने का नियम अवश्य है इसके लिये भी प० टोडरमल जी ने कहा है—

जाकै पूर्व कही च्यारि लब्धि तो भई होय,
अर अंतर्मुहुर्त पीछै जाकै सम्यक्त होना होय।

तिसही जीव कै करण लब्धि हो है सो इस कारण लब्धि वाला के बुद्धि पूर्वक तो इतना ही उद्यम हो है— जिस तत्व विचार विषै उपयोग तद्रूप होय लगावे।

(मो० मा० प्र० पेज ३८६)

इस करण लब्धि की प्राप्ति उसी जीव को होती है। जिसको अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन होना होता है। इसके लिये कहा है—"जैसी जस भवितव्या तैसी मिले सहाय। आपु न आवे ताहि पर ताहि तहाँ ले जाय।' इसका अर्थ— अपना बस होनहार पर नहीं चलता किन्तु बुद्धि होनहार के अनुसार हो जाती है। ये संसार में देखने में भी आता है कि कोई भी माता-पिता अपनी सन्तान को खोटे मार्ग पर नही लगाना चाहते और अच्छे मार्ग पर चलाने का पूरा प्रयत्न भी करते है परन्तु बहुतों की सन्तान जिनकी होनहार बुरी है—उनको अपने माता-पिता की अच्छी शिक्षा अच्छी नहीं लगती। खोटी संगति वालों की बातें अच्छी लगती है और खोटे मार्ग पर चलने लगते हैं। ऐसे अनेकों दृष्टान्त देखने मे आते हैं।

छहढाला की पहली ढाल में भी कहा है—"तहतें चय थावर तनधरे, यों परिवर्तन पूरे करे।' अर्थात मिथ्यात्व के काल में पांच परावर्तनों को अनेक बार पूरे कर लेते है। इसका यह अभिप्राय है कि इस जीव का ज्यादा समय एक इन्द्रिय में ही व्यतीत होता है क्योंकि वहाँ पांचों परावर्तनो का काल अनन्त नहीं 'हां बहुत है और जब मिथ्यात्व का काल अल्प समय रह जाता है तो उसे अर्धपुद्गल परावर्तन कहते हैं। और तभी वह अपने को तथा ससार को समझने का प्रयत्न करता है तब भव्य को सम्यकता की प्राप्ति होती है। कहा भी है— 'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स: भवेद्भव्यो भाविनिर्वाण भाजनम्' (पद्मनंदि पंच विंशतिका (एकत्वशीर्तव : २३) इससे यह मालूम होता है कि जो भव्य है, उसके मिथ्यात्व का काल अनन्त नहीं है क्योंकि मिथ्या दृष्टि ही मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। अब रही यह बात कि सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होती है? उसके लिए कहा है—

'तातै जिनवर कथित तत्व अभ्यास करीजे,
सशय, विभ्रम, मोह त्याग आपो लखि लीजे।'

तत्व अभ्यास के लिए पहिले आगम के द्वारा सातो तत्वो के अर्थ को समझना, फिर उसका बार-बार चिन्तवन करना श्रेयकर है। सारे आरम्भ और कषाय भावों से उपयोग को हटाकर तत्त्व विचार में लगाना चाहिए। क्योंकि तत्व विचार करने का और दर्शन मोहनीय की स्थिति कम होने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है अर्थात् जब यह तत्व अभ्यास में उपयोग को लगाता है तब दर्शन-

मोह घटते-घटते उपशम अवस्था को प्राप्त हो जाता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का यही सच्चा उपाय है। जब यह जीव इस उपाय को करता है तो पाँचों समवाय होते हैं; कोई किसी के आधीन नहीं है। क्योंकि जिस कार्य (सम्यग्दर्शन) का जिस समय पुरुषार्थ करता है वो समय ही उस कार्य की सिद्धि काललब्धि है और जिसका विचार करता है वह निमित्त, उसका फल होनहार (भवितव्यता) और जीव की सम्यग्दर्शन के रूप होने की योग्यता उपादान इसलिए अकेले पुरुषार्थ के आधीन सम्यक्त्व की प्राप्ति मानना ठीक नहीं। टोडरमल जी ने भी मिथ्यात का काल अनन्त न मानकर (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३७९ पर कहा है कि—'याका उद्यम तो तत्त्वविचार का करने मात्र ही है।' इसका आशय वहां अन्य समवायो का निषेध करना नहीं है और जहां तत्त्व उपदेश भी नही है वहां (नरक में) भी पूर्व उपदेश के संस्कार होते है, वहा भी तत्त्व विचार करने से दर्शनमोह की स्थिति घटकर अत: कोटाकोटि प्रमाण रह जाती है और वह मिथ्यात अवस्था मे ही घटते-घटते उपशम अवस्था को प्राप्त हो जाती है और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इसके सम्बन्ध मे प० जी ने यहां तक कह दिया है कि—'कषाय उपशमने तैं दुःख दूर होय जाय सो इनकी सिद्धि इनके किये उपायन के आधीन नहीं भवितव्य के आधीन है। जातें अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय होता न देखिये है बहुरि काकतालीय न्याय करि भवितव्य ऐसा ही होय जैसा आपका प्रयोजन होय तैसा ही उपाय होय अर तातें कार्य की सिद्धि भी होय जाय। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहिं भवितव्य के आधीन है (पृ० ७९) पं० दौलतराम जी ने भी कहा है—'आतम के अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय।' इन सबका यही तात्पर्य है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कषायों को कम करके तथा आरम्भ और परिग्रह का भी परिमाण करके और अपनी मान्यता का भी पक्षपात छोड़कर शान्त चित्त से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सात तत्त्वो का चिन्तन करना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय है जिस समय यह भव्य जीव तत्त्वों का विचार करता है तब वही समय इसके कार्य की सिद्धि की लब्धि है तथा तत्त्व विचार पुरुषार्थ है। तत्त्व विचार करना इस जीव का अपना कार्य है इसलिए आचार्यों ने पुरुषार्थ करने का उपदेश दिया है जिससे यह जीव आलसी न हो जाय। वहां भी पंच समवाय के निषेध से तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य मात्र इतना है कि हम अपने उपयोग को जितनी शक्ति संसार कार्यों में लगाते हैं, उतनी शक्ति तत्त्व विचार करने में लगाएं।

एक दृष्टान्त मरीचि का देखिए, मरीचि भगवान आदिनाथ का पोता था और जब वह भगवान के समोशरण में बैठा था तब उसको बताया कि वह आगे चलकर महावीर नाम का अन्तिम तीर्थंकर होगा। क्योंकि उसके तीर्थंकर होने में उस समय बहुत काल था, उसकी होनहार अभी अच्छी नहीं थी। उसको बहुत काल तक संसार में कई भव धारण करने थे, इससे भगवान की वाणी सुनने पर भी उसकी बुद्धि स्वच्छद होने की हो गई और जब उसका संसार निकट आ गया अर्थात् उसकी होनहार अच्छी आ गई तो सिंह की पर्याय में भी उसकी बुद्धि संयम धारण करने की हो गई। इन सभी से सिद्ध होता है कि उपाय करने की बुद्धि भी भवितव्य के आधीन है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है—

'जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि।
त तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि॥
को सक्कइ चालेंदु इदो वा अहमिंदो जिणदो वा।'

अर्थात् जिस जीव का जिस देश में जिस निमित्त से जब जैसा होना होता है उस जीव का उसी देश में उसी निमित्त उसी समय वैसा ही होता है, उसे टालने में इन्द्र या जिनेन्द्र भगवान भी समर्थ नही हैं और भी कहा है—

'कारज धीरे होत है काहे होत अधीर।
समय आये तरुवर फरे केतो सींचों नीर॥

अर्थात् समय आने पर ही कार्य होता है, इसके लिए कुछ लोगों का कहना है कि टोडरमल जी ने कहा है कि काल लब्धि किछू वस्तु नाहीं इसका अर्थ ये नहीं है कि काल लब्धि कुछ नही होती, इसका अभिप्राय तो केवल इतना है कि काललब्धि तो समय है कार्य के होने का। अर्थात् जिस समय जो कार्य होता है वही उस कार्य की

काललब्धि है। इसीलिए केवल पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानना एकान्त है। हर कार्य के होने का समय और निमित्त नियत है ये सम्यक् नियति है और एक ही से सारे कार्यों का होना मानना मिथ्या नियति है, इसको एकान्तवाद कहा है। गोम्मटसार में जहां ३६३ पाखंडों का वर्णन किया है, वहां—सम्यक्-नियति को मानने को एकान्त नही कहा है। इस जीव को जब यह श्रद्धा हो जाती है कि जो होना होगा सो ही होगा मेरे करने से नहीं होगा तब उसको पर द्रव्यों से पंचेन्द्रिय के भोगों से और संसार को बढ़ाने वाले आरम्भ से भी अरुचि हो जाती है और वह तत्त्व विचार करने के लिए उद्यमवंत होता है और उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और जिसका ससार अभी निकट नही आया वह किसी एक पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता है, बाकी चार समवायो को उसके आधीन मानता है। उसकी मान्यता सही नही है। क्योंकि बुद्धि भवितव्यता के आधीन है। क्योंकि कहा है कि—विनाशकाल आने पर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और निमित्त भी वैसे ही मिलते है। हां, आगम मे पुरुषार्थ करने का उपदेश अवश्य दिया है। क्योंकि हमको ऐसा पता नहीं कि हमको सम्यग्दर्शन कब होना है? हाँ इतना जरूर है कि तत्त्व विचार के बिना सम्यक्त्व नही होगा। इसलिए हमें पुरुषार्थ करना चाहिए। परन्तु श्रद्धा यही रखनी चाहिए कि कार्य की सिद्धि भवितव्यानुसार ही होगी। इस धारणा से हमको साता असाता के उदय में भी सान्त्वना मिलती है। जिस जीव का भला होना होता है उसी को भवितव्यता पर विश्वास होता है। यदि ऐसा मान ले कि पुरुषार्थ करने से ही मुक्ति हो जायगी तो इस काल में इसी सहनन से तथा इसी पर्याय मे मोक्ष हो जानी चाहिए लेकिन आगम में कहा है कि इस काल मे मोक्ष नहीं होती इसका कारण भी यही है कि जब मोक्ष होनी होगी तभी होगी। क्योंकि छै महीने आठ समय में छै सौ आठ जीव ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, कमती-बढ़ती नहीं ऐसा नियम है। यदि नियम न हो तो जब चाहें मोक्ष चले जाएं किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि मोक्ष जाना इसके स्वयं या मात्र पुरुषार्थ के आधीन नहीं हैं। भवितव्यता के अधीन है।

नियति के विषय मे पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी भी कहा करते थे—'जो-जो भाषी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे। अनहोनी न होय कभी भी काहे होत अधीरा रे।' इसका अर्थ भी यही है कि जो होना है सो वीतरागी (केवल ज्ञानी के ज्ञान मे है) यदि इसको न मानेंगे तो केवलज्ञान नही रहेगा। इसके अतिरिक्त ससार में देखा भी जाता है कि किसी कार्य के करने का बहुत उपाय करते हैं परन्तु कार्य की सिद्धि नहीं होती और कभी कभी एक कार्य के पूरा करने को जाते हैं परन्तु रास्ते में अनायास ही दूसरे कार्य की सिद्धि हो जाती है। रोग के विषय में भी देखिए, रोग के आने का कोई उपाय नहीं करता परन्तु रोग आ जाता है और अनेक उपाय करने पर भी रोग नही जाता और कभी-कभी बिना दवा खाये भी रोग ठीक हो जाता है। ये सब नियति नहीं है तो क्या है? सूरज पूरब मे ही उदय होता है और पश्चिम मे अस्त होता है। बच्चा पैदा होता है, बड़ा होता है, फिर बूढा भी हो जाता है। जरा एकाग्र चित्त से विचार करिए ये नियति नहीं है तो क्या है. यदि नियति न हो तो संसार की व्यवस्था ही नही चल सकती। ज्यादा क्या कहें नियति और होनहार इतनी प्रबल है कि इसके विषय मे कहने को शब्द भी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि पुरुषार्थ के बिना कार्य नही होता परन्तु पुरुषार्थ भी नियति के आधीन है। यहां तक कि नियति और होनहार पर विश्वास होना भी नियति के आधीन हैं।

अन्सारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली-२

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ते ते **शोच्याः खलु** धीमताम् ॥
—आत्मानुशासनम् ९४

हिन्दी जैन कवियों के कतिपय नीतिकाव्य

डा० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

अपभ्रंश की तरह हिन्दी मे भी जैन कवियों ने चरित काव्य और नीति ग्रन्थ दोनो ही लिखे है। महाकवियों के विलास सज्ञक काव्य सग्रहों मे से 'बनारसी विलास में' अध्यात्म बत्तीसी, दश दान विधान, अक्षर माला, दिलाराम विलास मे ज्ञान बत्तीसी, अध्यात्म बारहखडी तथा पार्श्वदास कृत 'पारस विलास' मे 'सुगति बत्तीसी' उपदेश पच्चीसी, बारहखड़ी, हितोपदेश पाठ आदि नीति विषयक स्वतत्र रचनाए है। महाकवि बुधजत की 'बुधजन सतसई' के अलावा द्यानतराय के 'छहढाला' मे भी नीति तत्त्व के दर्शन होते है। सांगानेर निवासी जोधराज के दो ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' और 'धर्म सरोवर' नीति के बड़े ग्रन्थ है। आगरा के रूपचन्द का 'दोहा परमार्थी' और कामा (भरतपुर) के हेमराज का 'हेमराज शतक' दोनो ही नीतिकाव्य लोकप्रिय हो चुके है। फिर भी हस्तलिखित शास्त्रों की खोज करने पर पर्याप्त नीति ग्रन्थ मिल सकते हैं। कुछ अचर्चित नीतिकाव्य इस प्रकार है :—

१. मनमोहन पंचसती :

पाच सौ सवैयों से युक्त 'नीति' का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। अभी तक अज्ञात यह विशाल ग्रन्थ अजमेर स्थित सोनी जी की नसियां में विद्यमान शास्त्र भण्डार मे उपलब्ध है। कवि ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में अपने नामोल्लेख के अतिरिक्त कुछ और नही बतलाया :—

गुन फुर्रा बुरो दुरमति सकल, दुरितारत कारन नसहु।
कहि 'छत्र सहस' परभव विषै जिह तिह विधि सब सुख लहहु॥

संवत् १६१६ में रचित इस रचना मे दुर्जन-सज्जन, कुगुरु, सुपंथ, 'अपराध-निषेध' मित्र-शत्रु आदि सामान्य नैतिक विषयो की चर्चा के अतिरिक्त जैन दर्शनानुकूल 'पुद्गल' का विवेचन है। परम्परागत नैतिक उक्तियो के साथ-साथ 'भूख', 'वृद्धावस्था' जैसे सामान्य विषयों पर भी क्षत्रशेष की उक्तियां मर्मस्पर्शी हैं। 'भूख' शान्त करने के लिए मनुष्य अनेक नाटक रचता है। छत्रशेष कहते हैं—

तन लौनि रूप हरै, थूल तन कृस करै, मन उत्साह हरै,
बल छीन करता छिमा को मरोरै, गही विढ़ मरजाद तोरै,
सुग्रन सहेन भेद करै लाज रहता, धरम प्रवृति जप, तप
ध्यान नास करै, धीरज विवेक हरै, करति अथिरता कहां
कुल कांनि, कहा राज पंच गुरु, ग्रान सुधा बस होय जीव
बहु दोष करता।

युवावस्था के कान्तिमान् शरीर की स्थिति वृद्धावस्था मे कितनी घृणिन हो जाती है :—

सकुचो सरीर, झूलि गई तुचा, सूषो मांस,
ग्रावभत पाउ, पथ चलें खेद धरतां।
दांत गयो दाढ़ गई, दिष्टि हू ग्रदिष्ट भई,
नासा नैन मुख द्वार मल बहु झरता।
सीस हलें हाथ हलें, वदन निरूप भयो,
बांधव न बूझै बात, नारी हिय जरता।
धिक् यो बुढ़ापो भैया, देख क्यों न खोजै,
ग्रायो जहां पुत्र, पिता की ग्रवग्या घनी करता।

परम्परागत नीतिकारो की तरह क्षत्रशेप के अनुसार शील का आचरण मानसिक और शारीरिक सुख का आधार है। यश देने वाला और पूर्व कर्मबन्धो को नष्ट करने वाला है :—

सील तें सकल गुन आप हिय बास करें,
सील तें सुजस लिहु जग प्रगटत है।
सील तें विघन ग्रोघ, रोग सोग दूर होय,
सील तें प्रबल दोष, दुःख विघटत है।
सील तें सुहाग भाग, दिन दिन उदै होय,
पूरब कर्मबंध रिननि घटत है।

सील सों सुहित सुचि दीसत न भ्रांति जग,
सील सब सुख मूल वेद यों रटत है।

२. 'विनोदीलाल के सवैये' :

'नेमिनाथ को नव मंगल', 'नेमि ब्याह', 'राजुल पच्चीसी', 'नेमिराजुल बारहमासा', आदि नेमिनाथ-राजुल विषयक काव्य ग्रन्थों की रचना से स्पष्ट है कि विनोदीलाल को नेमि-राजुल प्रसंग बड़ा प्रिय था। उन्होने 'भक्तामर चरित्र भाषा' नामक एक बड़े ग्रन्थ की भी रचना की। 'नवकार मंत्र महिमा' के नाम से लिखित कवि के ६०-७० सवैये नीति विषयक हैं। नाम स्मरण के अतिरिक्त इन्द्रिय दमन और दया आदि नीति विषय कवि को प्रिय है। दया के बिना तीर्थयात्रा, विभिन्न मुद्रायें धारण करना निरर्थक है। कवि विनोदी लाल बाह्याचार की उग्र स्वरो में निन्दा करते हैं :—

द्वारिका के न्हाये कहा, अंग के दगाये कहा,
संख के बजाये कहा, राम पइयतु है।
जटा के बढ़ाये कहा, भसम के चढ़ाये कहा,
धूनी के लगाये कहा, सिव ध्यायतु है।
कान के फराये कहा, गोरख के ध्याये काहा,
सींगी के सुनाये काहा, सिद्ध लइयतु है।
दया धर्म जाने बिना, आपा पहिचाने बिना,
कहत 'बिनोदी लाल' कहूं मोष पइयतु है॥

३. सूरति की 'बारहखड़ी' :

जैन कवि सूरति कृत बारहखड़ी में चालीस दोहे और छत्तीस छन्द हैं। स्वार्थपरता 'कर्मबन्ध' साधु महिमा, आत्मचिन्तन इसके वर्ण्य हैं। सांसारिक कुकथाओ से दूर रहकर आगम और अध्यात्म का चिन्तन करते रहना श्रावक कालक्षण है। ऐसा नीतिकार सूरति का मानना है :—

ससा सोही सुगुर हैं, सुनि सुगुरन की सीष।
सदा रहै सुभ ध्यान मैं, सही जैन की ठीक।
सही जैन की सही जिनु कै, और कछू नहि भाव भावै।
आगम और अध्यातम बानी, पूछ सुनावं गावै।
कुकथ च्यारि बिगारि जगत् की तिनकौ नहि सुहावै।
'सुरति' सो जन मोहि भावै, ते सिव पंथ बतावै॥

४. बत्तीस ढाला :

सवाई माधोपुर मे उत्पन्न कवि टेकचंद षट् पाहुड़, तत्त्वार्थ सूत्र, सुदृष्टि तरंगिणी की वचनिकाओ के कारण जैन भक्तों में बड़े लोकप्रिय है। 'बत्तीस ढाला' इनकी अचर्चित रचना है। इस छोटी रचना मे वेसरी, गाथा, सवैया, कवित्त, कुण्डलियां, छप्पय, चौपाई, सोरठा, चाल अडिल्ल, पद्धड़ि, षड़गा, भुजंगी, भरैठा, गीत आदि कई छन्दों का प्रयोग करके कवि ने अपने छंद-ज्ञान का परिचय दिया है। 'बत्तीस ढाला' के ६३ छंद और कुछ ढालों मे अभिव्यक्त कवि के नीति विषय 'मनुष्य जीवन की महत्ता', 'स्वजनों की क्षणभंगुरता', रजस्वला स्त्री का रहन-सहन', 'विश्वास योग्य पात्र', 'पाप', 'दान' आदि हैं। चारों प्रकार के दानो का फल कवि ने इस प्रकार कहा है :—

सो दे भोजन दान, सो मन वांछित पावै।
औषधि दे सो दान, ताही न रोग सतावै।
सूत्र तणं दे दान, ज्ञान सु अधिकौ पावै।
अभै दान फल जीव, सिद्धि होइ सो अमर कहावै॥

भोजन करते समय ध्यान रखने योग्य आचरण की महत्त्वपूर्ण बातें 'कुण्डलिया-रचयिता' गिरधरदास की तरह जैन कवि टेकचद ने जन साधारण को समझाई हैं—

भोजन करता जुद्ध कभु नहि ठानिये।
लोक बिरोधी जो भोजन नहि आनिये।
पंच बिरुध न मिलि, नहिं इक थल खाइये।
नैन मूंदि बुधि भोजन, भूलि न खाइये॥६॥
जाति विरोधी कोई, तहाँ नहिं खाइये।
संसै जुत भोजन नहिं, बुधजन पाइये।
अंधगमन जहाँ होइ, तहाँ खांनो नहीं।
इत्यादिक बुधवान, धरो हिरदै मही॥२०॥

५. 'मनोहर के सवैये' :

मनोहर के नाम से प्राप्त ६०-७० सवैये चिन्ता, कर्म-प्रभाव, उद्यम, बाह्याचार, विषयासक्ति परिवार की

स्वार्थपरता, 'होनहार' आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। सत्संग से श्रेष्ठ बनने की बात 'मनोहर' ने कई लौकिक उदाहरणों से सिद्ध की है :—

चंदन संग कीये अनि काठ जु, चंदन गंध समान जुले है।
पारस सौं परसे जिम लोह जु, कंचन सुद्ध सरूप जु सोहै।
पाय रसायनि होत कथीर जू, रूप सरूप 'मनोहर' जोहै।
त्यौं नर कोविद संग किये सठ, पंडित होय सबै मन मोहै॥

ममता की स्थिति में कवि ने शास्त्रपठन, सयम, मौन वृत्त, तप, दान, योग आदि सभी साधनाओं को निरर्थक माना है :—

ग्रंथन के पढ़े कहा, पर्वत के चढ़े कहा,
कोटि लछि बढ़े कहा, कहा रंकपन में।
संयम के आचरे कहा, मौन बृत्त धरे कहा,
तपस्या के करे कहा, कहा फिरे बन में।
दाहन के दये कहा, छंद करे तें कहा,
जोगासन भये कहा, बैठे साधजन मैं।
जोंलौ ममता न छूटै, मिथ्या डोरि हू न टूठे।
ब्रह्म ज्ञान बिना लौं न, लोभ की लगनि मैं।

६. लक्ष्मीचन्द :

१४ छप्पय, १२ कवित्त और २८ दोहो मे लक्ष्मीचद ने 'साधु', 'शील', पुण्य, 'शास्त्र पठन', पवित्रता आदि नीति विषयों पर उक्तियां कही है। 'सुख' और 'दुख' दोनों का समभाव से सहने का 'गीता' जैसा उपदेश लक्ष्मीचंद ने इन पंक्तियों में दिया है :—

सोच कबहूं न कीजै, मन परतीत लीज्यो,
तेरौं सोच कीये कछू कारिज सरि है।
सोच कीये दुख भासै, सुख सबही नासै,
पूरब न दीयौ दांन, तातें दुख भारी हैं।
जैसे दुख सुख तेरें होय करम अनुसार ही तू,
आप सहै रे, टारें नहिं टरि है।
कोड़ि बुद्धि करौ फिरि फिरि, नाना देश मांहि फिर्‌यौ,
बढ़तौ न पावै कछू, लिख्यौ तु धरिहै।

प्रजा को सुख देना, राजाज्ञा का पालन करना, शीलवती होना और शुभ मार्ग पर चलना क्रमशः राजा, प्रजा, स्त्री और पुरुष की पावनता के मापदण्ड होते हैं। ऐसा लक्ष्मीचद का मत है :—

पावन राजा होय, प्रजा को सुख उपजावै।
पावन परिजा होय, राज सब आनि न पावै।
पावन नारी होय, सील गुन दिढ़ करि पालै।
पावन नर जो होय, भलै सुभ मारग चालै।
ए च्यारों जु पवित्र हैं, ते पवित्र सहजै वरै।
लषमी कहत एह भवसागर तिरै।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न चरित काव्यों और भक्तिपूर्ण रचनाओ के लेखन से जैन कवियों की दृष्टि भक्ति और सिद्धान्त-चर्चा में ही नहीं रही, उन्होने आदर्श जीवन की स्थापना मे भी रुचि ली है। गिरते हुए जीवन मूल्यों के इस युग मे ऐसी रचनाएँ बड़ी उपयोगी हैं।

११०-ए, रणजीत नगर, भरतपुर (राज०)

सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों को तो जुदा समझता ही है पर अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक हैं उनको भी वह हेय जानता है, क्योंकि बाह्य वस्तु को अपना मानने का कारण अन्तरंग के परिणाम ही तो हैं। यदि अन्तरंग से छोड़ दो तो वह तो छूटी ही है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों की चिन्ता नही करता, वह उसके मूल कारणों को देखता है। इसलिए उसकी परिणति निराली ही रहती है।

—वर्णीवाणी I पृ० ३५०

जिला संग्रहालय पन्ना में संरक्षित जैन प्रतिमाएँ

□ श्री नरेशकुमार 'पाठक'

जिला संग्रहालय पन्ना की स्थापना जिला पुरातत्व संघ पन्ना एवं मध्य प्रदेश पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग के सहयोग से १९७४ में की गई संग्रहालय में कुल ७३ प्रतिमायें एवं कलाकृतियां संग्रहीत है, जो कि हिन्दू एव जैन धर्म से सम्बन्धित है, जिनमे २० जैन प्रतिमायें संग्रहीत हैं, ये सभी जैन मूर्तियां पन्ना नगर एव जिले के अन्य शिल्प केन्द्रो से प्राप्त हुई है। जो कि चन्देल कालीन शिल्प शैली की हैं। सरक्षित प्रतिमाओं का विवरण निम्नलिखित हैं :—

आदिनाथ—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ जिन्हे आदिनाथ भी कहते है, की संग्रहालय मे दो प्रतिमाये संग्रहीत हैं। प्रथम प्रतिमा मे पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे (स० क्र० ७) उत्कीर्ण तीर्थंकर आदिनाथ के पेर एवं मुख की ठुड्डी आंशिक रूप से खण्डित है। वितान मे अभिषेक करते हुए गज, मालाधारी विद्याधर युगल एव जिन प्रतिमायें अंकित है। पादपीठ पर परिचारक तथा पादपीठ के नीचे यक्ष गोमुख एवं यक्षी चक्रेश्वरी अंकित है। मध्य में आसन पर आदिनाथ का ध्वज लांछन वृषभ का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ११ × १७ × ३१ से० मी० है।

दूसरी मूर्ति मे भी भगवान ऋषभनाथ पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में उत्कीर्ण है। (स० क्र० २६) वितान मे गजाभिषेक, दोनो ओर जिन प्रतिमा एव मालाधारी विद्याधर अंकित हैं। नीचे दोनो ओर जिन प्रतिमायें, परिचारक तथा पादपीठ पर दायी ओर यक्ष गोमुख और बायी ओर यक्षी चक्रेश्वरी का आलेखन है। मध्य में सिंह तथा आसन पर आदिनाथ का ध्वज लांछन नन्दी (वृषभ) बना हुआ है। प्रतिमा का आकार १४५ × १०५ × ४० से० मी० है।

सुमतिनाथ—पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ की प्रतिमा पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में अंकित है। (सं० क्र० ६) मुख व वक्ष स्थल खण्डित है। पादपीठ पर सिंह, मध्य में सुमतिनाथ का लांछन चक्र तथा उसके दोनों ओर उपासक करबद्ध मुद्रा मे दोनों के सहारे बैठे द्रष्टव्य है। प्रतिमा का आकार १११ × ७६ × २५ से० मी० है।

सुपार्श्वनाथ—सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा मे शिल्पांकित हैं। (सं० क्र० २४) सिर के ऊपर पांच फण नाग मौलि का आलेखन है। दायां हाथ खण्डित है। वितान मे त्रिछत्र, अभिषेक करते हुए गजराज दोनों ओर दो-दो जिन प्रतिमा उत्कीर्ण है। तीर्थंकर के दाहिने पार्श्व में मकर मुख, गज शार्दूल व परिचारक का अंकन है। नीचे दाहिनी ओर यक्ष तुम्बर तथा यक्षी पुरुषदत्ता (नरदत्ता) का आलेखन है। प्रतिमा का आकार १०९ × ४० × २५ से० मी० है।

विमलनाथ—तेरहवे तीर्थंकर विमलनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा मे अंकित है। प्रस्तर खण्ड का (सं० क्र० ६२) दक्षिण पार्श्व व तीर्थंकर का पैर खण्डित है। वाम पार्श्व ऊपर से क्रमश: अलंकृत प्रकोष्ठ के मध्य कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमा, पद्मासन में जिन प्रतिमा, परिचारक अंकित हैं। नीचे आसन पर लांछन वराह का अंकन है। नीचे निर्मित कायोत्सर्ग में निर्मित तीर्थंकर प्रतिमा व परिचारक अंकित हैं। पादपीठ के ऊपर अस्पष्ट लांछन अंकित है। प्रतिमा का आकार १३७ × ७५ × ३१ से० मी० है।

धर्मनाथ— पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की संग्रहालय मे तीन प्रतिमायें संग्रहीत हैं। प्रथम कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर धर्मनाथ (सं० क्र० १५) अंकित हैं। ऊपरी भाग में त्रिछत्र, गजाभिषेक, मालाधारी, विद्याधर उनके नीचे उकड़ू बैठे परिचारक का अंकन है। पादपीठ पर दोनों ओर सिंह, मध्य में लांछन वज्र का अंकन है। प्रतिमा का आकार ११६ + ३२ × २५ से० मी० है।

दूसरी कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित तीर्थंकर धर्मनाथ की मूर्ति के ऊपरी (सं० क्र० २३) भाग में त्रिछत्र, दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमायें, मकर मुख, गज,

शार्दूल, नीचे दोनों ओर जिन प्रतिमायें, यक्ष, किन्नर एवं यक्षी कन्दर्पा (या मानषी) का अंकन है। पादपीठ पर करबद्ध मुद्रा में धर्मनाथ का ध्वज लाछन बज्र का अंकन है। प्रतिमा का आकार ११६×३२×२५ से० मी० है।

तीसरी तीर्थंकर धर्मनाथ की पद्मासन में बैठी प्रतिमा का शिरोभाग खण्डित है, (सं० क्र० ४५) ऊपरी भाग मे मालाधारी विद्याधर तथा नीचे पादपीठ पर सिंह, मध्य मे लांछन बज्र का अंकन है। प्रतिमा का आकार ५७× ३५×२२ से० मी० है।

नेमिनाथ—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ पद्मासन की ध्यानस्थ (स० क्र० ६०) मुद्रा मे बैठे हैं। तीर्थंकर का सिर, हाथ एव पैर खण्डित है। वितान में त्रिछत्र, अभिषेक करते हुए गज, मालाधारी विद्याधरो का आलेखन है पार्श्व में दोनों ओर चतुर्भुजी अस्पष्ट देव, हाथियो पर खड़े परिचारक उत्कीर्ण हैं। पादपीठ पर दायी ओर यक्ष गोमेद, बायी ओर यक्षी अम्बिका अंकित है। पादपीठ के मध्य सिंह एव ध्वज लांछन शख का अंकन है। प्रतिमा का आकार ८२×५१×३० से० मी है।

"लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ"

संग्रहालय में आठ लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमायें संग्रहीत है। जिनमें तीन पद्मासन एव पांच कायोत्सर्ग मुद्रा मे अकित है। प्रथम पद्मासन में अकित लाछन विहीन तीर्थंकर (सं० क्र० ३३) का अधिकाश भाग खण्डित है। पार्श्व मे चावरधारी परिचारक का अंकन है। पादपीठ के दोनो ओर यक्ष-यक्षी की अस्पष्ट प्रतिमायें अकित है। प्रतिमा का आकार ६६×५५×२४ से० मी० है।

दूसरी पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में अकित तीर्थंकर (स० क्र० ४४) प्रतिमा का शिरोभाग खण्डित है। पार्श्व में परिचारकों का अकन है। प्रतिमा का आकार ४२× ४०×१६ से० मी० है।

तीसरी पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे अंकित प्रतिमा का (सं० क्र० ५२) शिरोभाग व पैर खण्डित है। ऊपरी भाग में छत्र मालाधारी विद्याधर दो-दो जिन प्रतिमायें उनके नीचे तीन-तीन कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमा, परिचारक तथा पादपीठ पर यक्ष-यक्षी का अंकन है। प्रतिमा का आकार ७२×४०×१७ से० मी० है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित तीर्थंकर (सं० क्र० ८) के सिर पर कुन्तलित केश लम्बवत कर्ण, अजान बाहु-देव का पैर खण्डित है। ऊपरी पार्श्व में मालाधारी विद्याधर हैं, बायी ओर उत्कीर्ण विद्याधर प्रतिमा खण्डित है। नीचे दो छोटी जिन प्रतिमायें बायी ओर के परिचारक के गले से ऊपर का भाग खण्डित है। परिचारको के पार्श्व में उपासक गण करबद्ध मुद्रा मे खचित है। मूर्ति का आकार १२८×५०×३० से० मी० है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में अकित दूसरी तीर्थंकर मूर्ति (सं० क्र० ३) के सिर पर कुन्तालित केश, लम्बवत कर्ण, अजान बाहु, ध्यानस्थ मुद्रा मे उत्कीर्ण है। पीठिका मे दोनो ओर सिंह मध्य में आसन पर अस्पष्ट लांछन उसमे दोनो ओर दो-दो उपासक गण घुटने के सहारे बैठे अपने दोनो हाथो में अस्पष्ट वस्तु लिए हुए दिखाए गए हैं। प्रतिमा का आकार १४८×४७×३८ से० मी० है।

तीसरी कायोत्सर्ग मुद्रा में अकित तीर्थंकर प्रतिमा (सं० क्र० १६) का दायां हाथ व पैर खण्डित है। प्रतिमा छत्र, प्रभामण्डल से युक्त है, ऊपर दोनों पार्श्वों मे दो-दो जिन प्रतिमाये, नीचे उपासिकायें एव पादपीठ पर दोनों ओर सिंह मध्य मे आसन पर निर्मित लांछन अस्पष्ट है। प्रतिमा का आकार १०४×५०×२० से० मी० है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में अकित पांचवीं तीर्थंकर प्रतिमा के दोनों हाथ खण्डित हैं। (स० क्र० २२) ऊपरी भाग में दोनों ओर जिन प्रतिमायें कायोत्सर्ग मुद्रा मे हैं। नीचे मकर मुख, पार्श्व में गज शार्दूल का अंकन है। पादपीठ पर सिंह, उपासक, उपासिका, आसन पर ध्वज लांछन अस्पष्ट अकित है। प्रतिमा का आकार १२३×२७×२७ से० मी० है।

सर्वतोभद्रिका—अलकृत स्तम्भ प्रकोष्ठ के मध्य चारों (सं० क्र० १३) पद्मासन में तीर्थंकर प्रतिमायें अंकित हैं। ऊपरी भाग में एक जिन प्रतिमा दाहिनी ओर कोने पर

(शेष पृ० २५ पर)

णमो आयरियाणं

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

आचार्य और साधु दोनों पदों में अन्तर है। आचार्य अनुशास्ता है और साधु साधक। तत्व दृष्टि से यहां अनुशास्ता का भाव पर से भिन्न अपनी आत्मा पर शासन करने वाला है और वह इसलिए कि शुद्ध दिगम्बरत्व में स्व-स्व में ही है, वहां पर के विकल्प या पराए पर शासन करने को स्थान ही नही है। इसमें साधना भी है और अनुशास्तापन भी। एतावता आचार्य (साधु और आचार्य) दोनों श्रेणियों मे हैं और 'णमो आयरियाण" पाठ भी इसी दृष्टि में है। पर, आज हम परिग्रह के मोह मे अतीत के उक्त तथ्य को नकार कर मात्र व्यवहार की ओर इतने झुके हैं कि जो संघ सर्वथा स्व से भिन्न है—परिग्रह रूप है, अपरिग्रही महाव्रती साधु के लिए सर्वथा परिग्रह है, उस परिग्रह पर शासन करने वाले को आचार्य मान बैठे हैं—स्व-अनु-शासक और साधक जैसे तथ्यों को तिरस्कृत कर बैठे हैं। अन्यथा, लोगों की उक्त मान्यता का विरोध तो इसी से हो जाता है कि जब हम उन्हें दिगम्बर अपरिग्रही, महाव्रती मान बैठे तब उनमे संघ—परिग्रह जैसा परिग्रह भी क्यों? क्या मात्र धन-धान्यादि ही परिग्रह है या साधु-संस्था की संभाल का विकल्प परिग्रह नही है? यदि ऐसा है तब तो परिग्रह के अन्तरग चौदह भेद भी परिग्रह नहीं कहलाए जाने चाहिए।

स्थिति कुछ ऐसी बन रही है कि जैसे हम परिग्रही अपने को परिग्रह का स्वामी माने हुए हैं वैसी ही धारणा मूलतः व्यवहार आचार्य पद मे भी कर बैठे हैं। फलस्वरूप हमने केवल इतना मान लिया है कि आचार्य का कार्य संघ रूपी परिग्रह पर अनुशासन करना, उसकी संभाल करना मात्र है और स्व-अनुशासन व साधना से उतना प्रयोजन नहीं जितना प्रयोजन दि० साधु को होना चाहिए। हो सकता है कि आज के कुछ आचार्यों में भी ऐसी सूझ घर कर बैठी हो और वे पर कब शासक बनाने या प्रचार और समाजिक सुधार को प्रमुख कर साधक पद को गौण कर बैठे हों तब भी आश्चर्य नहीं। अस्तु, यदि व्यवहार मुनि-मार्ग चलाने के लिए ऐसा माना भी गया है और अब भी माना जाए तो—

सभी जानते हैं कि दिगम्बर वेष धारण करना बड़ा आदर्श और कठिन कार्य है। तीर्थंकर आदि महापुरुषों को वर्ज्य, पहिले किसी को दीक्षा देने की परम्पराएँ ऐसी रही हैं कि जो किसी लम्बे काल १०-१५ वर्षों तक मुनि संघ में रह कर क्रमशः ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक जैसे पदों का पूर्ण अभ्यास कर चुका हो, और परिपक्व आयु हो, वही मुनि-पद में दीक्षित होने का श्रेय प्राप्त कर सकता था। ऐसे मे उसके पद से च्युत होने की कदाचित् सम्भावना कम होती थी। पर आज तो लम्बी अवधि के क्रमिक अभ्यास के बिना ही युवक-युवतियों में दीक्षा देने और लेने जैसी प्रवृत्ति भी अधिक दृष्टिगोचर हो रही है। हम समझते हैं कि कहीं ऐसी प्रवृत्ति सम्राट् भरत के ग्यारहवें स्वप्न-फल को सत्य रूप में चरितार्थ करने के लिए ही तो नहीं अपनाई जा रही? यदि हमारा कथन ठीक है तो विद्यमान ऐसे वय-वृद्ध आचार्य और मुनि-गण (जो मंतर-जंतर, टोना-टोटका आदि करते-कराते हैं) के प्रति चर्चित अपवाद भी—स्वप्न फल को सत्य करने हेतु—सही होने चाहिए क्योंकि स्वप्न फल* के अनुसार इस काल में वृद्ध-

* ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से लोग तरुण अवस्था में ही मुनि-पद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं।"

—"पार्श्व ज्योति" दिनांक १५-२-८७

वय मुनि पद के योग्य नहीं हैं। पर, ऐसा होना नही चाहिए क्योंकि समाज में आज भी सु-मार्ग लग्न आचार्य पाए जाने का अपवाद नही—वे पाए भी जाते हैं।

अभी एक ज्वलंत प्रश्न यह भी उभर कर सामने आया है कि क्या ऐसी सुदृढ़-सुरक्षित भूमि तैयार हो चुकी है, जो एक-दो नहीं, अपितु बिना किसी क्रमिक दीर्घ-कालीन अभ्यास के, समुदाय रूप में ढेर सी कुमारियों और कुमारों को दीक्षा देकर उनकी भावी-सुरक्षा व स्थिरता के प्रति पूर्ण निष्ठा की जा सके? हम अभ्युदय की कामना करते हैं। पर, इस विषय में लोगों की दृष्टि जो भी हो, हम तो यदा-कदा स्त्री जाति के प्रति अपवादों को पढ़-सुन चौंक जाते हैं कि कही पग डगमगा न जाएँ? या कोई आततायी अवसर देखकर त्याग की कमर ही न तोड़ दे? और यह आशंका इसलिए भी कि गत दिनों ही दिगम्बरेतर जैन-साध्वी······के प्रति सत्य या मिथ्या (?) अनेकों अपवादों को सभी पढ़-सुन चुके हैं जबकि दिगम्बर मार्ग में उससे कठोर नियम और कठोर साधनाएँ हैं, और फिर आज के इस आततायी वातावरण में?

यद्यपि यह ठीक है कि दीक्षाचार्य व्यवहार दृष्टि से दीक्षित से उसका उत्तरदायित्व निर्वाह कराने के प्रति बंध जाता है। उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह शिष्या या शिष्य की पूरी-पूरी संभाल करें। पर, यह निर्वाह तब और कठिन होता है जब आचार्य पुरुष-जातीय और दीक्षिता स्त्री-जाति हो क्योंकि मुनि-पद में रहते हुए वह स्त्री-जाति से सीधे निकट सम्बन्ध का अधिकारी नही। एतावता वह शिष्या के अंतरंग को भी गहराई से नहीं पढ़ सकता, चौबीसो घण्टे उस परिग्रह की सार-संभाल करना भी मुनि-पद के अनुकूल नहीं। अस्तु; हमारी दृष्टि से तो मुनि को बहुसंख्यक कुमारी-साध्वी परिवार को बढ़ाना समय और पद दोनों ही रीति से वर्ज्य है। यद्यपि इस दीक्षा मार्ग के निमित्त कई संरक्षकों को दहेज जैसे दानव से मुक्ति भले ही मिल जाती हो। हम तो कुमारों को भी मुनि-दीक्षा देने से पूर्व दसियों वर्षों तक लगातार त्याग और क्रमिक नियम पालन का अभ्यास कराना ही उचित समझते हैं और ऐसे में ही "णमो आयरियाणं, णमो लोए सव्व साहूणं" जैसे पदों की सार्थकता समझते हैं।

अभी हमारे सामने एक प्रश्न यह भी आया कि क्या आचार्यों को ऐसी अपरिपक्व वय में दीक्षा देनी चाहिए? हमने कहा—लोक बेढंगा है, यदि आचार्य किसी के वैराग्य को दृढ़ न करे तो कहेगा ये संसार से उबारने के साधन नहीं जुटाते। और यदि आचार्य वैराग्य दृढ़ करा उसे उधर ले जाते हैं तो कहेगा—ये उम्र नहीं देखते। सब भांति लोकापवाद है। हमारी दृष्टि में तो साधु का कार्य वैराग्य में लगने-लगाने का ही है, वह इससे विरत क्यों होगा?

उक्त स्थिति में कहीं ऐसा तो नहीं कि—यह श्रावकों का ही फर्ज है कि वे आचार्य को सांसारिक दूषित वातावरण से अवगत कराएँ और उन्हें ढेर-सी कुमारी और कुमारों की दीक्षा-प्रक्रिया से विरत करें। श्रावक और मुनि-पद भक्त होने के नाते हम तो सारा दोष श्रावकों को ही दे सकते हैं और तब—जबकि श्रावकों की दृष्टि में आचार्य आत्म-विभोर रहने वाले और सांसारिक प्रपंचों से दूर हों। वस्तु स्थिति क्या है? जरा सोचिए।

वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली-२

(पृ० २३ का शेषांश)

दो-दो स्तम्भ प्रकोष्ठों में कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमायें अंकित हैं। ठीक इसी प्रकार चारों ओर जिन प्रतिमाओं का अंकन है। प्रतिमाका आकार ६' × ३६ × ड६ से०मी० है।

जिन प्रतिमा का पार्श्व भाग—संग्रहालय में जिन प्रतिमा के बाम पार्श्व भाग से सम्बन्धित दो प्रतिमायें संग्रहीत हैं। प्रथम अलंकृत स्तम्भ प्रकोष्ठ के मध्य में पद्मासन में ध्यानस्थ मुद्रा में (सं०क्र० ६४) जिन प्रतिमा अंकित है। बायीं ओर एक जिन प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण है। प्रतिमाका आकार ५४ × ३७ × २३ सेमी० है।

दूसरी मूर्ति में पद्मासन में जिन प्रतिमा (सं०क्र० ५६) का सिरोभाग है। प्रतिमा का आकार ४५ × ३७ × १२ से० मी० है। □

जैन गीतों में रामकथा

□ प्रो० श्रीचन्द्र जैन

विश्वेश्वर सर्वज्ञ तुम रामचन्द्र भगवान।
पूजों चरण त्रियोग से, हृदय विराजो आन ;।
—विद्यावारिधि प० मक्खन लाल शास्त्री

नाम लेत सब दुख मिटें, हे रघुनन्दन राम ;
विघ्न हरन, मंगल करन, पद वन्दू अभिराम ।।
स्व० धन्यकुमार जैन 'सुदेश'

——×——

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैन शासन रतः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु वाँछित फलं त्रैलोक्य नाथः प्रभु ।।
(हनुमन्नाटक—मंगलाचरण)

श्री रामचन्द्र की जीवन-गाथा लोक-जीवन में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार दूध में नवनीत, जल में शीतलता एवं धूप में उष्णता समाहित है।

चिरकाल से श्री राम का चरित्र युगीन रहा है, जिसमें युग-बोध के साथ परिस्थितियाँ विविध रूपों में उभर कर आई है। फलतः वे युग-पुरुष कहलाए तथा युग-प्रवर्तक रूप मे पूजित हुए। युग-परिवर्तन के साथ आराधकों के मन्तव्यों में बदलाव आया और उनका उदात्त चरित्र कभी मानव के रूप मे तो कभी परमेश्वर के रूप में वन्दनीय अनुकरणीय रहा है और आज भी है। निम्नस्थ पंक्तियां इसी कथन को परिपुष्ट करती हैं :—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नही, सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ;
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ।।
(साकेत—स्व० राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त)

"हरि अनंत हरि कथा अनंता।" के अनुसार श्रीराम की कथा विविध रूपों में अनेक भाषाओं के माध्यम से वर्णित है। गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयं ऐसे कई कवियों को प्रणाम किया है, जिन्होंने प्राकृत आदि भाषाओं में हरि-चरित्रों का वर्णन किया है, कर चुके हैं एवं भविष्य में करेंगे :—

जो प्राकृत कवि परम सयाने।
भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने।।
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे।
प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे।।
(रामचरित मानस, बाल कांड)

——×——

भारत की तीन प्रमुख परम्पराओं (१ वैदिक २ जैन एवं बौद्ध) में श्री रामकथा वर्णित है। पुराणों, काव्यों, नाटकों आदि में भी भ० श्री रामचन्द्र जी का विराट् व्यक्तित्व चित्रित किया गया है। स्वर्गीय राष्ट्रीय कवि मैथिली शरण गुप्त के कथनानुसार जब भगवान् राम का वृत्त स्वय ही काव्य है तब रामकथा-गायको का कवि बन जाना पूर्ण सम्भव है :—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय स्वयं संभाव्य है ।।

हिन्दी तथा प्रदेशीय लोक-भाषाओं से रामचरित्र बड़ी आस्था-श्रद्धा से गाया गया है। तेलुगू मे लगभग ३०० रामकाव्य उपलब्ध हैं। बाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, आनंद रामायण, रामायण मजरी, उत्तर रामचरित, हनुमन्नाटक आदि सस्कृत रचनाओ के साथ रामचन्द्रिका, रामशलाका, रामचरितमानस, साकेत, वैदेही वनवास, रामशक्ति पूजा आदि हिन्दी काव्य विशेषतः उल्लेख्य हैं।

जैन साहित्य में निम्नस्थ रामायणें प्रमुख है :—

प्राकृत—(१) पउम चरिउ—विमलसूरि।
(२) पउमचरिउ—चउमुह।
(३) पउम चरिउ—स्वयम्भू।

संस्कृत—(१) पद्म चरितम्—रविषेण।
(२) जैन रामायण—हेमचन्द्र।
(३) रामचरित—देवविजयगणि।
(४) रामपुराण—सोमसेन।
(५) पद्मपुराण—भट्टारक चन्द्रकीर्ति।
(६) पद्मपुराण—धर्मकीर्ति।
(७) त्रिषष्ठिशलाका चरित—हेमचन्द्र।
(८) पुण्य चन्द्रोदय—कृष्णकवि।
(९) सीता चरित—नेमिदत्त।

कन्नड़—(१) पम्प रामायण—नागचन्द्र ।
(२) कुमुदेन्दु रामायण—कुमुदेन्दु ।
(३) रामकथावतार—देवचन्द्र । आदि-२ ।
हिन्दी—(१) पद्मपुराण—खुशहालचन्द्र ।
(२) पद्मपुराण वचनिका—दौलतराम ।
(३) सीता चरित्र—रायमल्ल ।
(४) सीता चरित्र—रामसिंह ।
(५) रामचरित—भट्टारक सोमसेन विरचित रामपुराण का हिन्दी अनुवाद । अनुवादक पं० लालबहादुर शास्त्री । आदि ॥

जैन राम साहित्य मे अनेक कथान्तर द्रष्टव्य है। जैन पुराणो मे महापुरुषों की सख्या तिरसठ बताई गई है। इनमे २४ तो तीर्थंकर है, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रति वासुदेव । श्री राम आठवे वासुदेव, लक्ष्मण आठवे वासुदेव और रावण आठवें प्रतिवासुदेव है। यहा जैनधर्म प्रभावित अनेक पात्र जिनदीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। द्रष्टव्य:, कविवर भैया भगवतीदास रचित निर्वाणकांड भाषा एवं यति नैनसुखदास कृत सती सीता का बारहमासा ।

गेय प्रधानगीत—लोक मानस के सहज उद्गार है, जिनमे जीवन की अकृत्रिम झाकियां स्वाभाविक रगों मे चित्रित हुई है। यथार्थवादी धरातल पर उद्भूत ये लोक-स्वर बड़े सुहावने, मधुर एव आशावादी है। जिस प्रकार जैन रामकथा के विविध प्रसगों में सांस्कृतिक अभिनय भगिमा अभिव्यंजित हुई है उसी प्रकार जैनगीतो में राम-चरित धार्मिक आयामों से आच्छादित हुआ है। श्री राम का यह चिंतन कितना उदात्त-पावन है :—

कब मैं बनहों शिवमगचारी ।
भव-वैभव से प्रीत न मेरी ।
पर सुख दैन नीत है मेरी ।
छन भंगुर जगती की माया ।
छन भगुर यह जीवन काया ॥
कब बनहौं परमार्थ विचारी ।
कब मैं बन हों शिवमगचारी ॥

—×—

वस्तुत: इन लोक गीतों मे भगवान् राम दुग्ध-सलिल-वत् एकात्मक हो गए हैं। फलत: लोक में श्री राम हैं और भगवान रामचन्द्र में यह सारा संसार समलंकृत है।

जैन साहित्य के लोक-प्रिय महान् कवि श्री बनारसी-दास जी की यह आध्यात्मिक रामकथा विषयक अभिव्यक्ति जिनमत सम्मत दार्शनिक चिरंतन का रूपकात्मक स्वरूप ही है :—

विराजै रामायण घटमांहि ।
मरमी होय मरम सो जाने, मूरख माने नाहि ।
विराजै रामायण घटमांहि ।
आतम राम ज्ञान गुन लछमन सीता सुमति समेत ।
शुभोपयोग वानर दल मंडित वर विवेक रण-खेत ॥
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि गई विषयादिति भाग ।
भई भस्म मिथ्यामति लंका उठी धारणा आग ॥
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल लरे निकांक्षित सूर ।
जूझे राग-द्वेष सेनापति संशयगढ़ चकचूर ॥
बिलखत कुंभकरण भवविमुख पुलकित मन दरयाव ।
चकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव ॥
मूर्छित मन्दोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान ।
घटी चतुर्गति परणति सेना, छूटे क्षपक गुणवान ॥
निरखि सकति गुनचक्र सुदर्शन, उदय विभीषण दीन ।
फिरै कबंध महीरावण की प्राणभाव सिर हीन ॥
इह विधि सकल साधु घट अंतर होय सहज संग्राम ।
यह व्यवहार दृष्टि रामायण केवल निश्चय राम ॥

—×—

इस प्रकार दो प्रमुख रूपों (रविषेणाचार्य कृत पद्म-पुराण एव श्रीगुणभद्राचार्य प्रणीत उत्तर पुराण के कथानकों में) वणित तथा जैन गीतो मे निरन्तर गुजरित जैस राम-कथा, श्रमण-सस्कृति के मुख्य विशेषताएँ समन्वित होकर 'वसुधैव कुटम्बकम्' के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करती है तथा भगवान् श्रीराम के लोक मंगलार्थ समर्पित स्वरूप की अर्थवत्ता को उद्घटित करती है।

—×—

इस विदेह जीवन-दर्शन में, कर्मयोग सन्यास मिलेगा ।
रघुपति के जीवन दर्शनमें, शिव-पथ का विश्वास मिलेगा ॥
—शशि

* श्रीचन्द्र जी का यह अन्तिम लेख रीवा में आयोजित संगोष्ठी के लिए लिखा गया था। दुःख है वे इसे अपने जीवन मे पढ़ नहीं पाये ।

गतांक ४०/१ से आगे :—

(चिन्तन के लिए)

'सिद्धा ण जीवा'—धवला

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली-२

प्रसंग तत्त्वों की पहिचान का है और हम भी 'तत्त्व-कुतत्त्व पिछाने' वाक्य को पूर्व में दुहरा चुके है। उक्त प्रसंग में हमारी धारणा है कि—जैन दर्शन में छः द्रव्यों की स्वतंत्र और पृथक्-पृथक् त्रिकाली सत्ता स्वीकार की गई है तथा छहों द्रव्यों में पुद्गल के सिवाय अन्य सभी द्रव्यों को अरूपी बतलाया गया है—'नित्यावस्थितान्यरूपाणि', 'रूपिणः पुद्गलाः।'—ऐसा भी कथन है कि लोक-अलोक में छह द्रव्यो के सिवाय कही कोई सातवां द्रव्य नहीं है—सभी इन छह द्रव्यों में समाहित है। ऐसी स्थिति में हमारी दृष्टि से लोक में अन्य जो भी बुद्धिगम्य होता है वह सभी चेतन अचेतन का विकारी रूप है।

द्रव्य, पदार्थ या तत्त्व कुछ भी कहो, सभी शब्द एकार्थक और एक भाववाची जैसे रूप से प्रचलन में चले आ रहे हैं। प्रायः कुछ लोगो की धारणा ऐसी है कि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष भी वैसे ही स्वतंत्र-स्वभावी तत्त्व हैं जैसे स्वतंत्र-स्वभावी छह द्रव्य हैं और इन तत्त्वों या पदार्थों का अस्तित्व द्रव्यों से जुदा है।

ऐसे में सहज प्रश्न उठता है कि जब द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ जैसे सभी सांकेतिक शब्द एकार्थक और एकभाववाची प्रसिद्ध हैं और लोक-अलोक में छह द्रव्यो के सिवाय अन्य कोई स्वतंत्र-सत्ता नहीं; तब आचार्यों ने छह द्रव्यों, सात तत्त्वों और नव-पदार्थों का पृथक्-पृथक् वर्णन क्यों किया? क्या आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा तथा पुण्य, पाप की कोई स्वतंत्र, स्वाभाविक सत्ता है? अथवा यदि ये सभी स्वतंत्र नहीं हैं तो इनको तत्त्व क्यों कहा गया है और क्यों इनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का नाम दिया गया? जब कि ये सभी चेतन-अचेतन के आश्रित रूप हैं।

स्मरण रहे कि आश्रव, बंध, सवर, निर्जरा आदि जैसे तत्त्व या पदार्थ नामवाची सभी रूप, चेतन और अचेतन के मिश्रित-विकारी अस्तित्व है; इनमें से कोई भी स्वतंत्र या मूलरूप मे वैसा नही जैसे कि छह द्रव्य हैं। फलतः इन तत्त्वों को मूलरूप में वैसे ही स्वीकार नहीं करना चाहिए जैसे छह द्रव्यों को स्वीकार किया जाता है। खुलासा इस प्रकार है—

जैसे जीव में पुद्गल कर्मों के आगमन मे हेतु भूत मन-वचन-काय द्वारा आत्मप्रदेशो के परिस्पन्द को आस्रव कहते हैं और स्वय ये मन-वचन-काय भी किसी एक शुद्ध द्रव्य के शुद्धरूप नही है—वे भी चेतन-अचेतन के मिश्रण से निष्पन्न है, तब मिश्रण से निष्पन्न आस्रव को मूल या शुद्ध तत्त्व (द्रव्य) कैसे माना जा सकता है? वह तो दो के मिश्रण से होने वाला व्यापार है। ऐसे ही बध भी कोई स्वतंत्र मूल तत्त्व नही, वह भी कषायभाव पूर्वक चेतन के साथ जड़ कर्म के बंधने की क्रिया मात्र है और मिश्रण से निष्पन्न क्रिया को मूलतत्त्व (द्रव्य) नही माना जा सकता। यही बात सवर मे है। वहां भी मूल तत्त्व चेतन आत्मा और अचेतन कर्म हैं और वहाँ पुद्गल कर्म के आगमन के रुकने रूप क्रिया भी दो का विकार है। इस प्रकार पुद्गल कर्मों का आना, बंधना, रुकना सभी विकारी हैं। ऐसे ही निर्जरा यानी कर्मों का झड़ना भी चेतन-अचेतन दोनो मूल-तत्त्वों के विकारी भावो से निष्पन्न व्यापार है—कोई मूल स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। अब रही मोक्ष तत्त्व की बात। सो वह भी परापेक्षी अवस्था से निष्पन्न है और वहां भी मूल तत्त्व शुद्ध चेतन ही है।

जब हम दिव्य ध्वनि से पूर्व के गौतम (बाद में गणधर) के प्रति इन्द्र द्वारा प्रकट की गई जिज्ञासा का मूल श्लोक

पढ़ते हैं तब उसमें हम इन सभी को मोक्ष-मार्ग के विधान में पाते हैं, न कि त्रिकाली स्वतंत्र (द्रव्य) की सत्ता के रूप में।—"इत्येतन्मोक्षमूलं।" आदि। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपदसहितं जीव षट्काय्य लेश्या।
पंचान्ये चास्ति कायाः व्रतसमितिगतिर्ज्ञान चारित्र भेदाः॥
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैर्प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥'

अर्थात्—इनका श्रद्धान ज्ञान और अनुभवन किए बिना मोक्ष या मोक्षमार्ग का अनुसरण नहीं किया जा सकता। जो भव्य प्राणी इन विधियो, क्रियाओं और स्थितियों का विधिपूर्वक सही-सही श्रद्धान ज्ञान अनुभवन करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। इसका आशय ऐसा है कि संसारी प्राणी को मोक्षमार्ग दर्शाने मे आस्रवादि तत्त्व हैं यानी—सारभूत हैं। इन प्रक्रियाओं को समझे बिना कोई जीव मोक्षमार्ग में नही लग सकता—जब कोई जीव इन विकृतियों—विकारों को समझेगा, इनसे परिचित होगा तभी वह निवृत्ति—(मोक्षमार्ग) की ओर बढ़ेगा और काल-लब्धि के आने पर उस भव्य जीव को मोक्ष भी हो सकेगा; आदि। इस प्रकार तत्त्व या पदार्थ नाम से प्रसिद्ध जो कुछ है वह सब मोक्षमार्ग-दर्शाने के भाव में तत्त्व—सारभूत है—किसी स्वतत्र सत्ता के भाव मे नही है, ऐसा सिद्ध होता है। फलतः—

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष कोई स्वतत्र तत्त्व(द्रव्य) नहीं—वहां तत्त्व शब्द का अर्थ मोक्षमार्ग में सारभूत—प्रयोजनभूत मात्र है। भाव ऐसा है कि उक्त सभी अवस्थाएँ विकारी भाव तक सीमित है और उसी दृष्टि में मानी गई हैं। इसी प्रकार 'जीव' संज्ञा भी विकारी होने के भाव में है, जब विकारी आत्मा विकार-रहित अवस्था में आ जाता है तब वह जीवरूप में न कहा जाकर 'सिद्ध' या परम-आत्मा कहलाता है और आचार्यवर वीरसेनाचार्य ने इसी तत्त्व (वास्तविकता) के प्रकाशन के लिए स्पष्ट किया है कि—'सिद्धा ण जीवा' अर्थात् सिद्ध जीव नहीं हैं उन्हें जीवितपूर्व कहा जा सकता है—'जीविदपुव्वा इदि'—

सोचने की बात यह भी है कि क्या जीव और अजीव दोनों की उपस्थिति के बिना आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हो सकते हैं? जो इन्हें स्वतंत्र तत्त्व (द्रव्य) माना जा सके? फिर यह भी सोचना है कि जब लोकालोक में छह द्रव्यों के सिवाय अन्य कुछ नहीं, तब यह स्वतंत्र तत्त्व कहा से आ गए? शास्त्रों में आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा के जो लक्षण दिए है, उन लक्षणों के अनुसार किस तत्त्व का समावेश (अन्तर्भाव) किस स्वतत्र द्रव्य मे होता है? यह भी सोचना होगा। हमारी दृष्टि से तो द्रव्यों मे कोई भी स्वतंत्र द्रव्य ऐसा नही, जिस किसी एक मे भी स्वतत्ररूप से इन तत्त्वों का अन्तर्भाव हो सके। अतः मानना पड़ेगा कि इन उपर्युक्त तत्त्वो को द्रव्यों जैसी कोई स्वतत्र सत्ता नही अपितु ये सभी के सभी चेतन-अचेतन के विकार से निष्पन्न है; इन्हें हम चेतन-अचेतन की विकारी क्रिया भी कह सकते हैं और क्रिया या व्यापार कभी द्रव्यवत् स्थायी नही होते। अन्यथा यदि व्यापार—क्रिया ही तत्त्व हो जाय, तो खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना आदि व्यापार भी तत्त्व कहलाएँगे और इस प्रकार तत्त्वों की सख्या सात न रहकर असख्यातों तक पहुच जायगी। अतः ऐसा ही मानना चाहिए कि प्रसग मे तत्त्व शब्द का अर्थ सारभूत है और मोक्षमार्गी को इन प्रक्रियाओं को जानना चाहिए, क्योंकि ये मोक्षमार्ग मे—भेद-विज्ञान मे उपयोगी—सारभूत हैं। इसी प्रकार जो स्थिति इन तत्त्वों की है वही स्थिति जीव की है और जीव भी विकारी अवस्था है। जब भेद-विज्ञान द्वारा आत्मा को जीवत्व पर्याय का बोध होगा, तब वह अपने को विकारत्व से पृथक् कर सकेगा—स्व-शुद्धत्व मे आ सकेगा और उसका विकारी भाव 'जीवत्व' छूट जायगा—वह 'सिद्ध' या परम आत्मा या शुद्ध-चेतन हो जायगा। इसी भाव मे श्री वीरसेनाचार्य जी ने घोषणा की है कि—'सिद्धा ण जीवाः।'—

इस प्रसंग में 'जीवाश्च' सूत्र क्यों कहा और अचेतन का नामकरण भी अजीव क्यों किया? इसका खुलासा हम पहिले ही कर चुके हैं। लोग इस विषय को लोकैषणा या पक्ष-व्यामोह का विषय न बनाएँ—यह चिंतन का ही विषय है। इसे पाठक विचारें, हमें आग्रह नहीं। (क्रमशः)

जरा-सोचिए !

१. धर्मलाभ और धर्मवृद्धि :

स्वामी समन्तभद्राचार्य की 'बीजाऽभावे तरोरिव'— बीज के अभाव में वृक्ष की भांति। इस उक्ति को प्रस्तुत करते हुए एक सज्जन ने विचार दिए कि :—

सभी जानते हैं कि वृक्ष की उन्नति तभी होती है जब मूल में बीज हो। पर, अब ऐसा मालूम देता है कि वर्तमान आविष्कारों के युग मे स्वामी समन्तभद्र के वाक्यों को झुठलाने के प्रयत्न भी जारी हैं। बाज लोग धर्मरूपी बीज के अभाव या मुरझाने मे भी 'धर्मवृद्धि' के स्वप्न संजोने मे लगे हैं; पहिले उनमे आचाररूप धर्म स्थापित तो करें। उदाहरण के लिए हमारे यहां मुनियो द्वारा एक वाक्य बोला जाता है—'धर्म बृद्धिरस्तु'—तुम्हारे धर्म में बृद्धि हो। यह वाक्य मुनिवर उस जैन के प्रति बोलते हैं, जो उन्हें नमोऽस्तु अथवा वन्दन करता है। बड़ी अच्छी बात है—आशीर्वाद और वह भी धर्मवृद्धि का। पर, आज के युग मे जब हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह रूपी पापो मे बढ़वारी सुनी जा रही है तब धर्म के बीज कितनो में सुरक्षित होगे ? शास्त्रो में पापों के एकदेश त्यागी को व्रती श्रावक कहा गया है और अष्ट मूलगुण धारण जैन मात्र को अनिवार्य है। ऐसे मे कितने जैन ऐसे है जिनके मात्र रात्रि भोजन का त्याग हो और बिना छना पानी न पीने का नियम हो ? कितनो मे धर्म के बीज ठीक है जिन्हें 'धर्मवृद्धि' जैसा आशीर्वाद दिया जाय ? वे बोले—हम तो सोचते है कि पापवृद्धि के इस युग मे धार्मिक नियम पालकों के सिवाय, जिनके बीज मुरझा रहे हो–उन्हे 'धर्मवृद्धि' जैसा आशीर्वाद न दिया जाकर यदि 'धर्मलाभ' या 'पापहानिर्भवतु' कहा जाय तो उपयुक्त जंचता है। वे आगे बोले—एक बात और है जो श्रावकोचित होगी। वह यह कि–आज के वातावरण के देखते-सुनते हुए जब कतिपय (क्वचित्) मुनियो में शिथिलता के प्रति लोगों में चिंता व्याप्त है; तब श्रावकों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसे मुनियों के प्रति भावना भाएं—'सद्धर्मबृद्धिर्भवतु।' और यह इसलिए कि ऐसे मुनियों में अभी धर्म के ठीक बीज होने की संभावना है और वे बीज, वृक्षरूप में बढ़ सकते हैं। अन्यथा—

अब तो कतिपय मुनियों में शिथिलाचार पनपने की बात कतिपय कट्टर मुनिभक्त भी करने लगे हैं। उन्होंने कहा—हमारे पास कई ऐसे पत्र सुरक्षित हैं (उन्होंने हमें कई मनीषियों के तत्कालीन कई पत्र भी दिखाए) जिनमें मुनियों के शिथिलाचार सम्बन्धी अनेकों उल्लेख हैं।

वे बोले—आप इन्हें छापेंगे ?

हमने कहा—यह तो मुनि-निन्दा है और मुनि-निन्दा के हम सख्त खिलाफ है। हम बरसो मुनि-चरणों में रहे हैं, हम ऐसा करने को तैयार नही।

वे बोले—आपको पत्रो के प्रकाशन में क्या आपत्ति है ? पत्र तो दूसरो के है।

हमने कहा—कुछ भी हो, छापने में धर्म की हँसाई तो है ही। यदि पत्र छापने से सुधार की गारण्टी हो तो हमे छापने मे कोई आपत्ति नही। पर, छापने से सुधार हो ही जायगा यह विश्वास कैसे हो ?

खैर, बहुत चर्चा चली और हमने उनसे कुछ पत्रो की फोटो-स्टेट कापियां ले ली और कह दिया देख लेंगे। पत्र वास्तव मे कट्टर धर्मश्रद्धालु मनीषियों के ही है। एक पत्र तो एक लेख के प्रति एक मुनिराज के उद्‌गारों का है। लिखा है—

"आपने जैन समाज एवं साधुओं में जो शिथिलाचार फैल रहा है इसको अंतरंग से प्रकट किया है। देखिए, नाराज तो होना ही नहीं किन्तु इसका दृढ़ता से प्रतिकार करना होगा। आपने पत्र में असली बातों को लिखा है। पैसा, प्रतिष्ठा और सत्ता मे सभी पागल होने जा रहे हैं, निज धर्म को छोड़कर। इससे धर्म, समाज और साधु परम्परा में समीचीनता नहीं रह रही है। एक नाम के पीछे धर्म और आगम—आर्ष-परम्परा का नाश कर रहे

हैं। ठीक समय पर प्रतिकार कर स्थिर करना जरूरी है। कुंदकुंद आचार्य का मूलाचार और शिवकोटि आचार्य का भगवती आराधना ग्रन्थ उल्लंघन (कर) अपने प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाह रहे हैं।"

इसी विषय की चिंता एकाधिक कई विद्वानों में व्याप्त है, उनके भी पत्र हैं। इस प्रसंग में एक चोटी के विद्वान के लेख को हम अभी पढ़े हैं उसके कुछ अंश इस प्रकार है—

"उन्हें ठण्ड से बचने के लिए हीटर चाहिए, गर्मी के ताप से बचने के लिए पंखा चाहिए, एक स्थान से दूसरे स्थान तक उनके परिग्रह को ढोने के लिए मोटरगाडी चाहिए, ड्राइवर चाहिए। समाज इस सबका प्रबन्ध उनके बिना लिखे-पढ़े ही करती है।"

हम मुनि-निन्दा के भय से अन्य संगीन जैसे पत्रो को जानबूझकर नहीं छाप रहे। हाँ, यदि धर्म-मार्ग मे ऐसी भयावह स्थिति है तो अवश्य ही विचारणीय और प्रतीकार के योग्य है। नेता यदि धार्मिक नेता है तो उन्हें और सभी समाज को भी ऐसे सुधारों के लिए ठोस कदम उठाना चाहिए।

हम यह निवेदन और कर दें कि हम जो कुछ उद्धरण दे रहे हैं, सब उपगूहन और स्थितिकरण की भावना से धर्मबृद्धि के लिए ही दे रहे हैं। कोई हमारे प्रति ऐसे भ्रम में न पड़े या ऐसा ना ही समझे या कहे कि—मुनिपंथ में से किसी की ओर से हमारा कोई बिगाड़ हुआ होगा या हमारे किसी लाभ की प्राप्ति में किसी ने कोई बाधा दी होगी। हम तो सभी मुनियों के भक्त है और हमारी श्रद्धा मे विधि-विधान द्वारा दीक्षित शुद्ध-चारित्र पालक सभी मुनि, साधु है। फलतः हमें मुनियों के आचार के ह्रास या मुनियों में छीना-झपटी जैसी बातें सुनना नही रुचता। अतः कुछ लिख देते हैं। अब तो श्रावकों व मुनियों को स्वयं ही सोचना चाहिए कि पानी कहां मर रहा है? और किसे कहां सफाई करना है। हमें आशा है कि जिस ओर पानी मर रहा होगा उसी पक्ष की ओर से बहाव उबलेगा। तथ्य क्या है? जरा सोचिए!

और यह भी सोचिए कि यदि वास्तव में इस मार्ग में बिगाड़ है तो सुधार के साधन क्या हैं? क्योंकि आज समाज में धर्म-ह्रास के प्रति (प्रकारान्तर से अनजान में ही सही) ऐसा वातावरण बन चुका है जो दिन पर दिन लाइलाज होता जा रहा है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो भँवर में पड़ी धर्म की नैया एक दिन अवश्य डूब जायगी—इसमें सन्देह नहीं।

हमने देखा है कि कई जानकार किन्हीं के दोषों के प्रति आपस मे कानाफूसी करते हुए भी खुलकर कहने की हिम्मत नहीं कर पाते। 'हमसे तो अच्छे हैं' सम्प्रदाय वाले सिर फोड़ने तक को तैयार है। पराधीन या मुंह-देखी करने वाली कोई पत्रिकाएँ असलियत छापेगी क्यों? इस प्रकार जब सभी ओर से सुधार-मार्ग अवरुद्ध हो; तब क्यों न खुले-ताण्डव को बल मिलेगा—जैसा कि मिल रहा है? जरा-सोचिए!

मार्ग दर्शन दें :

हमने एक शोध-संस्थान की परिचय-पत्रिका मे पढ़ा है—

"मनुष्य का हृदय एक अष्टदलाकार सुन्दर पुष्प के समान है। भाषा उसका विकास है और भाव-लिपि उसकी गंध है। द्रव्यलिपि कामधेनु-कल्पवृक्ष है। शब्द नौका है, अर्थ तटभूमि है। अतः अनादि सिद्धान्त के रूप मे प्रसिद्ध एवं सम्पूर्ण आगमों की निर्मात्री, भगवान आदिनाथ के मुख से उत्पन्न वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए। अर्थात् बारहखड़ी सीखकर शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।—धवला"

प्राचीन शास्त्रीय मौलिकताओं, पुरातत्त्व, इतिहास आदि की खोजों के लिए स्थापित किसी शोध-संस्थान द्वारा खोजा हुआ; धवला से उद्धृत उक्त अंश हमें बड़ा हृदय-ग्राही लगा। इससे ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों भी प्राचीन रचनाओं में आज जैसे भाषा-बहाव की जमावट करने में कई आचार्य सिद्ध-प्रज्ञ रहे हैं। और ऐसा सम्भव भी है। क्योंकि उन दिनों कई आचार्य घोर तपस्वी होते थे और उनमें कोई-कोई अपने तप के प्रभाव से भविष्य-ज्ञाता तक बन जाते थे—ऐसी जन-श्रुति है। अतः यह भी संभव है कि धवलाकार भी उसी श्रेणी में रहे हों और तब उनके भावों और लेखनी में आधुनिक (वर्तमान में प्रचलित) शैली, भाषा-भाव की पुट आ गई हो और उन्होंने उस भंगिमा को तत्कालीन प्राकृत या संस्कृत भाषा में गूंथ

दिया हो ! जिसका उपर्युक्त (उद्धृत) सही शब्दार्थ धवला के मूल से उद्धृत किया गया हो। खैर, जो भी हो—हमें आचार्य के प्रति अपूर्व श्रद्धा है, इसलिए पिपासा शान्त करने के लिए हमने धीरे-धीरे कई दिनों तक धवला के पन्नों को पलटा। पर, बहुत खोजने पर भी जब उक्त मूल-अंश न मिल सका और हम निराश रहे, तब हमने शोध-संस्थान के अधिकारी को पत्र लिखा कि वे हमें दिशा-निर्देश दें कि उक्त अंश के मूल को धवला की किस पुस्तक के किस पेज पर देखा जाय ? लेकिन आज तक कोई जवाब न मिला।

अब विद्वानों से प्रार्थना है कि यदि उन्होने धवला के उक्त अंश के मूल को किसी पुस्तक मे देखा हो तो हमे मार्ग दर्शन दें। अन्यथा, उक्त प्रसग मे हमे लिखना पड़ेगा कि ऐसी विसंगति क्यों ? क्या ऐसे शोध-संस्थान हमे सही दिशा दे सकेंगे ? जरा सोचिए !

३. साथ दें और अनुमोदन करें :

आज गुणग्राहकता का स्थान व्यक्तिपूजा ले बैठी—जिसका परिणाम आचार-विचार का ह्रास सन्मुख है। लोग महावीर और कुन्दकुन्दादि को प्रमुखता देकर उनके व्यक्तिगत गान में लगे हैं और उनका मुख्य केन्द्र उन्ही के व्यक्तित्व को महान बताने मात्र मे लग बैठा है। महावीर ऐसे थे, कुन्दकुन्दादि ऐसे थे इसे सब देख रहे हैं। पर, हम कैसे हैं, इसे विरले ही देखते होगे। पूर्वजों के नाम पर कहीं भवन बन रहे हैं, कही संस्थाएं खड़ी हो रही है—पुद्गल के पिण्ड जैसी। लोग इस हेतु बे-हिसाब लाखों-लाख संचय कर रहे हैं और बे-हिसाब खर्च भी कर रहे है। कोई कहे तो, कहीं-कहीं यह भी सुनने को मिल जाय–कि आप क्यों बोलते हैं, आपका क्या खर्च हो रहा है ? तब भी आश्चर्य नहीं। समाज की पूरी आर्थिक, मानसिक और कायिक शक्तियां इसी मे लगी है। हर साल महावीर आदि अनेक महापुरुषों की जयन्तियां मनाई जाती हैं। आए दिन अनेक उत्सव और समारोह होते हैं। लोग फिर भी आगे बढ़ने की बजाय पीछे चले जा रहे हैं—उनके धार्मिक सस्कार पुष्ट होनेके बजाय लुप्त होते जा रहे है ऐसी आवाजें सुननेमें आती हैं और प्रबुद्ध-जन इस पर चिंतित भी दिखाई देते हैं।

स्मरण रहे जैनधर्म व्यक्ति पूजक नहीं, गुण-पूजक है। और इसमें गुण-ग्राहकता का उपदेश है—गुण ग्रहण ही सबसे बड़ी पूजा है, सच्ची पूजा भी यही है और अनेक ईश्वरवाद का मूल भी यही है। बड़ी खुशी की बात है कि आज आचार्य कुन्दकुन्द द्वि-सहस्राब्दी मनाने का उपक्रम जोरों पर है। लोग कुन्दकुन्द के नाम पर स्तूप खड़े कराने, उनके नाम पर संस्थाएँ खड़ी कराने और उनकी रचनाओं को अपनी बुद्धि अनुसार (मनमाने ढंग से भी) अनेक भाषाओं में रूपान्तरित करने-कराने में सक्षम हों, उनमें वैसी बुद्धि और वैसा द्रव्य भी हो, यह सब तो शक्य है। पर, ऐसे कितने लोग हैं जो उन जैसे मार्ग का सही रूप में अनुसरण कर सकें, वैसे ज्ञान और वैसे आचार-विचार में अपने को ढाल सकें ? इसका अनुमान लगाना शक्य नहीं। और आज जैसी स्थिति और मनोवृत्ति में तो यह सर्वथा ही शक्य नही।

हमारा अनुभव है कि आज लोगों में व्यक्ति पूजा की होड़ है। कई लोग महापुरुषों की व्यक्तिगत पूजा के बहाने अपने व्यक्तित्व को पुजाने में लगे हैं। क्योंकि उत्सवों, शताब्दी और सहस्राब्दियों के बहाने अपने व्यक्तित्व को चमकाना सहज है—किन्तु गुणों का ग्रहण करना सहज नहीं। काश, कुन्दकुन्द द्वि-सहस्राब्दि में यह हो सके कि लोग अपने को कुन्दकुन्दवत् सहस्रांश रूप में भी ढाल सकें, उनके उपदिष्ट धर्म के आचरण का सही मायनों मे प्रण ले सकें—धर्म मार्ग में आगे बढ़ सकें—तो हम स्वागत के लिए तैयार हैं। अन्यथा, हम अब तक के ऐसे कई उपक्रमों को तो बाजीगर के तमाशे की भांति ही मानते रहे है। बाजीगर तमाशा दिखाता है, तब लोग खुश होते हैं, प्रशंसा करते है। पर, क्षणभर में बाजीगर के झोली उठाकर जाने के बाद लोग खाली पल्ला चल देते हैं, स्टेज के बांस, बल्ली और शामियाना उनके मालिक उठा ले जाते हैं, माइक वाला पैसे झाड़ चलता बनता है। सभी को जाना था सो चले गए, रह गया तो बस, मात्र धर्म मार्ग का सूनापन।

लोगों ने आज तक कितनी जयन्तियाँ मनाईं, इसकी गिन्ती नही। पच्चीससौवां निर्वाण उत्सव भी मनाया गया था; तब कितनों ने व्रत-नियम लिए और कितनों ने अपने

आचार-विचारों में शुद्धि की? ये सोचने की बात है? और यह भी सोचने की बात है कि कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि के अवसर पर कितने अपने निज का आत्मोद्धार करेंगे? यदि ऐसा हो सके तो अत्युत्तम। हम सबके साथ हैं और हमारा अनुमोदन भी।

४. दि० मुनि का अभाव धर्म को ले डूबेगा :

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ये तीनों जैनधर्म के रूप हैं। और, इस पंचम काल में—यह धर्म केवलियों के बाद, शास्त्र और गुरुओं के कारण अनुभव और आचरण रूप में आता रहा है। अब तक धर्मात्मा जैन-विद्वानों और त्यागियों ने इस धर्म की ज्योति को प्रज्वलित रखा है और श्रावकों की रुचि और आचरण को इस ओर कराने का श्रेय भी इन्हीं को है।

यह सर्वविदित है कि वर्तमान में शास्त्रों के मूल-रूप के पठन-पाठन में ह्रास है और मूल के ज्ञाता विद्वान धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे है तथा कतिपय दिगम्बर त्यागी गुरुओं में ज्ञान की क्षीणता और आचार के प्रति शिथिलता देखी और सुनी जा रही है—अनेक दिगम्बर व्रतधारी भी स्वच्छन्द आचार-विचार बनाने और तदनुरूप प्रचार करने मे लीन हैं। इसको जानते-देखते हुए भी वर्तमान अनेक विद्वान और श्रावक उनकी इन प्रवृत्तियों का पोषण करते देखे जाते है। ऐसा क्यों?

हम ऐसा समझे हैं कि अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार विद्वान और श्रावक दोनों अपने-अपने अभावों की पूर्ति मे लगे हैं—कोई धनाभाव को निरस्त करने और यथेष्ट की प्राप्ति मे और कोई यश-प्रतिष्ठा की पूर्ति में। धर्म और धर्म के स्रोत व धर्म के मूर्तरूप—गुरुओं के स्वरूप की रक्षा का किसी को ध्यान नहीं। पर—

निश्चय समझिए कि यदि दिगम्बर गुरु के आचार-विचार में बदलाव आता है तो दिगम्बर-धर्म की खैर नहीं—उसका लोप अवश्यम्भावी है।" बौद्धधर्म के भारत से पलायन और उस धर्म में शिथिलता आने के मूल कारणों में भी उनके साध्वाचार में शिथिलता आना ही मुख्य कारण था—यह हम देख ही चुके हैं। जैनधर्म के भट्टारकों के ह्रास का कारण भी यही है।

इस प्रसंग में कहीं-कहीं अब स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि सुधार सहज-साध्य नहीं। कुछ धर्मात्मा, विद्वानों, त्यागियों व श्रावकों व श्राविकाओं को संगठित होकर शिथिलाचारों की छानबीन कर, सब प्रकार के प्रयत्न कर—बिना भेद-भाव के, शिथिलाचारियों के शिथिलाचार को परिमार्जन कर उनका धर्म में स्थितिकरण करना होगा। अतः धर्म प्रेमी जन दिगम्बरत्व के शुद्ध-स्वरूप को समझ, दिगम्बर धर्म की रक्षा में सन्नद्ध हों—ऐसी हमारी प्रार्थना है। सुधार मार्ग में पक्ष या भय को स्थान नहीं। सच पूछें तो पक्ष और भय ने ही मूल-दिगम्बरत्व और उसके स्वरूप पर कुठाराघात किया है। वरना, मन्दिरों और धर्मशालाओं के होते, गृहस्थों के बीच—उनकी सुख-सुविधा युक्त कोठियों को मुनि व त्यागी अपना आवास क्यो बनाते? शीतोष्ण परीषह सहने के स्थान पर शीत-निवारक हीटर और उष्णतापहारी कूलर—एयरकण्डीशनर का उपयोग क्यों करते अथवा क्यों ही दंश-मशक-परीषहहारी—मच्छरदानी व कछुआ छाप तक का उपयोग करते? जो बराबर देखने में आ रहा है। क्या मुनिधर्म यही है? क्या, जैन और जैनेतर साधु मे वस्त्र-निर्वस्त्र होने मात्र का ही अन्तर है, या और कुछ भी? जरा सोचिए!

समाज मैं स्थितिपालक और सुधारवादी जैसे दो धड़े हैं। हमारी श्रद्धा उन स्थितिपालकों में है जो प्राचीन और धार्मिक आचार परम्पराओ को कायम रखने के पक्षपाती हों। फलत: हम मुनियों को निर्दोष २८ मूलगुणों के पालक-रूप—प्राचीन स्थिति में देखना चाहते हैं—उन्हें शास्त्र-विहित आचार से तनिक भी विचलित नही होना चाहिए। ऐसे में यदि आचार-विचलित मुनियों को पूर्वाचार में लाने जैसी सुधार सम्बन्धी हमारी बात मात्र से कोई हमें सुधारवादी समझ बैठे तो हम क्या करें? क्या, इन मायनों मे हम स्थितिपालक नही? जरा-सोचिए!

—सम्पादक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ... ... ३-०(

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-०(

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-०

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-०

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-०

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-०

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST